THE NYĀYASĀRA OF BHĀSARVAJÑA

- A Critical and Analytical Study

L. D. SERIES - 113

GENERAL EDITORS
DR. H. C. BHAYANI
DR. RAMESH S. BETAI

BY :
DR. GANESHILAL SUTHAR
M.A., Ph.D

L. D. INSTITUTE OF INDOLOGY, AHMEDABAD-380 009

THE NYĀYASĀRA OF BHĀSARVAJÑA
– A Critical and Analytical Study

L. D. SERIES - 113
GENERAL EDITORS
DR. H. C. BHAYANI
DR. RAMESH S. BETAI

BY :
DR. GANESHILAL SUTHAR
M.A., Ph.D.

L. D. INSTITUTE OF INDOLOGY, AHMEDABAD-380 009

Published by :
Dr. R. S. Betai
Hon. Prof. and
Director-in-Charge
L. D. Institute of Indology
Ahmedabad-380 009.

PRICE : RUPEES 150/-

Oct., 1991

FIRST EDITION

Printed by :
Shri Swaminarayan Mudran Mandir,
Pro. K. Bhikhalal Bhavsar,
21, Purushottamnagar, New Wadaj,
Ahmedabad-380 013.

भासर्वज्ञ के 'न्यायसार'

का

समालोचनात्मक अध्ययन

कर्ता :

डा. गणेशीलाल सुथार
एम.ए., पीएच.डी.

लालभाई दलपतभाई भारतीय प्राच्यविद्यामन्दिर, अमदावाद-९

FOREWORD

We are so very happy to place in the hands of scholars and researchers, a critical and analytical study of the 'Nyāyasāra' of the renowned author Bhāsarvajña who is one of the foremost authorities on Nyāya. He has raised and answered fully so many subtle questions. His style is fairly simple though deep in content. He rises to the highest philosophical heights, with Nyāya in which he reveals his full mastery.

The present work is a Ph.D. Thesis. It was received by us for printing several years back but could not be taken up for printing due to several reasons. However, the present editors are happy the Thesis is being published.

It is sincerely hoped that the work will be accorded a welcome that other research publications had in the world of scholars, researchers and academicians at large.

Editors

प्राक्कथन

एम.ए. (संस्कृत) के छात्र रूप में भारतीय दर्शनशास्त्र का अध्ययन करते समय न्यायवैशेषिक दर्शन के प्रति मेरी विशेष रुचि जागरित हुई। तत्पश्चात् एम. ए छात्रों को 'न्यायभाष्य' और 'प्रशस्तपादभाष्य' पढ़ाते रहने से न्यायवैशेषिक के प्रति मेरी रुचि इतनी बढ़ी कि इसी दर्शन के किसी विषय पर शोधकार्य करने का निश्चय किया। म. म. गोपीनाथ कविराज का 'Gleanings from the History and Bibliography of the Nyāya–Vaiśeṣika Literature' यह ग्रन्थ पढ़ते समय निम्नलिखित पंक्तियों ने मेरा ध्यान आकृष्ट किया–"As far as our present knowledge extends it may be said with justice that Bhāsarvajña's Nyāyasāra stands unique in the history of the Mediaeval School of Nyāya Philosophy in India. But the work has not been thoroughly examined yet,......, ..." भारतीय दर्शन के अन्यान्य ग्रन्थों तथा लेखों में भी आचार्य भासर्वज्ञ के अभिनव दृष्टिकोण की विशेष चर्चा पढ़ने को मिली। इस अध्ययनक्रम के पश्चात् मैंने "भासर्वज्ञ के 'न्यायसार' समालोचनात्मक अध्ययन" यह विषय शोध के लिये चुना।

जहाँ तक इस विषय पर किये गये अध्ययन का प्रश्न है, भारतीय दर्शन तथा न्यायशास्त्र के इतिहास–सम्बन्धी ग्रन्थों में न्यायसार की विषयवस्तु तथा भासर्वज्ञ का सामान्य परिचय प्राप्त होता है। प्रो. देवधर तथा श्री वी. पी. वैद्य ने स्वसम्पादित न्यायसार के संस्करणों में 'नोट्स' संयोजित किये हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित कतिपय लेखों में भासर्वज्ञ के काल तथा उनकी कृतियों पर प्रकाश डाला गया है। कृत और क्रियमाण अनुसन्धानसम्बन्धी प्राप्य सूचनाओं और न्यायवैशेषिक के विद्वानों से विचारविमर्श से मुझे विदित हुआ है कि प्रस्तुत विषय पर इस रूप में कोई अनुसन्धान नहीं किया गया है। अपि च, उपर्युक्त लगभग समस्त सामग्री न्यायसार की स्वोपज्ञ विवृति 'न्यायभूषण' के प्रकाशन से पहिले लिखी गई थी, अतः भासर्वज्ञ के मत का सम्यक् विवेचन नहीं हो सका। 'न्यायभूषण' के प्रकाशन के पश्चात् इस विषय पर शोध की महती आवश्यकता प्रतीत हुई। इसी दिशा में यह लघु प्रयास है।

यह शोधप्रबन्ध नौ विमर्शों में विभक्त है। 'परिचय' नामक प्रथम विमर्श में आचार्य भासर्वज्ञ के नाम, देश–काल, जयन्त भट्ट, वाचस्पति मिश्र तथा भासर्वज्ञ के पूर्वापरकालवर्तित्व, विद्यास्रोत, व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने तथा कृतिपरिचय देने का प्रयास किया गया है।

'प्रमाणसामान्यलक्षण' नामक द्वितीय विमर्श में प्रमाणलक्षण, संशय तथा विपर्यय का विवेचन किया गया है। इसी विमर्श में ऊह और अनध्यवसाय का संशय में अन्तर्भाव, प्रमाणों का सम्प्लव तथा व्यवस्था आदि विषयों का विवेचन किया गया है।

'प्रत्यक्षप्रमाण' नामक तृतीय विमर्श में भासर्वज्ञसम्मत प्रत्यक्षलक्षण, प्रत्यक्ष शब्द के व्युत्पत्तिनिमित्त तथा प्रवृत्तिनिमित्त का भेद, निर्विकल्पक-सविकल्प भेद, आर्षज्ञान का योगिप्रत्यक्ष में अन्तर्भाव, समवाय का यौक्तिक प्रत्यक्षत्व, द्रव्यादिप्रत्यक्ष आदि का विवेचन किया गया है।

'अनुमान प्रमाण' नामक चतुर्थ विमर्श में अनुमान के सौत्र लक्षण के सम्बन्ध में भासर्वज्ञमत का प्रतिपादन करते हुए भासर्वज्ञसम्मत अनुमानलक्षण का विवेचन किया गया है। इसी विमर्श में व्याप्तिस्वरूप, व्याप्तिग्रहोपाय, अनुमान के भेद, प्रतिज्ञादि पांच अवयव, दृष्टान्ताभासों तथा हेत्वाभासों का विवेचन करते हुए भासर्वज्ञ के वैशिष्ट्य का दिग्दर्शन किया गया है।

'कथानिरूपण तथा छल-जाति-निग्रहस्थाननिरूपण' नामक पंचम विमर्श में वाद, जल्प, वितण्डा, और छल का विवेचन किया गया है। इस विमर्श में जातिभेदों तथा निग्रहस्थानों का निरूपण किया गया है।

'आगमप्रमाणनिरूपण' नामक षष्ठ विमर्श में आगम प्रमाण के लक्षण, उसके भेद आदि का प्रतिपादन किया गया है। इसी विमर्श में भासर्वज्ञमतानुसार उपमान के पृथक् प्रामाण्य का निराकरण प्रस्तुत कर उसकी समीक्षा की गई है।

'प्रमेयनिरूपण' नामक सप्तम विमर्श में प्रमेयविशेष का लक्षण देते हुए द्वादश प्रमेयों का संक्षेप में निरूपण किया गया है। भासर्वज्ञसम्मत प्रमेयचातुर्विध्यविभाग तथा आत्मसिद्धि आदि का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

'अपवर्गनिरूपण' नामक अष्टम विमर्श में भासर्वज्ञमतानुसार अपवर्गस्वरूप का निरूपण तथा उसकी समीक्षा की गई है।

'परवर्ती ग्रन्थकारों पर भासर्वज्ञ का प्रभाव' नामक नवम तथा अन्तिम विमर्श में परवर्ती दार्शनिकों पर भासर्वज्ञ के प्रभाव का विवेचन किया गया है।

अन्त में उपसंहार के रूप में भासर्वज्ञाचार्य की विशेषताओं का दिग्दर्शन करते हुए उपलब्धियों का उल्लेख किया गया है।

वैदिक विज्ञान, साहित्य, व्याकरण तथा भारतीय दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान्, परम पूज्य गुरुवर्य परिव्राजक श्री सुरजनदासजी स्वामी के चरणों में मैं प्रणतिपूर्वक कृतज्ञताज्ञापन करता हूँ, जिनकी प्रेरणा से ही भारतीय दर्शन के अध्ययन में मेरी प्रवृत्ति हुई। आपके कुशल निर्देशन से ही मैं इस शोधकार्य को सम्पन्न कर सका हूँ। विश्वविद्यालय-सेवा से निवृत्त होने के पश्चात् वैदिकविज्ञानसम्बन्धी लेखनात्मक कार्य में अत्यधिक व्यस्त होने पर भी अपना अमूल्य समय देकर मेरी शोधकार्य-सम्बन्धी समस्याओं का समाधान किया है। एतदर्थ मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

वाराणसी-प्रवास-काल में मुझे भारतीय दर्शनशास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान् परम पूज्य उदासीनवर्य स्वामी योगीन्द्रानन्दजी के चरणों में बैठकर न्यायसम्बन्धी अनेक समस्याओं के समाधान का सौभाग्य प्राप्त हुआ है । 'अद्वैतसिद्धि' के सम्पादनकार्य में अत्यधिक व्यस्त होने पर भी उन्होंने अपना अमूल्य समय दिया । एतदर्थ मैं पूज्य स्वामीजी महाराज का अत्यन्त आभारी हूँ । न्यायशास्त्र के उद्‌भट विद्वान् परम आदरणीय प्रो. बद्रीनाथजी शुक्ल के चरणों में बैठकर मुझे-'न्यायभूषण', 'न्यायमुक्तावली,' 'न्यायतात्पर्यदीपिका' आदि ग्रन्थों के कठिन स्थलों के अभिप्राय समझने का सुन्दर अवसर प्राप्त हुआ है । एतदर्थ मैं उनका हृदय से आभारी हूँ ।

अपि च, प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के लिये सामग्री-संग्रह हेतु पटना, कुरुक्षेत्र आदि स्थानों की यात्रा करने तथा वहां न्यायवैशेषिक के अधिकारी विद्वानों से विचारविमर्श करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है ।

स्नेहमूर्ति स्वर्गीय डॉ. दशरथ शर्मा (भूतपूर्व प्रोफेसर, इतिहास-विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर), आदरणीय डॉ. रसिक विहारी जोशी (हमारे भूतपूर्व अध्यक्ष तथा वर्तमान प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) ने शोधकार्य के लिये प्रेरणा और सुझाव दिये । एतदर्थ मैं उनका आभारी हूँ । श्रद्धेय डॉ. नागरमल सहल (अध्यक्ष, अंग्रेजी-विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय) तथा आदरणीय डॉ. राजकृष्ण दूगड़ (प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय) की निरन्तर प्रेरणा व सहयोग के लिये मैं अत्यन्त आभारी हूँ ।

केन्द्रीय ग्रन्थालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी पुस्तकालय, श्री उदासीन संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी, श्री गोयनका संस्कृत पुस्तकालय, वाराणसी, केन्द्रीय ग्रन्थालय, काशी हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी: श्री सुमेर सार्वजनिक पुस्कालय, जोधपुर, केन्द्रीय ग्रन्थालय, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर तथा राजस्थान प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान, जोधपुर में शोधोपयोगी सामग्री के लिये अध्ययन का अवसर प्राप्त हुआ है । इन सभी संस्थाओं के अधिकारियों के सहयोग के लिये मैं उनके प्रति आभारी हूं । अन्त में मैं उन सभी कल्याण-मित्रों के प्रति कृतज्ञताज्ञापन करता हूं जिनसे मुझे शोधकार्य-विधि में सहायता प्राप्त हुई है ।

— गणेशीलाल सुथार

संकेत-सूची

न्या.भू.	—	न्यायभूषण
न्या.मु.	—	न्यायमुक्तावली
न्या.वा.	—	न्यायवार्तिक
न्या.सू.	—	न्यायसूत्र
पा.सू.	—	पाणिनिसूत्र
प्र.पं.	—	प्रकरणपञ्चिका
प्र.पा.भा.	—	प्रशस्तपादभाष्य
JBRS	—	The Journal of the Bihar Research Society

अनुक्रमणिका

प्रथम विमर्श

परिचय

कुम्कुम–केसर को प्ररोहस्थली काश्मीर प्रदेश जिस प्रकार अपनी अनुपम प्राकृतिक सुषमा के कारण पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र है, उसी प्रकार प्राचीन कालमें बौद्ध, ब्राह्मण, न्याय, शैव प्रत्यभिज्ञादर्शन तथा अन्य दर्शनसम्प्रदायों के परिपक्व चिन्तन की दृष्टि से प्रज्ञावानों के लिये स्पृहणीय रहा है। न्यायशास्त्र के विकास के मध्यकालीन युगमें वहां बौद्ध और ब्राह्मण न्याय की साथ-साथ समृद्ध होने लगे। काश्मीर न्यायसम्प्रदाय के नैयायिकोंने एकान्तः वात्स्यायन और वार्तिककार का अनुगमन नहीं किया है, उनमें स्वतन्त्र चिन्तनप्रवृत्ति का विकास हुआ। उस सम्प्रदाय में आचार्य भासर्वज्ञ के पूर्ववर्ती नैयायिक भट्ट साहट, जयन्त भट्ट, विश्वरूप, प्रवर आदि थे। उनके साथ आचार्य भासर्वज्ञ का सम्बन्ध अब तक स्पष्टतया परिज्ञात नहीं हो पाया है। न केवल काश्मीर न्यायसम्प्रदाय में, अपितु मध्यकालीन समस्त नैयायिको में आचार्य भासर्वज्ञ का क्रान्तिकारी नैयायिक के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुरु,[1] आचार्य,[2] परमाचार्य तार्किकसार्वभौम,[3] वार्तिककृत्[4], भूषणकार,[5] न्यायालङ्करण[6], न्यायसारतर्कसूत्रविधायक,[7] शास्त्रकारचक्रचक्रवर्ती,[8] पाशुपताचार्य,[9]—इन सन्मानसूचक

---

1. (अ)...इत्याह नो गुरुः। —न्यायमुक्तावली, प्रथम भाग, पृ २३
   (ब) सम्यक्पदादि वदति स्म गुरुः कृपालुः ॥—वही, पृ. ११४
2. न्यायमुक्तावली, प्रथम भाग, पृ. ५७,८०,१०३,१७६ इत्यादि.
3. परमाचार्यतार्किकसार्वभौमश्रीभासर्वज्ञप्रणीते न्यायसारप्रकरणे आगमपरिच्छेदः समाप्तः।— न्यायसार, निर्णयसागर संस्करण, १९१०, पृ. ३२
4. तदेतद्विचारासहतयातितुच्छमितिज्ञापनार्थं प्रतिज्ञामात्रमेवात्र वार्तिककृता कृतं सम्यगिति।— न्यायसारविचार, पृ. २८.
5. भूषणकारस्तु तथाभूतार्थनिश्चयस्वभावत्वं सम्यक्त्वम्।—न्यायतात्पर्यदीपिका, पृ. ५६.
6. न्यायालङ्करणत्रिलोचनवचस्पत्याह्वयान् हेलया।—ज्ञानश्रीनिबन्धावलि, पृ. १५६.
7. भासर्वज्ञो न्यायसारतर्कसूत्रविधायकः। —षड्दर्शनसमुच्चय (राजशेखरकृत)
8. ...शास्त्रकारचक्रचक्रवर्ती श्रीभासर्वज्ञाचार्यः प्रथमपद्येन प्रतिजानीते।
   —न्यायतात्पर्यदीपिका, पृ ४४.
9. पाशुपताचार्यश्रीभासर्वज्ञप्रणीतन्यायभूषणोपलब्ध्या अनया लोकोत्तरमानन्दसन्दोहमनुबोभवीत्ययम्।
   —म.म. गोपीनाथ कविराज—न्यायभूषण का उपोद्घात,

भान्या-१

पदों से न्यायसार के टीकाकार तथा अन्य तार्किकों ने उनका समादर किया है। परिचय नामक प्रथम विमर्श में उन्हीं के नाम, देश, काल, विद्यास्तोत्र, व्यक्तित्व और कृतित्व का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करने का प्रयाय किया जा रहा है।

नाम

भासर्वज्ञ नाम अत्यन्त विलक्षण प्रतीत होता है। वास्तव में उनका पूरा नाम भावसर्वज्ञ था। गणकारिका की प्रस्तावना में चिमनलाल डी. दलाल महोदयने यह उल्लेख किया है कि वेरावल प्रशस्ति (वलभी संवत् ८५०) और अचलगढ़ शिलालेख में उल्लिखित पाशुपत आचार्यो के भावबृहस्पति, भावज्ञ और भावशंकर आदि नामों से यह ज्ञात होता है कि 'भाव' शब्द पाशुपत आचार्यो के नाम से पहिले प्रयुक्त होता था।[1] अपि च, न्यायभूषण के प्रथम परिच्छेद के अन्त में भावसर्वज्ञ नाम का उल्लेख किया गया है।[2] अतः यह प्रतीत होता है कि भा' भाव का संक्षिप्त रूप है। भासर्वज्ञ नाम ही लोकप्रिय है, क्योंकि न्यायसार के टीकाकारों तथा अन्य ग्रन्थकारों ने इसी नाम का प्रयोग किया है।

देश

संस्कृत–वाङ्मय के अधिकांश प्राचीन विद्वानों की यह प्रवृत्ति रही है कि उन्हों ने अपने ग्रन्थों में देश-काल का उल्लेख नहीं किया है। भासर्वज्ञ भी उनके अपवाद नहीं हैं। परन्तु उनके देश के विषय में विद्वानों की प्रायः सुनिश्चित धारणा है कि वे काश्मीर प्रदेश के निवासी थे।[3] उनकी शिवभक्ति[4] से भी इसकी पुष्टि

---

1. गणकारिका, भूमिका, पृ. १

2. इति श्रीमदाचार्यभावसर्वज्ञविरचिते। न्यायभूषणे संग्रहवार्तिके प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः।
—न्यायभूषण, पृ. १८७.

3. (अ) The curtain rises with the appearance on the scene of Bhāsarvajña, the author of Nyāyasāra, in Kashmir,...Kaviraj, Gopinath, Gleanings from the History and Bibliography of the Nyāyavaiśeṣika Literature, P. 2

   (ब) He seems to me to have been a native of Kashmir. -Vidyābhuṣaṇa, S.C. -A History of Indian Logic, P. 357.

   (स) ...Bhāsarvajña, who very probably belonged to Kashmir,... -Bhattacharya, D. C. -History of Navya-Nyaya in Mithila. P. 37.

   (द) भासर्वज्ञ प्रायः काश्मीरी ब्राह्मण थे। —न्यायदर्शनपरिचय, प्रथमखण्ड, पृ १७.

4. (अ) प्रणम्य शम्भुं जगतः पतिं परम्।—न्यायसार, मंगलाचरण-श्लोक

   (ब) तस्माच्छिवदर्शनान्मोक्ष इति।—न्यायसार, पृ. ३९.

है, क्योंकि उन दिनों काश्मीर में शैवमत का प्रचुर प्रचलन था ।[1] प्रो. राधाकृष्णन् ने उनको काश्मीर शैवसम्प्रदाय से सम्बद्ध बतलाया है ।[2] उनकी काश्मीर निवासिता की पुष्टि हेतु प्रमाण देते हुए प्रो. विद्याभूषण ने कहा है कि काश्मीर-निवासी सर्वज्ञमित्र (७७५ ई.) और सर्वज्ञ देव (१०२५ ई.) के नाम से अत्यधिक साम्य के कारण भासर्वज्ञ भी काश्मीर निवासी थे, ऐसा प्रतीत होता है ।[3] यह भी मुझे ज्ञात हुआ है कि एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता के ग्रन्थालय में किसी ग्रन्थ में 'काश्मीर-जातेन' ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भासर्वज्ञ काश्मीरी थे ।

काल

भासर्वज्ञ और वाचस्पति मिश्र के पूर्वापरकालवर्तित्व के विषय में विद्वानों में मतभेद है, जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा, परन्तु स्वयं भासर्वज्ञ का काल दसवीं शताब्दी है, यह निसन्दिग्ध है । प्रो. राधाकृष्णन्,[4] महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण,[5] प्रो. दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य,[6] महामहोपाध्याय विन्ध्येश्वरीप्रसाद, श्री सी. डी. दलाल[7] आदि विद्वानों ने भासर्वज्ञ का काल दसवीं शताब्दी माना है । स्वामी योगीन्द्रानन्द ने भासर्वज्ञ के काल के विषय में म.म. विद्याभूषण के मत का समर्थन करते हुए निम्नलिखित तर्क दिये हैं[8]—

(१) आचार्य उदयन का समय ९८४ ई. है । उसके द्वारा आलोचित बौद्ध दार्शनिक ज्ञानश्री का समय ९६० ई. है । ज्ञानश्री के द्वारा समालोचित भासर्वज्ञ का काल ९३० ई. है ।

(२) ८२२ ई. में विद्यमान श्री मण्डनमिश्र का खण्डन करते हुए कर्णकगोमी का समय नवम शताब्दी का अन्तिम भाग होना चाहिए । कर्णकगोमी द्वारा सांख्याचार्य माधव को दिये गये सांख्यनाशक विशेषण पद का विवरण देते हुए से भासर्वज्ञ कहते है— 'माधवमताभ्युपगमे तु सांख्यनाश एव' (न्यायभूषण, पृ. ५६९) । अतः उससे परवर्ती यह आचार्य दसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में होना चाहिए ।

---

1. (अ) न्यायसार, (मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियण्टल सीरीज, १९.६१) English Intro, P. 7.
   (ब) He shows a marked Shaiva influence: and so it is further premised of him that he was a native of Kashmir where Shaiva-belief was always strong —Nyāyasāra (Poona, 1922), Introduction, P. 4.
2. He is a Śaivite, perhaps of the Kashmir Sect,...
3. A History of Indian Logic, P. 357.—Indian Phil., Vol. II. p. 40.
4. Indian Philosophy, Vol. II, P. 40.
5. A History of Indian Logic, P. 358.
6. History of Navya-Nyāya in Mithila, P. 37.
7. गणकारिका, भूमिका, पृ. १.
8. न्यायभूषण, प्राक्कथन, पृ. ६,७.

भासर्वज्ञ ने न्यायभूषण में दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और प्रज्ञाकरगुप्त इन बौद्ध दार्शनिकों के मतों का विस्तारपूर्वक निराकरण किया है। महापाल के समय, जिनका देहावसान ९४० ई. में हुआ, प्रज्ञाकर गुप्त विद्यमान थे।[1] भासर्वज्ञ के सिद्धान्तों का सर्वप्रथम खण्डन करनेवाले बौद्धों में ज्ञानश्री थे।[2] उनको अतीश अथवा दीपंकर श्रीज्ञान (९८२–१०५५ ए. डी.) का समकालवर्ती बतलाया है।[3] अतः यह कहा जा सकता है कि भासर्वज्ञ के काल की उत्तरसीमा दसवीं शताब्दी से आगे नहीं हो सकती। भारतीय दर्शन के इतिहासविदों के पूर्वसंकेतित मतों का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि उनमेंसे कतिपय भासर्वज्ञ का काल दसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानते हैं और कुछ अन्य दसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध। परन्तु इतना निश्चित है कि भासर्वज्ञ का काल दसवीं शताब्दी है और इसके मध्यकाल में वे विद्यमान थे।

भासर्वज्ञ और जयन्त का पौर्वापर्य

भासर्वज्ञ जयन्तभट्ट के परवर्ती थे। उनके परवर्तित्व को प्रमाणित करने के लिये अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। उनमें से कतिपय यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं :

१. भासर्वज्ञ यदि जयन्त के परवर्ती न होते, तो जयन्त त्रिप्रमाणवादनिरूपण के प्रसंग में अवश्य भासर्वज्ञ का मत देकर खण्डन करते, परन्तु जयन्त ने केवल सांख्य की चर्चा की है – त्रीणि प्रमाणानीति सांख्याः।[4]

२. दिक्काल के समर्थन[5] के अवसर पर जयन्त ने दिक्काल की भासर्वज्ञकृत अवहेलना का खण्डन नहीं किया है, अतः भासर्वज्ञ परवर्ती थे।

३. यदि भासर्वज्ञ जयन्त के पूर्ववर्ती होते, तो उपमाननिरूपण के प्रसंग में जयन्त भासर्वज्ञकृत उपमान प्रमाण की अवधीरणा के अपराध को क्षमा न करते।

४. 'नित्यं सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षे व्यज्यते' (न्या. भा. १।१।२२) इस न्यायभाष्यकार लक्षित पक्ष को जयन्त ने वेदान्तियों का ही बतलाया है—'तत्र वेदान्तवादिन आहुः'[6]। मोक्ष में नित्यसुखाभिव्यक्ति-पक्ष को मानने वाले भासर्वज्ञ के मत का जयन्त ने निर्देश नहीं किया है, अतः भासर्वज्ञ की परवर्तिता सिद्ध होती है।

---

1. Vidyabhusana, S. C. –A History of Indian Logic, P. 336.
2. Bhattacharya, D. C. –History of Navya–Nyāya in Mithila, P. 36.
3. Ibid, P. 15.
4. न्यायमंजरी, पूर्वभाग, पृ. २६.
5. तस्मादेकोऽप्ययं कालः क्रियाभेदाद्विभिद्यते।
एतेन सदृशन्यायान्मन्तव्या दिक्समर्थिता ॥—न्यायमंजरी, पूर्वभाग, पृ. १२७.
6. न्यायमंजरी, उत्तरभाग, पृ. ७७.

५ भासर्वज्ञ ने अनेक स्थलों पर जयन्त के मतवादों का अनुवाद किया है। । उदाहरणार्थ एक प्रस्तुत हैं।

'यथा बाह्यकेलिप्रदेशादावूर्ध्वत्वविशिष्टधर्मिदर्शनात् पुरुषेणानेन भवितव्यमिति प्रत्ययः ।'[1]

'यथा बाह्यालिप्रदेशे पुरुषेणानेन भवितव्यमित्यूहः ।'[2]

भासर्वज्ञ ने जयन्त के मतवादों का अनुवाद ही नहीं किया है, अपितु ऐसा प्रतीत होता है कि निराकरण भी किया है। जैसे—'तत्पूर्वकमित्यादि, अनुमानमिति लक्ष्य-निर्देशः, तत्पूर्वकमिति लक्षणम्, [3] इस वार्तिककारादि तथा जयन्तमत का निराकरण करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है—' अत्र तत्पूर्वकमित्येतावदेवानुमानलक्षणमिति न बुध्यामहे।' ।[4]

६. भासर्वज्ञने जयन्ताभिमत सामग्रीकारणतावाद को उद्धृत किया है,[5] इससे भी भासर्वज्ञकी परिवर्तिता सिद्ध होती है।

वाचस्पति और भासर्वज्ञ का पौर्वापर्य

भासर्वज्ञ वाचस्पति के पूर्ववर्ती थे या परवर्ती, यह विवादास्पद विषय है। इस विषय को लेकर दर्शनेतिहासविदों में दो मान्यताएं हैं। वाचस्पति मिश्र द्वारा 'न्यायसूचीनिबन्ध' में उल्लिखित 'वस्वंकवसुवत्सरे'[6] (८९८) में वत्सर को कतिपय विद्वान् शक संवत् मानते हैं और कुछ विक्रम संवत्। वस्वंकवसुवत्सर के बारे में इन दो मान्यताओं के कारण वाचस्पति के काल को लेकर दो मान्यताएं प्रचलित हैं। इन दो मान्यताओं तथा अन्य प्रमाणों के आधार पर भासर्वज्ञ और वाचस्पति के पूर्वापरकालवर्तित्व के विषय में भी दो मत प्रचलित हैं। परवर्ती दर्शनेतिहासविदों के शोध के अनुसार वाचस्पति भासर्वज्ञ के परवर्ती हैं, परन्तु अभी तक इस विषय में वे एक सुस्थिर मान्यता नहीं बना पाये हैं। अतः दोनों मान्यताओं का यहां संक्षेप से अलग अलग उल्लेख किया जा रहा है—

---

1. वही, पृ. १४५.
2. न्यायभूषण, पृ. २०.
3. न्यायमंजरी, पूर्वभाग, पृ. ११३.
4. न्यायभूषण, पृ. १९१.
5. अन्ये तु वैलक्षण्यमात्रेण कारकाणाम् अतिशयानुपपत्ति मन्यमानाः सामग्र्या एव साधकतमत्वमाहुः ।—न्यायभूषण, पृ. ६०.
6. न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे ।
   श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वंकवसुवत्सरे ॥—न्यायसूचीनिबन्ध.

वाचस्पति भासर्वज्ञ के पूर्ववर्ती

प्रो० दासगुप्त[1], महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण[2] प्रो० राधाकृष्णन्[3] म० म० गोपीनाथ कविराज,[4] प्रो० सूर्यनारायण शास्त्री तथा प्रो० कुन्हन राजा,[5], प्रो० सात्कांड़ मुखोपाध्याय,[6] डॅा धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री[7] आदि विद्वानों ने वाचस्पति मिश्र द्वारा उल्लिखित वत्सर को विक्रम संवत् माना है और तदनुसार ८४१ इ प्राप्त होता है। भासर्वज्ञ का काल दसवीं शताब्दी निश्चित है, अतः इन विद्वानों के अनुसार भासर्वज्ञ वाचस्पति से परवर्ती सिद्ध होते हैं।

इन विद्वानों का मुख्य तर्क यह है कि उदयन ने लक्षणावली में 'तर्काम्बरांक'[8] ऐसा निर्देश कर लक्षणावली का रचनाकाल ९०६ शक संवत् बतलाया है। वाचस्पति के वस्वंकवसुवत्सर को ८९८ शक संवत् मानने पर दोनों समकालीन हो जाते हैं, जो कथमपि संभव नहीं। क्योंकि उदयनाचार्य ने वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका पर परिशुद्धि टीका लिखी है, अतः दोनों के बीच पर्याप्त समय का अन्तराल होना चाहिए।[9]

(२) ८९८ विक्रम संवत् मानने पर वाचस्पति का परिवर्ती बौद्ध रत्नकीर्ति उदयन से लगभग १०० वर्ष प्राचीन हो जायेगा। उदयन ने बौद्धों पर अन्तिम प्रहार किया, पण्डितों में प्रचलित इस मान्यता के भी यह अनुकूल पड़ता है।[10]

(३) स्वामी योगीन्द्रानन्द का कथन है कि यद्यपि भासर्वज्ञ ने वाचस्पति का नामोल्लेख नहीं किया है, तथापि उनके मतकी चर्चा की है। अपनी इस मान्यता की सम्पुष्टि में स्वामीजी ने न्यायभूषण की भूमिका में न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका और न्यायभूषण दोनों से कतिपय समानविषयक उद्धरण दिये हैं।[11] निदर्शन के लिये दो

---

1. A History of Indian Philosophy, Vol. I, P. 307.
2. A History of Indian Logic, P. 133.
3. Indian Philosophy, Vol. II, p. 40.
4. Gleanings from the History and Bibliography of the Nyāya-Vaiśeṣika Literature, P. 14.
5. The Bhāmati of Vācaspati, Introduction, P. ix.
6. The Buddhist Philosophy of Universal Flux, P. 33.
7. भारतीय दर्शनशास्त्र—न्यायवैशेषिक, पृ. ११९, १२०.
8. तर्काम्बरांकप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः।
   वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम् ॥—लक्षणावली, अंतिम श्लोक.
9. The Bhāmati of Vācaspati, Introduction, P. ix.
10. The Buddhist Philosophy of Universal Flux, P. 33.
11. न्यायभूषण, प्राग्बन्ध, पृ. १०, ११.

यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं :

१. "लक्षणस्य व्यतिरेकिहेतुत्वं प्रतिपादितं वाचस्पतिमिश्रेण—'लक्षणं' नाम व्यतिरेकिहेतुवचनम् (ता.टी. पृ. ९८) तदेतदुपन्यस्य न्यायभूषणे 'लक्षणस्यापि निश्चय-साधनत्वेन प्रमाणत्वात्। अथ लक्षणं किं प्रमाणपर्याय उत प्रत्यक्षादीनामन्यतमात्, तदर्थान्तरं वा? केवलव्यतिरेकीत्येके (न्यायभूषण, पृ. ९)।"[1]

२. 'संशयलक्षणे 'अनवधारणात्मकश्च प्रत्ययश्च' (न्या.वा. पृ. १२) इति वार्तिकोक्तस्य विरोधं मिश्र पर्यहार्षीत्—परमार्थतस्तु प्रत्ययशब्दो ज्ञानपर्यायः, ज्ञानत्वं तु सामान्यं संशयादिष्ववस्थतीति न विरोध इति' (ता.टी., पृ २४४)। तन्मनसि कृत्वा प्रोक्तम् 'अनवसाधारणज्ञानं संशयः (न्या. सा. पृ. १२)। तत्र तमेव विरोधमुद्भाव्य तदेव समाधानमभ्यधाद् भासर्वज्ञः—'अनवधारणं च तज्ज्ञानं चेति व्याघातान्न युक्तमिति चेत् न; गोशब्दादिवज्जातिनिमित्तत्वाज्ज्ञानशब्दस्या... सा च ज्ञानत्वजातिर्निश्चयानिश्चयस्वभावासु व्यक्तिषु वर्तते' (न्या भू. पृ १२)।[2]

भासर्वज्ञ वाचस्पति से पूर्ववर्ती

प्रो. दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य आदि विद्वानोंने वाचस्पति के वस्वंकवसुवत्सर को ८९८ शक संवत् माना है। तदनुसार भासर्वज्ञ वाचस्पति के ज्येष्ठ समसामयिक सिद्ध होते हैं। इन विद्वानों के मुख्य तर्क इस प्रकार हैं—

१. काश्मीर नरेश शंकर वर्मा (८८२–९०२ ई.) के समकालीन जयन्त का काल सुनिश्चित है। तात्पर्यपरिशुद्धि में उदयन ने लिखा है कि वाचस्पति ने उपमानफल के सम्बन्ध में विप्रतिपत्ति के निराकरणार्थ जयन्तमत को उद्धृत किया है।[3] इससे यह प्रमाणित है कि वाचस्पति जयन्त के परवर्ती थे और ऐसी स्थिति में वाचस्पति का काल ८४१ इ. नहीं हो सकता। अतः ८९८ शक (संवत् ९७६ इ) ही मानना होगा। तदनुसार वाचस्पति की अपेक्षा कुछ भासर्वज्ञ पूर्ववर्ती हो जाते हैं।

(२) यद्यपि उदयन की लक्षणावली का रचनाकाल ९०६ (तर्काम्बराङ्क) शक संवत् एकमात्र सरस्वतीभवन की हस्तलिपि में उल्लिखित है[4] और उदयन ने तात्पर्यपरिशुद्धि में तात्पर्यटीका के पाठान्तरों का विवेचन किया है। वाचस्पति (९७६ ई०) को उदयन (९८४ ई) के समकालीन मानने पर यह सम्भव नहीं होता। तथापि तर्कस्वराङ्क पाठ होना चाहिये। ऐसा मानने पर ७० वर्ष और प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार प्रो० भट्टाचार्यने उदयन का जन्मकाल लगभग १०२५ ई. तथा उनका कार्यकाल

1. वही, पृ. १०.

2. वही, पृ. १०, ११.

3. अत्रोपमानस्य फले विप्रतिपद्यमानान् प्रति साशंकं जरन्नैयायिकजयन्तप्रभृतीनां परिहारमाह...।
—तात्पर्यशुद्धि, ।१।६.

4. Bhattacharya, D. C. : History of Navya-Nyaya in Mithila, P. 2.

१०५०-११०० ई. माना है।[1] अतः वाचस्पति का काल ६७६ ई.) मानने पर भी उदयन के समकालीन होने की आपत्ति का निराकरण हो जाता है।

३. ज्ञानश्री के अनुसार चार विभिन्न दिक्प्रदेशों से आनेवाले न्यायशास्त्र के दिग्गज विद्वान शंकर, भासर्वज्ञ, त्रिलोचन और वाचस्पति हैं।[2] छन्दोभंग न हो, इस दृष्टि से न्यायभूषण के स्थान पर पर्याय शब्द न्यायालंकरण का त्रिलोचन से पहले प्रयोग किया गया है। परन्तु ज्ञानश्री के क्षणभंगाध्याय और रत्नकीर्ति की क्षणभंगसिद्धि में स्पष्टतया न्यायभूषण नाम दिया है और वह भी त्रिलोचन के बाद तथा वाचस्पति के पहले। इस नामक्रम को ऐतिहासिक समझ कर[3] भासर्वज्ञ को वाचस्पति से पूर्ववर्ती माना जाता है।

(३) भासर्वज्ञ ने द्वित्व के पृथग्गुणत्व का खण्डन किया है। अतः श्री वल्लभाचार्यने न्यायलीलावती में भासर्वज्ञ की आलोचना करते हुए कहा है — "तदिदं चिरन्तनवैशेषिकमतदूषणं भूषणकारस्यातित्रपाकरम्। तदियमताम्नातता भासर्वज्ञस्य यद्यमाचार्यमप्यवमन्यते। तथा च तदनुयायिनस्तात्पर्याचार्यस्य सिंहनादः 'संविदेव हि भगवती'त्यादि।"[4] यहां आचार्यपद से उद्योतकर अभिप्रेत हैं, जिनकी द्वित्वस्थापना का भासर्वज्ञनने खण्डन किया है। तात्पर्याचार्य वाचस्पति मिश्र हैं, जिन्होंने भासर्वज्ञ की आलोचना का खण्डन तथा उद्योतकरपक्ष का समर्थन करते हुए कहा है – 'संविदेव हि भगवती।' तात्पर्यटीका में इसी संदर्भ में यह पंक्ति मिल गई है – 'संविदेव भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्।'[5] इस प्रकार वाचस्पतिकृत भासर्वज्ञमतखण्डन से वाचस्पति का भासर्वज्ञ की अपेक्षा परवर्तित्व ज्ञात होता है।

भासर्वज्ञ त्रिलोचन के परवर्ती थे, क्योंकि उन्होंने उदाहरणाभासों के प्रसंग में त्रिलोचनसम्मति का उल्लेख किया है,[6] जैसा कि भट्ट राघव के कथन से स्पष्ट हो जाता है[7]। त्रिलोचन वाचस्पति के गुरु थे, जैसा कि तात्पर्यटीका में उन्होंने स्पष्ट निर्देश किया है—

'त्रिलोचनगुरून्नीतमार्गानुगमनोन्मुखैः।
यथान्यायं यथावस्तु व्याख्यातमिदमीदृशम्॥'[8]

इससे यह ज्ञात होता है कि भासर्वज्ञ त्रिलोचन के कनिष्ठ समसामयिक थे और वाचस्पति के ज्येष्ठ समसामयिक।

1. Ibid, P. 51.
2. Ibid, P. 36.
3. Ibid, P. 36.
4. न्यायलीलावती, पृ. ४१.
5. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, कलकत्ता, १९४४, पृ. ५०६.
6. अन्ये तु सन्देहद्वारेणापरानष्टावुदाहरणाभासान् वर्णयन्ति।—न्यायसार, पृ. १३.
7. अत्राद्याः षडिति ये तु दृष्टान्तदोषद्वारेणाभासा अभिहितास्ते यथा दृष्टान्तदोषनिश्चयात् निश्चितास्तथा तद्दोषसन्देहात् सन्दिग्धा इति मत्स्वमतं तत्त्रिलोचनाचार्यसम्मतमित्याह। न्यायसारविचार, पृ. ५९.
8. न्यायदर्शन–प्रथम भाग (मिथिला विद्यापीठ, १९६८), पृ. २२६.

किन्तु प्रो. दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य आदि ने भासर्वज्ञ को वाचस्पति के ज्येष्ठ समसामयिक सिद्ध करने के लिये जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, वे ग्राह्य नहीं हैं।

प्रथम तर्क में यह बतलाया गया है कि न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट का काल काश्मीर नरेश शङ्कर वर्मा (८८३-९०२ ई.) के समकालिक होने से सुनिश्चित है। उपमानकाल के सम्बन्ध में विप्रतिपद्यमान पुरुषों के प्रति आशङ्कापूर्वक जरन्नैयायिक जयन्त आदि का परिहार 'यद्यपि यथा गौरेव गवयः' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा बतलाया है, एतदर्थक तात्पर्यपरिशुद्धि में उदयनाचार्य की उक्ति से सिद्ध होता है कि वाचस्पति ने जयन्त भट्ट के मत को अर्थतः ग्रहण किया है। इस रीति से जब वाचस्पति मिश्र जयन्त भट्ट से परवर्ती हैं, तब वाचस्पति का काल ८९८ विक्रम संवत् अर्थात् ८४१ ई. सिद्ध नहीं होता। यह तर्क इसलिये असंगत है कि केवल तात्पर्यपरिशुद्धिकार की उपर्युक्त उक्ति से ही यह नहीं माना जा सकता कि तात्पर्यटीकाकार ने जयन्त का मत उद्धृत किया है।

न्यायमंजरी के उपमानप्रकरण को देखने से यह स्पष्ट है कि न्यायमंजरीकार ने उपमान-फल के विषय में दो मत बतलाये हैं। प्रथम यह है कि 'यथा गौस्तथा गवयः' यह वाक्य अप्रसिद्ध गवय का प्रसिद्ध गो के साथ सादृश्य बतलाता हुआ अप्रसिद्ध गवयपिण्ड गवय शब्द का संज्ञी है यह बतलाता है और यह उपमान का फल है। यद्यपि यह ज्ञान 'यथा गौस्तथा गवयः' इस वाक्य से भी हो सकता है, तथापि वक्ता पुरुष 'गवयपिण्ड गवय शब्दवाच्य है' इसके ज्ञान के लिये 'यथा गौस्तथा गवयः' इत्याकारक सादृश्यज्ञान को उसका उपाय बतला रहा है। अतः आरण्यक पुरुष के वाक्य से गवय शब्द गवयपिण्ड का वाचक है इस अर्थ को नागरिक प्रतिपत्ता नहीं जानता, किन्तु अरण्य में गवयपिण्ड को देखकर गाय के साथ उसका सादृश्य देखता है और 'यथा गौस्तथा गवयः' इस अतिदेश-वाक्यका स्मरण कर उसके द्वारा ही उपर्युक्त उपमानफल का ज्ञान करता है। उपमानफल के सम्बन्ध में इस मत का उल्लेख वृद्ध नैयायिकों के नाम से किया है।[1]

उपमानफल के सम्बन्ध में दूसरा मत जयन्त ने यह बतलाया है कि 'यथा गौस्तथा गवयः' इस अतिदेशवाक्य को सुननेवाला पुरुष वन में जाता है और इन्द्रिय द्वारा अप्रसिद्ध गवयपिण्ड में प्रसिद्ध गो के सादृश्य का ज्ञान करता है और गो के समान गवय होता है इस अतिदेशवाक्यार्थ का स्मरण होता है। स्मरण होते ही यह गवय शब्द गवयपिण्ड का वाचक है ऐसा संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानरूप फल उत्पन्न हो जाता है। अतः इन्द्रियजन्य गवय में गोसादृश्यज्ञान 'यही गवयपिण्ड गवयशब्दवाच्य है' इस प्रतीतिरूप फल का जनक होने से उपमान है। इस मत को जयन्त ने 'अद्यतनास्तु' पद से बतलाया है।[2]

---

1. अत्र वृद्धनैयायिकास्तावदेवमुपमानस्वरूपमाचक्षते संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतीतिफलं प्रसिद्धेतरयोः सारूप्यप्रतिपादकमतिदेशवाक्यमेवोपमानम्...इत्यादि।

—न्यायमंजरी, पूर्वभाग, पृ. १२८-१२९

2. न्यायमंजरी, पूर्वभाग, पृ. १२९.

इस द्वितीय मत का 'प्रत्यक्षमयी च (प्रसिद्धिः), यथा गोसादृश्यविशिष्टोऽयमीदृशः पिण्ड इति। तत्र प्रत्यक्षमयी प्रसिद्धिरागमाहितस्मृत्यपेक्षा समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिहेतुः, इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा निरूपण किया है।[1] किन्तु यह मत जयन्त का है, इसमें कोई प्रमाण नहीं। यदि जयन्त का स्वयं का होता, तो 'वयं तु ब्रूमः' रूपसे उल्लेख करते। जयन्त ने तो उपमानफल के सम्बन्ध में वृद्ध नैयायिकों तथा अद्यतनों के मत का उल्लेख किया है। वस्तुतः यह मत तात्पर्यटीकाकार का है। उसीका 'अद्यतनास्तु' से जयन्त भट्ट ने उल्लेख किया है, क्योंकि यह मत प्रथम वाचस्पति के द्वारा ही तात्पर्यटीका में बतलाया गया है।[2] जयन्त भट्ट वाचस्पति के परवर्ती थे, यह आगे बतलाया जानेवाला है। अंतः जयन्त के द्वारा उसका उल्लेख उपयुक्त है।

२ क्षणभङ्गाध्याय तथा क्षणभङ्गसिद्धि में वाचस्पति से पूर्व न्यायभूषण (भासर्वज्ञ) का उल्लेखरूप द्वितीय तर्क भी भासर्वज्ञ के वाचस्पति से पूर्व होने में तात्त्विक प्रमाण नहीं हो सकता, जब तक किसी प्रमाण से भासर्वज्ञ का वाचस्पति से पूर्व अस्तित्व सिद्ध नहीं हो जाता। अपि तु वाचस्पति मिश्र ही भासर्वज्ञ से पूर्ववर्ती हैं, जैसा कि आगे बतलाया जानेवाला है।

तृतीय तर्करूप संख्यानिरूपण में 'संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्' यह वाचस्पति की उक्ति केवल उद्योतकारमतसमर्थनार्थ तथा संख्या के पृथग्गुणत्व की स्वीकृति में प्रमाणरूप से उपन्यस्त है। इसके द्वारा भासर्वज्ञ के मत का निराकरण नहीं है। अन्यथा द्वित्वसंख्या के खण्डन के लिये प्रस्तुत भासर्वज्ञ के तर्कों का वे निराकरण करते। न्यायलीलावतीकार श्री वल्लभाचार्य ने भी द्वित्वसंख्यानिराकरण परक भासर्वज्ञमत की आलोचना करते हुए वाचस्पति की इस उक्ति को द्वित्वसंख्यासिद्धि में प्रस्तुत किया है। भासर्वज्ञमत के निराकरणार्थ वाचस्पति ने यह तर्क उपन्यस्त किया हैं, यह उन्होंने नहीं कहा है। अतः भासर्वज्ञ को वाचस्पति से पूर्व सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत सभी तर्क तर्काभास हैं।

वस्तुतः वाचस्पति मिश्र न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट से भी पूर्ववर्ती हैं, क्योंकि जयन्त भट्ट ने अपनी न्यायमंजरी में दो प्रकरणों में स्पष्टरूप से वाचस्पति के मत को उद्धृत किया है।

पहिला प्रकरण वह है, जिसमें यह बतलाया गया है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न आलोचनाज्ञान का हानोपादानादि फल नहीं हो सकता, क्योंकि पहले इन्द्रियजन्य कपित्थविषयक आलोचनाज्ञान, तदनन्तर पूर्वानुमतकपित्थादि की सुखसाधनता का स्मरण, ततः यह भी कपित्थजातीय है इत्याकारक परामर्शज्ञान, तदनन्तर इस कपित्थ में सुखसाधनता का निश्चय, तदनन्तर उसमें उपादेयताज्ञान होता है। अतः उपादानज्ञान के

1. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृ. १९८.

2. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृ. १९८.

समय इन्द्रियसंनिकर्षजन्य कपित्थालोचन की सत्ता न होने से उसे उपादानादिबुद्धिरूप फल के प्रति कारण कैसे माना जा सकता है — इस आशंका का समाधान करते हुए न्यायमंजरीकार ने कहा है कि तात्पर्याचार्य ने इसका समाधान[1] किया है कि ज्ञानों का क्रम तो उपर्युक्त ही है, किन्तु कपित्थोत्पादान-बुद्धिरूप फल के प्रति वे इन्द्रियसंनिकर्षजन्य आलोचनज्ञान को प्रमाण नहीं बतला रहे हैं। वह आलोचनाज्ञान इन्द्रियसंनिकर्षादिरूप प्रत्यक्षप्रमाण का फल ही है, स्मृतिजनक होने से स्वयं प्रमाण नहीं, किन्तु उससे उत्पन्न होने वाली सुखसाधनतास्मृति स्वयं प्रत्यक्ष प्रमाण है, क्योंकि 'यह कपित्थजातीय है' इत्याकारक परामर्श को वह इन्द्रियार्थसंनिकर्षसहकृत होकर उत्पन्न कर रही है। प्रत्यक्षजनित वह परामर्शज्ञान भी जिस प्रकार प्रत्यक्षजनित धूमज्ञान परोक्ष अग्नि की सत्ता को बतलाने से अनुमान प्रमाण है, उसी प्रकार कपित्थजातीय पदार्थ सुखसाधन है, इसका जनक होने से अनुमान प्रमाण है। और कपित्थजातीय में आनुमानिक सुखसाधनताज्ञान भी इन्द्रियसंनिकर्ष की सहायता से कपित्थादि में उपादेयताज्ञान को उत्पन्न करता हुआ प्रत्यक्ष प्रमाण है। और वह प्रत्यक्ष प्रमाण कपित्थ में उपादेयताज्ञानरूप फल को उत्पन्न करता है। इस प्रकार कपित्थादिविषयक सुखसाधनताज्ञानरूप अनुमान प्रमाण कपित्थादि में इन्द्रियसंनिकर्ष के साथ उपादेयताज्ञान को उत्पन्न करता हुआ प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। यहां न्यायमंजरीकार ने तात्पर्याचार्य के मत को अर्थतः उद्धृत किया है, शब्दतः नहीं। तात्पर्यटीका में यह समाधान न्यायसूत्र के तृतीय सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट उपलब्ध है।[2]

दूसरा प्रकरण—

न्यायदर्शन, द्वितीय अध्याय, प्रथम आह्निक के 'न चैकदेशोपलब्धिरवयविसद्भावात्'[3] सूत्रकी व्याख्या में अनिष्पन्न अवयव्यादि का अवयवादिकरण से सम्बन्ध हो नहीं सकता, क्योंकि सम्बन्ध द्विष्ठ होता है तथा कार्यकी पूर्वनिष्पत्ति मानने पर अवयव-अवयवी में युतसिद्धता आ जाती है, इस दोष का परिहार तात्पर्याचार्य ने

---

1. अत्राचार्यास्तावदाचक्षते साधु चोदितं सत्यमीदृश एवायं ज्ञानानां क्रमः, न वयं प्रथमालोचनज्ञानस्य उपादानादिषु प्रमाणतां ब्रूमः ..प्रत्यक्षप्रमाणं भवति।

—न्यायमंजरी, पूर्वभाग, पृ. ६२.

2. तत्र तोयालोचनमथ तोयविकल्पोऽथ च तज्जातीये दृष्टचरपिपासोपशमनहेतुभावस्य स्मृतिबीजसंस्कारोद्बोध. अथ तस्य स्मरणम् अथ लिङ्गपरामर्शः तज्जातीयं चेदमिति। तदिदं लिङ्गपरामर्शविज्ञानं साक्षात्कारवत् लिङ्गे विनश्यदवस्थव्याप्तिस्मरणसहकारि दृश्यमानस्य सलिलस्य पिपासोपशमनहेतुतया अनुमानमुखेनोपादानबुद्धिरुच्यते।

—न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृ. १०२.

3. न्यायसूत्र, २–१–३३.

'जातं च सम्बद्धं चेत्येकः कालः' इस उक्ति के द्वारा कर दिया है[1] यह जयन्त भट्ट ने कहा है। तात्पर्यटीकाने में यह उक्ति 'अथासम्बन्धस्य विद्यमानत्वं (युतसिद्धिः), तत्सत्यपि पृथग्गतिमत्त्वे नावयविनोऽस्ति, जातः सम्बद्धश्चेत्येकः कालः'[2] इस रूप से शब्दतः उपलब्ध होती है। इससे यह भी स्पष्ट सिद्ध है कि जयन्त भट्ट ने 'आचार्याः' या 'आचार्यैः' पद तात्पर्याचार्य के लिए प्रयुक्त किये हैं और बहुवचन द्वारा वह सम्मान उनके मत को उद्धृत करता है। न्यायमञ्जरीग्रन्थभङ्ग के रचयिता चक्रधर का 'आचार्याः' के विषय में "इह च सर्वत्राचार्यशब्देन उद्द्योतकरविवृतिकृतो रुचिकार-प्रभृतयो विवक्षिताः"[3] यह स्पष्टीकरण भी प्रस्तुत निष्कर्ष में बाधक नहीं, अपितु साधक है, क्योंकि उनके मतानुसार 'आचार्याः' पद से उद्द्योतकरीय न्यायवार्तिक के व्याख्याकार रुचिकार आदि अभिप्रेत हैं और उद्द्योतकरीय न्यायवार्तिक के व्याख्याकारों में वाचस्पति मिश्र भी अन्यतम हैं। उपमानप्रकरण में भी जयन्त भट्ट ने 'अद्यतनास्तु' से वाचस्पतिमत का ही अर्थतः प्रतिपादन किया है, क्योंकि उस मत का प्रतिपादन तात्पर्यटीका में स्पष्टरूप से उपलब्ध होता है।[4] अतः वह भी वाचस्पति मिश्र जयन्त से पूर्ववर्ती है इसी को सिद्ध कर रहा है, न कि जयन्त वाचस्पति मिश्र से पूर्ववर्ती है इसको। तात्पर्यपरिशुद्धिकार उदयनाचार्य की 'अत्रोपमानस्य फले विप्रतिपद्यमानान् प्रति साशङ्कं जरन्नैयायिकजयन्तप्रभृतीनां परिहारमाह'[5] यह उक्ति सर्वथा भ्रान्त है और ऐसी भ्रान्ति प्रायः दिग्गज पण्डितों में भी देखी जाती है। जैसे, तत्त्वचिन्तामणि में[6] उपमानखण्ड में 'तस्मादागमप्रत्यक्षाभ्यामन्यदेवेदमागमस्मृति-सहितं सादृश्यज्ञानमुपमानप्रमाणम् इति जरन्नैयायिकजयन्तप्रभृतयः' यह लिखा है, किन्तु यह उद्धरण न्यायमंजरी में उपमानप्रकरण में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता, जबकि उपमानसूत्र की व्याख्या में तात्पर्यटीका में अक्षरशः मिलता है।[7]

उपर्युक्त अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर यह स्पष्ट सिद्ध है कि वाचस्पति मिश्र जयन्त से पूर्ववर्ती हैं। अतः 'न्यायसूचीनिबन्ध' में 'वस्वङ्कवसुवत्सर' में वत्सर से विक्रमाब्द का ग्रहण ही सर्वथा उपयुक्त है, शक संवत् नहीं।[8] और यह भी

---

1. न्यायमंजरी, पूर्वभाग, पृ. २८५.
2. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, २–१–३२.
3. न्यायमञ्जरीग्रन्थिभङ्ग, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद, १९७२, पृ. ४४
4. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृ. १६८
5. तात्पर्यपरिशुद्धि, १–१–६.
6. तत्त्वचिन्तामणि, एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, पृ. ६१.
7. तस्मादागमप्रत्यक्षाभ्यामन्यदेवेदमागमस्मृतिसहितं सादृश्यज्ञानमुपमानाख्यं प्रमाणमास्थेयम्।
 —न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृ. १६८.
8. This can not be Śaka 898, for apart from the decisive use of वत्सर, which by this time had come to signify the Samvat era.
 —Seal, B. N. The Positive Sciences of the Ancient Hindus, p. 51.

सुनिश्चित है कि प्राचीन काल में शकाब्द के उल्लेख के अभाव में विक्रमाब्द का ही ग्रहण होता रहा है। उदयनाचार्य के द्वारा लक्षणावली में उल्लिखित 'तर्काम्बराङ्क' में शक संवत् का ग्रहण तो इसलिये किया गया है कि उन्होंने स्वयं 'शकान्ततः' का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है। अतः वहां शक संवत् का ग्रहण किया गया है। अतः वाचस्पति का काल निश्चित रूप से ८४१ ई. है और जयन्त तथा भासर्वज्ञ दोनों ही उनके परवर्ती हैं, दोनों ने ही अनेक स्थलों में उनके मत को उद्धृत किया है। जयन्त ने 'आचार्य' पद से उनका उल्लेख किया है, किन्तु भासर्वज्ञ ने उनका किसी भी प्रकार से उल्लेख न कर उनके विषय को ग्रहण किया है, जैसाकि पहले स्वामी योगीन्द्रानन्दजी के दिए हुए दो उदाहरणों से स्पष्ट है। वाचस्पति का काल ८४१ ई. मानने से उदयन जो कि ९८४ ई के हैं, उनके बीच में पर्याप्त समय का अन्तराल उपपन्न हो जाता है। वाचस्पति को जयन्त का पूर्ववर्ती मानने से वाचस्पति का काल ८४१ ई. मानने पर वे जयन्त के पूर्ववर्ती हो जायेंगे, यह दूषण भी नहीं रहता। अतः उस अन्तराल के उपपादन के लिये 'तर्काम्बराङ्क' के स्थान में काल्पनिक अत एव अप्रामाणिक 'तर्कस्वराङ्क' पाठ की कल्पना भी अनावश्यक है।

उपर्युक्त रीति से वाचस्पतिकाल ८४१ ई. (नवम शताब्दी का पूर्वार्ध)

जयन्तभट्ट का काल ८८३ ई. (नवम शताब्दी का उत्तरार्ध)

भासर्वज्ञ का काल ९३० ई. (दशम शताब्दी का पूर्वार्ध)

उदयन का काल ९८४ ई. (दशम शताब्दी का उत्तरार्ध)

इस प्रकार सभी समञ्जस व चतुरस्र हो जाता है।

विद्यास्रोत

भासर्वज्ञ ने अपने ग्रन्थों में कहीं भी गुरु के नाम का उल्लेख नहीं किया है। केवल 'न्यायसार' के अन्त में भासर्वज्ञ ने लिखा है[1] कि अक्षपाद आदि पूज्य आचार्यों ने देवताओं द्वारा अप्राप्य रत्न (न्यायरत्न) को देकर समुद्रों को भी जीत लिया, तिरस्कृत कर दिया, क्योंकि समुद्र द्वारा देवों को दीयमान रत्नभोग से नष्ट होनेवाले हैं तथा उनसे दुःखभावविशिष्ट परमानन्दरूप मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती,

1. जिताः समुद्रा गुरुभिर्मदीयैः
रत्नं ददद्भिस्त्रिदशैरलभ्यम् ।
प्रदीयमानं सततं द्विजेभ्यः
प्रवर्द्धते चैव करोति मुक्तिम् ॥
आचार्यमाराध्य मयापि लब्धं
तन्न्यायरत्नं स्वपरोपकारि ।
उत्सर्गितं स्वल्पपदैर्निबध्य,
संसारमुक्त्यै खलु सज्जनानाम् ॥—न्यायसार (कलकत्ता, १९१०), पृ. ४१.

किन्तु अक्षपादादि द्वारा द्विजों को दीयमान रत्न निरन्तर बढ़ता रहता है, क्योंकि वह उनमें सुतीक्ष्ण बुद्धि (तार्किकप्रज्ञा) का आधान करता है और तीक्ष्ण बुद्धि से सम्पन्न होकर वे अन्याम्य ग्रन्थों की रचना करते हैं। तथा प्रमाणादि पदार्थों के तत्त्वज्ञान से उत्पन्न सम्यग् ज्ञान द्वारा मिथ्याज्ञान का नाश हो जाने से दुःखाभावविशिष्ट परमानन्दरूप मुक्ति की भी प्राप्ति होती है। अक्षपादादि पूज्य गुरुओं के द्वारा प्रादुर्भावित न्यायरत्न को मैंने भी आचार्य (अपने गुरु) की सेवा द्वारा प्राप्त किया। स्वल्पाक्षर पदों से उसका निबन्धन कर संसार से मुक्ति प्राप्त करने के लिए श्रेष्ठ अधिकारियों को प्रदान किया अर्थात् उसका वितरण किया।

इन श्लोकों में 'गुरुभिः' पद से न्यायशास्त्र के पूज्य प्राचीन आचार्य अक्षपादादि का ग्रहण है, जैसाकि 'इत्येवं तत्पूर्वकपदमेव केवलमनुमानलक्षणक्षममिति गुरवो वर्णयाञ्चक्रुः'[1] जयन्त के इस कथनमें 'गुरवः' पदसे न्यायशास्त्र के प्रवर्तक प्राचीन आचार्यों का ग्रहण किया है। जयसिंह सूरि ने 'गुरुभिः' पद की 'अध्यापकैः'[2] इस व्याख्या के द्वारा भासर्वज्ञ के अध्यापकों का ग्रहण किया है, वह समुचित नहीं, क्योंकि भासर्वज्ञ ने अपने गुरु का उल्लेख उत्तरश्लोक में 'आचार्यमाराध्य' आचार्यपद के द्वारा किया है। यदि भासर्वज्ञ गुरुओंने भी न्यायरत्न का प्रादुर्भाव किया होता, तो उस न्यायरत्न की उन गुरुओं द्वारा प्राप्ति हो जाने पर तद्भिन्न आचार्य की आराधना से उसकी प्राप्ति का उल्लेख नहीं होता और वस्तुतः न्यायरत्न का प्रारम्भिक प्रदान अर्थात् आविर्भाव भासर्वज्ञ के गुरुओं द्वारा न होकर उनके पूर्ववर्ती पूज्य न्यायसूत्रकार, भाष्यकार, वार्तिककारादि से ही हुआ है। इसलिए 'गुरुभिः' इत्याकारक बहुवचन का प्रयोग किया गया है। गुरुओं ने रत्न (न्यायरत्न) के प्रदान द्वारा समुद्रों को जीत लिया है, इस प्रकार रत्नप्रदान के द्वारा समुद्र का गुरुओं से साम्य बतलाया गया है। वह साम्य न्यायशास्त्र के उद्भावक अक्षपादादि आचार्यों के साथ ही उपपन्न होता है, क्योंकि जैसे समुद्र अनेक रत्नों का उद्भवस्थान है, उसी प्रकार अक्षपादादि पूज्य पूर्वगुरु ही न्यायशास्त्ररूपी रत्न के उद्भावक हैं, न कि भासर्वज्ञ के अध्यापक। यद्यपि 'मदीयैः' विशेषण से यह सन्देह अवश्य होता है कि यहां भासर्वज्ञ सम्बन्धित गुरुओं का बोध है और अक्षपादादि भी परम्परया भासर्वज्ञ से सम्बन्धित हैं ही, अतः 'गुरुभिः' से अक्षपादादि आचार्यों का ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं है।

व्यक्तित्व

स्वतन्त्र चिन्तक :

महाम्बुधिकल्प प्रौढग्रन्थ न्यायभूषण उनके व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करने के लिए स्वच्छ आदर्शतुल्य है। वे न्यायशास्त्र के प्रौढ़ और उद्भट विद्वान् थे।

1. न्यायमंजरी, पूर्वभाग, पृ. ११५.

2. न्यायतात्पर्यदीपिका, पृ. २६४.

इसीलिए न्यायशास्त्र के आधारस्तम्भभूत नैयायिकों में उनकी गणना की गई है।[1] न्यायशास्त्र में नूतन और क्रान्तिकारी विचारधारा प्रवाहित करने के कारण उनके व्यक्तित्व की यह विशेषता व्यक्त होती है कि वे रूढिवादी नैयायिक नहीं थे, उनकी अपनी स्वतन्त्र विचारधारा थी। प्राचीन आचार्यों के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी उन्होंने 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' इस रूप में अपरीक्षणपूर्वक उनका ग्रहण नहीं किया, जैसाकि निम्न उद्धरण से स्पष्ट है :—

"सूत्रकृतैव खल्वेवमुपदिष्टत्वादिति चेत्, न खलु वै सूत्रकारनियोगभयात्पदार्थाः स्वधर्मं हातुमर्हन्ति। यदि चाविचारितमेव सूत्रकारवचः प्रमाणं, परीक्षासूत्राणां तर्हि वैयर्थ्यं स्यात्।"[2]

शुद्ध नैयायिक :

न्यायभाष्यकार तथा उनके अनुयायी सभी नैयायिकों ने वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों का कोई विरोध नहीं किया है, अपितु उनको यथावत् अपनाया है। किन्तु आचार्य भासर्वज्ञ ने वैशेषिक-शास्त्र के सिद्धांतो का विस्तारपूर्वक खण्डन किया है। वे शुद्ध नैयायिक थे। उनका उद्देश्य था—न्यायशास्त्र की व्याख्या। अतः वैशेषिक शास्त्र से विरोध को वे दोष नहीं मानते, जैसा कि उन्होंने स्पष्ट कहा है 'न्यायशास्त्रं च व्याख्यातुं वयं प्रवृत्तास्तेनास्माकं वैशेषिकतन्त्रेण विरोधो न दोषाय।[3] अतः हम कह सकते हैं कि भासर्वज्ञ न्यायशास्त्र के रूढिवादी व्याख्याकार नहीं, प्रत्युत स्वतन्त्र चिन्तक और समालोचक नैयायिक थे।

कृति-परिचय :

आचार्य भासर्वज्ञने कुल चार ग्रन्थों की रचना की। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) नित्यज्ञानविनिश्चय (२) गणकारिका (३) न्यायसार और (४) न्यायभूषण।

१. नित्यज्ञानविनिश्चय

यह ग्रन्थ अप्राप्य है। इसका उल्लेख आचार्य भासर्वज्ञ ने न्यायभूषण में किया है—'यदत्रानुक्तं परोक्तचोद्यप्रतिसमाधानं प्रतिपक्षबाधनं च तत् नित्यज्ञानविनिश्चये द्रष्टव्यम्।'[4] इससे यह प्रतीत होता है कि न्यायभूषण की रचना से पूर्व भासर्वज्ञ ने 'नित्यज्ञानविनिश्चय' नामक ग्रन्थ की रचना की थी जो सौगतसिद्धान्तरूप पर्वत के लिए वज्रपात की तरह था।

---

1. दुर्वीताश्रमवेदिकाद्दढतरस्तम्भानमून् शंकर—
   न्यायालङ्करणत्रिलोचनवचसत्याहवान् हेलया।
   उन्मूल्य क्षणभंग एष विहितो यत्पुण्यमाप्तं मया
   तेन स्तात् परपारगस्त्रिभुवने ज्ञानश्रियोऽयं जनः॥
   —ज्ञानश्रीनिबन्धावलि, पृ. १५९.

2. न्यायभूषण, पृ. १८.   3 वही, पृ. १९३.   4. न्यायभूषण, पृ. ४६६.

२. गणकारिका

पाशुपतसूत्र और पञ्चार्थभाष्य की तरह गणकारिका भी लकुलीश पाशुपतमत का प्रमुख ग्रन्थ है। गणकारिका की रत्नटीका में पाशुपत-मत के अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[1] सर्वदर्शनसंग्रह में अन्य दर्शनों की तरह पाशुपतमत का स्वरूप भी वर्णित है।[2] गणकारिका में कुल आठ कारिकाएँ हैं जिनकी रत्नटीका में विस्तार से व्याख्या की गई है। इन आठ कारिकाओं में गुरुस्वरूप आदि का निरूपण किया गया है। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए सर्वदर्शनसंग्रहकार ने भी कहा है—'गुरुस्वरूपं गणकारिकायां निरूपितम्'।[3] यह ग्रन्थ गायकवाड ओरियण्टल सीरीज के अन्तर्गत चिमनलाल डी. दलाल महोदय के सम्पादकत्वमें सन १९६६ में प्रकाशित हो चुका है।

३. न्यायसार[4]

न्यायदर्शन में सर्वप्रथम सूत्रानुसारी व्याख्यापद्धति अपनायी गई और सौगत-सिद्धान्त के खण्डन हेतु उस पद्धति के अनुसार न्यायभाष्य, न्यायवार्तिक, तात्पर्यटीका, न्यायभाष्यवार्तिकटीकाविवरणपञ्जिका आदि ग्रन्थ लिखे गये। सूत्रानुसारी व्याख्या-पद्धति को छोड़कर स्वतन्त्र ग्रन्थ-रचना की पद्धति प्रारम्भ में नहीं थी, परन्तु दसवीं शताब्दी में न्यायशास्त्र में स्वतन्त्र रूप से प्रकरण ग्रन्थों की रचना की जाने लगी। न्यायदर्शन में आचार्य भासर्वज्ञ को इस शैली का प्रवर्तक कहा जा सकता है। उनके बाद में अन्य नैयायिकों तथा वैशेषिकों ने भी प्रकरण ग्रन्थ लिखे। 'प्रकरण' एक पारिभाषिक शब्द है जिसका लक्षण पराशर उपपुराण में इस प्रकार किया गया है—

'शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चित ॥'

अर्थात् जिस ग्रन्थ में किसी शास्त्र के एक अंश का प्रधानतया प्रतिपादन होता है और प्रयोजनानुसार अन्य शास्त्र के उपयोगी अंश का भी समावेश कर दिया जाता है, उसे प्रकरणग्रन्थ कहते हैं। न्यायवैशेषिक के प्रकरण ग्रन्थों के चार विभाग किये जा सकते हैं—

(१) प्रथम प्रकार के वे प्रकरण हैं जिनमें प्रधानतया प्रमाण और गौण रूप से प्रमेय, संशय आदि पन्द्रह पदार्थों का वर्णन किया गया है।

(२) दूसरे प्रकार के वे प्रकरण ग्रन्थ हैं जिनमें न्यायदर्शन के प्रमाण, प्रमेय आदि

---

1. तत्क्रमश्च संस्कारकारिकायां द्रष्टव्यः।—गणकारिका, रत्नटीका, पृ. ९.
2. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. ७१ से ७७ तक
3. वही, पृ. ७१.
4. प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में म. म. विद्याभूषण-सम्पादित न्यायसार के संस्करण का मुख्यतया उपयोग किया गया है।

सोलह पदार्थों के साथ वैशेषिक दर्शन के द्रव्यादि पदार्थ भी वर्णित होते हैं, परन्तु स्वतन्त्ररूप से नहीं, अपितु उनका प्रमेय में अन्तर्भाव कर दिया गया है।

(३) तीसरे प्रकार के वे प्रकरण ग्रन्थ हैं जो मुख्यतः वैशेषिक के ग्रन्थ हैं, परन्तु न्याय के प्रमाण पदार्थ का पूर्ण रूप से उनमें समावेश कर दिया गया है।

(४) चोथे प्रकार के वे प्रकरणग्रन्थ हैं जिनमें न्याय और वैशेषिक दर्शन के कतिपय विषयोंका उन दर्शनों की शैली से पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है।

प्रकरण ग्रन्थों की उपयुक्त चतुष्कोटि में आचार्य भासर्वज्ञ का न्यायसार प्रथम कोटि के अन्तर्गत आता है। इसमें प्रमाण पदार्थ का प्रधान रूपसे प्रमाण परिच्छेदों में यथाप्रसंग प्रतिपादन किया गया है। भारतीय न्यायशास्त्र के मध्यकालीन युग में बौद्ध और जैन न्याय में क्रमशः दिङ्नाग तथा सिद्धसेन दिवाकर ने उस ग्रन्थ शैलीका सम्प्रवर्तन किया था। परवर्तीकाल में बौद्ध तथा जैन न्यायशास्त्र में इस शैली के अनुसार अनेक ग्रन्थ लिखे गये। सूत्रानुसारी व्याख्यापद्धति का अनुसरण करनेवाले उद्योतकर, वाचस्पति आदि ब्राह्मण नैयायिक इस शैली से प्रभावित नहीं हुए। ब्राह्मण नैयायिकों में इस शैली से सर्वप्रथम प्रभावित होनेवाले आचार्य भासर्वज्ञ थे, जिन्होंने तदनुसार न्यायसार की रचना की।[1] भासर्वज्ञ ने न्यायसार में केवल प्रमाणों का निरूपण किया है, प्रो. विद्याभूषण के इस कथन[2] पर आपत्ति उठाते हुए म. म. गोपीनाथ कविराज ने उसे निराधार बतलाया है, क्योंकि पुस्तक (न्यायसार) के उत्तरभाग में प्रमेयों का निरूपण किया गया है।[3] जैसा कि अभी कहा जा चुका भासर्वज्ञ ने बौद्ध और जैन न्यायग्रन्थों की शैली अपनाकर-प्रमाण पदार्थ को प्रधानता दी, परन्तु उन्होंने न्यायशास्त्र के अन्य पदार्थों का भी न्यायसार के प्रमाण परिच्छेदों में प्रतिपादन किया है। स्वयं आचार्य भासर्वज्ञ ने न्यायसार के मंगल-श्लोक के—

> "शिशुप्रबोधाय मयाभिधास्यते।
> प्रमाणतद्भेदतदन्यलक्षणम् ॥"

---

1 (A)..and there is probably only one Hindu work of importance on Nyāya in the Buddhist style namely Nyāyasāra of Bhāsarvajña. —Dasgupta S. N., A History of Indian Philosophy, Vol. I, p. 309,

(B) Among the Brahmans there was only one person who imbibed the influence of the Buddhist and Jain Logicians. This person was Bhāsarvajña, the celebrated author of Nyāyasāra.
—Vidyabhusana's Introduction to Nyāyasāra, p. 2.

2. न्यायसार, प्रस्तावना, पृ. २.

3. Gleanings from the History and Bibliography of the Nyāya-vaiśeṣika Literature, p. 2.

-इस उत्तरार्ध में स्पष्ट कर दिया है। अतः भासर्वज्ञ ने न्यायसार में केवल प्रमाणों का ही प्रतिपादन किया है, यह कथन संगत प्रतीत नहीं होता।

आचार्य भासर्वज्ञ के इस प्रकरण ग्रन्थ का न्यायशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने इसे 'संग्रह,'[1] 'न्यायसदर्थसंग्रह'[2] संज्ञा से भी व्यवहृत किया है। यह ग्रन्थ प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—इन तीन परिच्छेदों में विभक्त है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में पाशुपताचार्य भासर्वज्ञ ने मंगलाचरण इस प्रकार किया है—

'प्रणम्य शम्भुं जगतः पतिं परं,
समस्ततत्त्वार्थविदं स्वभावतः।
शिशुप्रबोधाय मयाऽभिधास्यते,
प्रमाण–तद्भेदतदन्यलक्षणम् ॥[3]

प्रमाणों के त्रिविध विभाग (प्रत्यक्ष–अनुमान–आगम) के कारण यह ग्रन्थ सांख्य[4] और जैन दर्शन के अनुरूप तथा उपमान प्रमाण के साथ उक्त तीन प्रमाण माननेवाले अक्षपाद-दर्शन तथा प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानने वाले बौद्ध दर्शन के विरुद्ध है। इस ग्रन्थ में प्रयोजन और सिद्धान्त इन दो को छोड़कर अन्य सभी अक्षपादोक्त पदार्थों का निरूपण किया गया है। उपनय, निगमन, निर्णय, छल, जाति, निग्रहस्थान का निरूपण प्रायः सूत्रकार के अनुसार ही हैं। अन्य पदार्थों के निरूपण में आचार्य भासर्वज्ञ की अनेक विशेषताएं अभिव्यक्त हुई हैं जिनका विवेचन प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में आगे के विमर्शों में किया जा रहा है।

आचार्य भासर्वज्ञ के इस प्रकरण ग्रन्थ पर कुल १८ टीकाएँ लिखी गईं, ऐसा उल्लेख प्राप्त होता हैं।[5] इससे यह ज्ञात होता है कि परवर्तीकाल में इसके अध्ययन-अध्यापन की समृद्ध परम्परा रही है। ये सभी १८ टीकाएं उपलब्ध हैं उनमें भी कुछ प्रकाशित हैं और अन्य भाण्डागारों में मातृकापिहित हैं।

न्यायभूषण

'न्यायभूषण' 'न्यायसार' की प्राचीनतम तथा विस्तृत स्वोपज्ञ व्याख्या है। आचार्य भासर्वज्ञ ने इसे 'संग्रहवार्तिक'[6] नाम से भी अभिहित किया है। दार्शनिक

---

1 संग्रहे त्वस्याप्यनभिधानं विस्तरपरिहारार्थम्।—न्यायभूषण, पृ. ३४१

2. प्रवक्ष्यते न्यायसदर्थसंग्रहः।—न्यायभूषण, पृ. १.

3. न्यायसार, पृ. १.

4. भासर्वज्ञश्च सांख्यस्त्रितयम्।— मानमेयोदय, पृ. १०.

5. (अ) न्यायसाराभिधे तर्के टीका अष्टादश स्फुटाः।—षड्दर्शनसमुच्चय (राजशेखरकृत)
(ब) भासर्वज्ञप्रणीते न्यायसारेऽष्टादश टीकाः।—षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति, पृ. ९४.

6. न्यायभूषणे संग्रहवार्तिके।—न्यायभूषण, पृ. १८७

जगत् में यह ग्रन्थ 'भूषण'[1] तथा 'न्यायभूषण'[2] नाम से विश्रुत है। दार्शनिकों ने न्यायसार की अठारह टीकाओं में इसी को मुख्य तथा प्रसिद्ध बतलाया है[3]। इस पर गदाधर मिश्र ने 'न्यायभूषणप्रकाश' तथा वासुदेवसूरि ने 'न्यायभूषणभूषण' नामक टीका लिखी, ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है।[4] वासुदेव सूरिने इसको गम्भीरता और प्रौढता को लक्षित कर 'महाम्बुधि'[5] संज्ञा दी है। कई शताब्दियों से यह ग्रन्थ लुप्त-सा था। प्राचीनन्याय के विशाल साहित्यमें इस ग्रन्थरत्न का अभाव असह्य था, अतः जरद्गवीगवेषणा निष्णात विद्वान् इसकी खोज में लगे रहे। 'जिन खोजा तिन पाइया' इस उक्ति के अनुसार भूषण की गवेषणा में सतत संलग्न विद्वानों को सफलता मिली और सन् १९६८ में पहली बार स्वामी योगीन्द्रानन्द के सम्पादकत्व में षड्दर्शनप्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी से इस ग्रन्थ का प्रकाशन हो गया है। वस्तुतः न्यायदर्शन में यह उल्लेखनीय उपलब्धि है।

'न्यायभूषण' आन्वीक्षिकी-विद्या का भूषण है। इसमें प्राञ्जल भाषा में विषयों का प्रतिपादन किया गया है। आचार्य भासर्वज्ञ ने इसमें अपनी समस्त अभिनव मान्यताओंका युक्तिपुरःसर स्पष्टीकरण किया है। यहां उनकी दार्शनिक प्रौढ़ता पूर्णतया परिलक्षित होती है। इसमें मङ्गलाचरण करते हुए आचार्य भासर्वज्ञ ने कहा है—

उमापतिं सर्वजगत्पतिं सदा,
प्रणम्य निर्वाणदमीश्वरं परम्।
गुरुंश्च सर्वाननुमोक्षसिद्धये,
प्रवक्ष्यते न्यायसदर्थसंग्रहः ॥[6]

वस्तुतः न्यायशास्त्र में यह एक विशिष्ट ग्रन्थ है। न्यायशास्त्र के परम्परागत सिद्धांतों की नूतन तथा समालोचनात्मक व्याख्या इसमें की गई है। समानतन्त्र वैशेषिकशास्त्रसे विरोध न्यायशास्त्र में सबसे पहले इसी ग्रन्थ में प्राप्त होता है। दिङ्नाग, नागार्जुन धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर आदि धुरन्धर बौद्ध विद्वानों के सिद्धांतों का प्रखरतर तर्कों से प्रचण्ड खण्डन किया गया है। जैन और चार्वाक आदि दार्शनिकों के मतों का

---

1. भूषणे त्वाचष्टे। —न्यायमुक्तावली, प्रथम भाग, पृ. १९.

2. तथा च न्यायभूषणः। —ज्ञानश्रीनिबन्धावली, पृ. ८७.

3. (अ) तासु मुख्या न्यायभूषणाख्या। षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति, पृ. ९४.
   (ब) न्यायभूषणनाम्नी तु टीका तासु प्रसिद्धिभाक्।—षड्दर्शनसमुच्चय (राजशेखरकृत)

4. (अ) न्यायभूषणप्रकाशेऽभिहितं गदाधरमिश्रेण। —न्यायरत्नद्युतिमालिका, पृ. ५४.
   (ब) प्रतिज्ञाविशेषणहान्यादयोऽस्माभिर्न्यायभूषणभूषणेऽभिहितास्तत्रैव ज्ञातव्याः।
   —न्यायसारपदपञ्चिका, पृ. ८१.

5. न्यायभूषणमहाम्बुधौ बुधा येऽलमाचरितुं न जानते।
   तत्कृते कृतिरियं मया कृता न्यायसारपञ्चिका ॥—न्यायसारपदपञ्चिका, पृ. ९८.

6. न्यायभूषण, पृ. १.

भी खण्डन इसमें है। उनके प्रति भासर्वज्ञाचार्य के कटाक्षपूर्ण आक्षेपों के कतिपय उद्धरण यहां निदर्शनार्थ प्रस्तुत हैं—

(१) "तस्मादिमे सौगताः शून्यताभिधानेनासारतां प्रदर्श्य बुद्धाय देयम्, धर्माय देयम्, संघाय देयम्, इत्येवं लोकान् प्रतार्य मिष्टान्नपानाद्युपभोगं कुर्वन्तः पूर्वसंस्काराविशेषेऽपि अमेध्यभक्षणादिकं परिहरन्तः चक्रभ्रमणवदस्माकं पूर्वसंस्कारादेव प्रवृत्तिरित्येवं ब्रुवाणाश्च धूर्ततामेवात्मनः प्रकटयन्तीति।"[1]

(२) "को हि जिनस्यातिशयो यः खरोष्ट्रादौ नास्त्येव? को वा खरोष्ट्रादेर्निकृष्ट भावो यो नास्त्येव जिने यतः खरोष्ट्रादिपरिहारेण स एवोपास्यते?"[2]

(३) "नाप्रत्यक्षं प्रमाणमस्ति इति अभ्युपगम्य परप्रत्यायनार्थं शास्त्रं प्रणयन् वाक्यं वोच्चारयन् स्वामेव प्रवृत्तिं स्ववाचा विडम्बयतीत्यहो भद्रं पाण्डित्यमात्मनः प्रकटितवानिति।"[3]

परवर्ती श्रौत तथा अश्रौत दर्शन-वाङ्मय में 'न्यायभूषण' विशेष चर्चा का विषय रहा है। ज्ञानश्री, रत्नकीर्ति, वादिदेव सूरि आदि दार्शनिक पूरी शक्ति लगाकर इसके खण्डन में प्रवृत्त हुए।

⊕

1. न्यायभूषण, पृ. १५२.
2. वही, पृ. ५५७.
3. वही, पृ. ८०.

द्वितीय विमर्श

प्रमाणसामान्यलक्षण

प्रमाणलक्षणविमर्श

यद्यपि न्यायसूत्रकार महर्षि अक्षपाद ने प्रमाणसामान्य का लक्षण नहीं दिया है, तथापि न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि'[1] इस सूत्र की व्याख्या करते हुए 'प्रमीयतेऽनेन' इत्याकारक प्रमाण शब्द के निर्वचन से 'उपलब्धि-साधनं प्रमाणम्' यह प्रमाणसामान्य का लक्षण[2] बतलाया है ।[3] इसी का स्पष्टीकरण उन्होंने 'स (प्रमाता) येनार्थं प्रमिणोति विजानाति तत् प्रमाणम्'[4] यह किया है । वार्तिककार ने भी 'उपलब्धिहेतुः प्रमाणम्'[5] यह प्रमाणसामान्य का लक्षण किया है । उपर्युक्त लक्षणों की प्रमाता और प्रमेय में अतिप्रसक्ति इसलिये नहीं है कि प्रमाता और प्रमेय तो कर्तृत्वेन या विषयत्वेन प्रमाण में चरितार्थ हो जाते हैं, परन्तु प्रमाण अचरितार्थ रहता है, अतः वही अर्थोपलब्धि का साधन है । लक्षण में हेतु पद साधकतम का बोधक है और उपलब्धि में प्रकृष्ट उपकारत्वरूप हेतुता प्रमाणमें ही है न कि प्रमाता और प्रमेय में, क्योंकि प्रमाता और प्रमेय के विद्यमान होने पर भी प्रमाण के अभाव में अर्थोपलब्धि नहीं होती और उसके होने पर हो जाती है ।

अर्थोपलब्धि कभी-कभी भ्रमात्मक अथवा संशयात्मक भी हो सकती है । इसलिए जयन्त भट्ट ने वार्तिककारोक्त लक्षण का परिष्कार करते हुऐ अव्यभिचारी और असन्दिग्ध इन दो विशेषणों का उसमें संयोजन किया हैं ।[6] आचार्य भासर्वज्ञ ने भी इसी आधार पर अपने प्रमाणसामान्य के लक्षण में सम्यक् पद का संयोजन कर 'सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्'[7] यह प्रमाणसामान्य का लक्षण प्रस्तुत किया है ।

---

1. न्यायसूत्र, १।१।३
2. उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानीति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद् बोद्धव्यम् । —न्यायभाष्य, १।१।३
3. The Lacuna caused by the omission of general definition of 'Pramāṇa' in the aphorist Akṣapāda's series of definitions was filled by Vātsyāyana with his etymological interpretation of the word 'Pramāṇa'. —Sanghvi, Sukhlal, Advanced Studies in Indian Logic & Metaphysics, p. 34.
4. न्यायभाष्य, १।१।१
5. न्यायवार्तिक., १।१।१
6. अव्यभिचारिणीम् असन्दिग्धाम् अर्थोपलब्धिम्...। —न्यायमंजरी, पूर्वभाग, पृ. १२.
7. न्यायसार, पृ. १.

इस लक्षण में भी साधन पद पूर्ववत् साधकतम का उपलक्षण है। अतः प्रमाता और प्रमेय में प्रमाणलक्षण अतिव्याप्त नहीं है। अन्य आचार्यों ने 'प्रमाकरणं प्रमाणम्'[1] 'प्रमाणं हि प्रमाकरणम्'[2] इस प्रकार के लक्षण प्रस्तुत किये हैं। इन लक्षणों में साधन या हेतु के स्थान पर करणपद का निवेश कर देने से 'साधकतमं करणम्'[3] इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार साधकतम अर्थ का स्वतः लाभ हो जाता है, साधन पद को साधकतम का उपलक्षक नहीं मानना पड़ता।

लोक और शास्त्र दोनों में ही प्रमाण शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्रपूर्वक माङ् धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर प्रमाण शब्द निष्पन्न होता है। ल्युट् प्रत्यय भाव, करण और अधिकरण तीनों अर्थों में होता है। अतः प्रमाण शब्द का यौगिक अर्थ प्रमा या प्रमा का साधन या प्रमा का आश्रय है। प्रमाणलक्षण में साधन पद का प्रयोग न करने पर इस लक्षण की प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमारूप फल में अतिव्याप्ति है, क्योंकि 'अनुभवति' इस व्युत्पत्ति से प्रमाता, 'अनुभूयते' इस व्युत्पत्ति से प्रमेय तथा 'अनुभूतिः' इस व्युत्पत्ति से प्रमारूप फल भी समीचीन अनुभवरूप हैं, अतः लक्षण में साधन पद दिया है। प्रमातादि समीचीन अनुभवरूप हैं किन्तु उसके साधन नहीं हैं, अतः उनमें अतिव्याप्ति नहीं है।

यद्यपि साधन शब्द का प्रयोग करने पर भी प्रमातादि में प्रमाणलक्षण की अतिव्याप्ति पूर्ववत् ही विद्यमान है, क्योंकि 'साधयति,' 'साध्यते,' –इन व्युत्पत्तियों से प्रमाता तथा प्रमेय क्रमशः प्रमाकर्तृत्वेन और प्रमाविषयत्वेन समीचीन अनुभव के साधन हैं, तथापि शाब्दिकों के अनुसार साधन शब्द करणव्युत्पत्तिपरक ही है। अतः उसीका आश्रयण होने से प्रमातादि में अतिव्याप्ति नहीं है। करण का अर्थ पाणिनि ने 'साधकतमं करणम्' सूत्र के द्वारा साधकतम माना है, अर्थात् क्रियासिद्धि में प्रकृष्ट उपकारक कारण करण कहलाता है। जिसके अव्यवहित उत्तरकाल में फल की निष्पत्ति हो, वही प्रकृष्ट कारण कहलाता है। इन्द्रियादिव्यापार के बाद ही प्रमारूप फल की निष्पति होती है, अतः वे ही कारण हैं न कि प्रमाता और प्रमेय।

प्रमाणलक्षण में अनुभव पद से अज्ञानरूप[4] यागादि कर्म तथा स्मृति की व्यावृत्ति की गई है,[5] क्योंकि ये दोनों ही अनुभवरूप नहीं हैं। न्यायमतानुसार स्मृति अनुभवभिन्न ज्ञान है तथा संस्कारजन्य है, जबकि अनुभव प्रमाणों द्वारा प्रसूत अभिनव ज्ञान होता है। यागादि भी ज्ञानभिन्न क्रियारूप होने से अनुभव नहीं हैं।

लक्षण में सम्यक् पद 'सम्यक् चासौ अनुभवः' इस कर्मधारय समास के द्वारा अनुभव का विशेषण है। यह पद 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्याकारक संशयज्ञान तथा शुक्तिरजतादि

1. तर्कभाषा, पृ. १८
2. तात्पर्यपरिशुद्धि, १।१।१
3. पा.सू. १।४।४२
4. विद्यां चाविद्यां च (ईशावास्योपनिषद्, ११)। यहां अविद्या शब्द से यागादि कर्म का ग्रहण है।
5. स्मरणाज्ञानव्यवच्छेदार्थमनुभवग्रहणम्। —न्यायसार, पृ. २

विपर्ययज्ञान की व्यावृत्ति के लिये दिया गया है ।[1] ये दोनों सम्यक् ज्ञान नहीं है, अतः इनके साधन इन्द्रियसंनिकर्षादि प्रमाणाभासों में प्रमाणलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं, क्योंकि प्रमाणों का सम्यक्त्व तथा प्रमाणाभासों का असम्यक्त्व उनसे जन्य फल पर ही आधारित है ।

संशयनिरूपण

'सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्' इस प्रमाणलक्षण में 'सम्यक्' पद से संशय और विपर्यय की व्यावृत्ति बतलाई गई है । अतः यह सिद्ध है कि सम्यक् ज्ञान तथा असमीचीन ज्ञान भेद से ज्ञान द्विविध है और संशय असम्यक् ज्ञान है । अतः प्रसंगप्राप्त संशय का स्वरूपज्ञानार्थ निरूपण किया जा रहा है, क्योंकि बिना स्वरूपज्ञान के किसीका ग्रहण अथवा परित्याग नहीं हो सकता ।

भाष्यकार तथा वार्तिककार का अनुसरण करते हुए भासर्वज्ञ ने 'अनवधारणज्ञानं संशयः'[2] यह संशय का लक्षण किया है । यहां 'अनवधारणं च तज्ज्ञानम्' – यह कर्मधारय समास है । अर्थात् अनिश्चयात्मक ज्ञान संशय कहलाता है । यद्यपि यह लक्षण व्याघात दोष से युक्त प्रतीत होता है, क्योंकि ज्ञानशब्द 'ज्ञायते प्रमीयतेऽवधार्यतेऽर्थोऽनेन' इस व्युत्पत्ति से तथा 'ज्ञानं मोक्षैककारणम्,'[3] 'मोक्षे धीर्ज्ञानम्'[4] इत्यादि वचनों से निश्चयज्ञानपरक हैं । तथापि यहां ज्ञान शब्द व्युत्पत्ति से निश्चयज्ञान का बोधक न होकर सामान्यतः ज्ञानत्वजातिमान् ज्ञानसामान्य का बोधक है, जैसे कि गो शब्द व्युत्पत्ति से गमनशील अर्थ का बोधक न होकर गोत्वजातिमान् अर्थ का बोधक है । ज्ञानत्व जाति निश्चयात्मक तथा अनिश्चयात्मक दोनों ज्ञानों में समवेत है ।

अनिश्चयात्मक ज्ञान संशय होता है - यह संशय का लक्षण मानने पर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी उससे होने वाली स्मृति के निश्चयात्मक होने से निश्चयात्मक ज्ञान है । 'यह वस्तु वहां नहीं है, इसके समान ही वह वस्तु है' — इत्याकारक निश्चयात्मक स्मृति से यह स्पष्ट है कि जिस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का यह स्मरण है वह भी निश्चयात्मक है । यद्यपि प्रथम क्षण में विशेषदर्शनादि निमित्त के बिना इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होने वाले ज्ञान को संशयात्मक या निश्चयात्मक कहना संभव नहीं, अतः ज्ञान की अनवधारणात्मकता का निश्चय नहीं होने से 'अनवधारणज्ञानं संशयः' यह संशय-लक्षण अनुपपन्न है, तथापि विशेषदर्शनादि कारणों के न होने पर भी अदृष्टादिसामग्री के कारण ज्ञान को संशयात्मक या निश्चयात्मक मानना पड़ता है ।

1. सम्यग्ग्रहणं संशयविपर्ययापोहार्थम् । —वही, पृ. १.

2. न्यायसार, पृ. १.

3. कौलोपनिषद्, पृ. २, तान्त्रिक टेक्स्ट्स, कलकत्ता ।

4. अमरकोश, १।५।६.

अन्यथा प्रथम ज्ञान को संशयात्मकता या निश्चयात्मकता के लिये विशेष–दर्शन को निमित्त मानने पर उस विशेष-दर्शन को अपनी निश्चयात्मकता अथवा संशयात्मकता के लिये द्वितीय विशेष-दर्शन की तथा द्वितीय विशेष–दर्शन को अपनी संशयात्मकता अथवा निश्चयात्मकता के लिये तृतीय विशेषदर्शन की अपेक्षा होने से अनवस्थाप्रसक्ति होगी। अतः अदृष्टादि निमित्त से भी ज्ञान की संशयात्मकता अथवा निश्चयात्मकता माननी होती है। इस प्रकार प्रथम क्षणोत्पन्न ज्ञान भी अदृष्टादि निमित्त से संशयात्मक हो सकता है और अनवधारणात्मक ज्ञान संशय है, यह लक्षण उपपन्न हो जाता है। 'अनवधारणज्ञानं संशयः' इस लक्षण में किसी प्रकार का दोष नहीं है, अधिक की आवश्यकता नहीं, तथापि इससे सूत्रकारकृत 'समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातो विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः'[1] इस सूत्र को अनर्थकता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि यह सूत्र संशय के विभाग और विशेष लक्षणों के बोधन के लिये है। भासवज्ञ ने भी 'स च समानधर्मानेकधर्मविप्रतिप्रत्युपलब्ध्यनुपलब्धिकारणभेदात् पंचधा भिद्यते'[2] यह कहकर उपर्युक्त तथ्य को स्पष्ट कर दिया है।

समानधर्म या अनेक-धर्मादि की उपलब्धिमात्र से संशय लोक में नहीं होता, फिर सूत्र में समानधर्मादि की उपलब्धि को संशय का कारण कैसे बतलाया गया है, इसका समाधान करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि समानधर्मादि संशय के सामान्य कारण नहीं, अपि तु इनका निर्देश संशय के विशेष कारण के रूप में किया गया है। अर्थात् संशयसामान्य के ये कारण नहीं, किन्तु संशयविशेष के कारण हैं और इन असाधारण कारणों का निर्देश संशय को समानजातीय अन्य संशयों से व्यावृत्त करने के लिये है।

तात्पर्य यह है कि किसी भी वस्तु के असाधारण कारण का कथन उस वस्तु को समानजातीय वस्तुओं से व्यावृत्त करता है और उसके सामान्यकारण का कथन विजातीय वस्तुओं से। जैसे—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न प्रमा प्रत्यक्ष प्रमा है। यहां पर इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूप असाधारण कारण का कथन प्रत्यक्ष प्रमा को सजातीय अनुमित्यादि प्रमाओं से व्यावृत्त करता है तथा 'प्रमा' यह सामान्यलक्षण प्रत्यक्ष प्रमा को विजातीय संशयविपर्ययादि से पृथक् करता है। अनुमित्यादि ज्ञान प्रमात्वेन प्रत्यक्ष प्रमा के सजातीय हैं और संशय-विपर्यय ज्ञान अप्रमात्वेन प्रत्यक्ष प्रमा के विजातीय हैं। इसी प्रकार संशय के लक्षण में भी 'अनवधारणज्ञानं संशयः'[3] यह सामान्य लक्षण संशय का प्रमाज्ञान से व्यवच्छेद बतलाता है तथा समानधर्मादि की उपलब्धिरूप विशेष कारणादि का कथन एक संशयज्ञान को दूसरे संशयज्ञान से भिन्न बतलाता है[4]।

1. न्यायसूत्र, १।१।२३
2. न्यायसार, पृ. १.
3. वही, पृ. १.
4. न्यायभूषण, पृ. १४.

सूत्रकार ने 'उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्था' इत्यादि का उपादान कुतर्करूप आशंका का परिहार करने तथा सहकारियों के उदाहरण के लिये किया है, न कि इसके द्वारा संशय की सम्पूर्ण सामग्री का उपस्थापन किया गया है, क्योंकि इनसे भिन्न भी अदृष्ट, अन्तःकरणादि संशय की सामग्री है, जिसका यहां अभिधान नहीं किया गया है, । जैसे—कोई व्यक्ति यह कहे कि समानधर्मोपलम्भ संशय का कारण नहीं, क्योंकि समानधर्मोपलम्भ होने पर भी रास्ते चलते हुए पुरुष को तृणादि में संशय नहीं होता । इसका उत्तर यही है कि केवल समानधर्मोपलब्धि ही संशय में कारण नहीं है, किन्तु विशेष धर्मों की स्मृतिरूप आकांक्षा भी संशय में कारण है ।[1] समानधर्मोपलब्धि विशेषाकांक्षा के अभाव में संशय की जनक नहीं है, तो उसे कारण कैसे माना जायेगा, यह कथन उपयुक्त नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर सहकारि कारण के अभाव में किसी भी कारण के कार्य का जनक न होने से उसमें अकारणतापत्ति दोष आयेगा । इसी प्रकार दूरस्थ प्रियतमा में समानधर्मोपलब्धि तथा विशेषाकांक्षा होने पर भी संशय क्यों नहीं होता ? इस शंका के निवारणार्थ 'उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातः' यह पद दिया गया है । अर्थात् केवल समानधर्मोपलब्धि और विशेषाकांक्षा ही संशय में कारण नहीं है, किन्तु उपलब्धि तथा अनुपलब्धि को अव्यवस्था भी कारण है[2] । दूरस्थ प्रियतमा में इन कारणों के न होने से संशय नहीं हो रहा है, क्यों यदि विद्यमान प्रियतमा की उपलब्धि के समान अविद्यमान प्रियतमा की उपलब्धि होती, तो उपलभ्यमान प्रिया में संशय हो सकता था । जैसे—सज्जल तथा मृगमरीचिकारूप असज्जल दोनों की उपलब्धि होने के कारण सत् की ही उपलब्धि होती है, इस व्यवस्था के न होने से वहां संशय बन जाता है । इसी प्रकार वेग से जाते हुए मनुष्य को पनसादि वृक्षों में वृक्षत्व की उपलब्धि और उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था होने पर भी विशेषकांक्षा न होने से संशय नहीं होता है । अतः सकलसहकारियुक्त समानधर्म ही संशय में कारण है न कि एक सहकारी से युक्त । यद्यपि उपर्युक्त सहकारियों से भिन्न अदृष्टादि भी संशय में सहकारिकारण हैं, तथापि वे सभी कार्यों में सहकारी हैं, उनका उपादान न करने पर भी उनमें सहकारिकारणता प्राप्त है । अतः सूत्र में सहकारिकारण रूप से उपादान नहीं किया गया है ।

संशय के सामान्यकारणों के निर्देश के पश्चात् सूत्र में निर्दिष्ट संशय के विशेष कारणों के निर्देशपूर्वक संशय के भेदों का निरूपण किया जा रहा है ।

१ समानधर्मोपलब्धि—

सूत्र में समानधर्मपद मे 'समानश्चासौ धर्मः' तथा 'समानानां धर्मः' इस प्रकार कर्मधारय तथा षष्ठी तत्पुरुष दोनों समासों का अवलम्बन है । 'समानश्चासौ

---

1. न्यायभूषण, पृ. १४. 2. वही.

धर्मः' इस कर्मधारय समास से दो वस्तुओं में पृथक्-पृथक् विद्यमान सदृश परिणामादि धर्मों का ग्रहण है तथा षष्ठी तत्पुरुष से दोनों वस्तुओं में अभिन्नरूप से विद्यमान सामान्य अवयवसंयोगादिलक्षण धर्मों का ग्रहण है। जैसे—'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस संशयोदाहरण में स्थाणु तथा पुरुष में विभिन्न रूपेण विद्यमान समान परिणाम आदि समान धर्मों की तथा स्थाणु और पुरुष दोनों में विद्यमान एक ही अवयवसंयोगादिरूप सामान्य धर्म की उपलब्धि है।

२ अनेकधर्मोपलब्धि

अनेकधर्मोपलब्धि अनवधारण का कारण होती है। अनेकधर्म पद में 'अनेकस्माद् व्यावर्तको धर्मः, अनेकस्यासम्बन्धी वा अनेकस्मिन् प्रतिषिद्धो वा अनेकप्रत्ययहेतुर्वा धर्मः'[1] इस प्रकार से अनेकधा मध्यमपदलोपी समास है। सभी समासों द्वारा वस्तु के असाधारण धर्म का लाभ है। जैसे—'आकाशविशेषगुणत्व' शब्द का असाधारण धर्म है, जो कि उसे अनित्यपृथिव्यादि से तथा नित्य आत्मादि से पृथक् करता है। यद्यपि यह असाधारण धर्म संशय का कारण नहीं बन सकता, क्योंकि संशय में विशेष की अपेक्षा है अर्थात् विशेष स्मरण को भी कारण मान गया है और असाधारण धर्म यदि परस्पर विरुद्धविशेष पृथिव्यादि तथा आत्मादि पदार्थों के साथ रहता हो, तो उससे उनका स्मरण होकर संशय में वह कारण बन सकता है, किन्तु वह उन विरुद्धविशेषों के साथ रहता नहीं। अतः विरुद्धविशेषों का स्मारक न होने से सशय में कारण कैसे हो सकता है?

दूसरी बात यह है कि असाधारण धर्म से संशय की निवृत्ति होती है न कि उद्भव। यदि असाधारण धर्म संशय में कारण होता, तो वह संशय का निवर्तक कैसे बनता? अतः असाधारण धर्म संशय का कारण नहीं बन सकता, ऐसा प्रशस्तपाद का कथन है।[2]

इसका समाधान यह है कि असाधारण धर्म भी विरुद्धविशेषों की स्मृति कराकर संशय का कारण बन सकता है। जैसे—शब्द आकाशविशेषगुणत्व धर्म के कारण अनित्य घटादि तथा नित्य आत्मादि दोनों से भिन्न है। अतः शब्द नित्य आत्मादि से व्यावृत्त होने के कारण घटादि की तरह अनित्य है अथवा अनित्य घटादि से व्यावृत्त होने के कारण आकाशादि की तरह नित्य है। नित्यत्व अनित्यत्व रूप दो विरोधी धर्मों का एक अधिकरण शब्द में संभव नहीं, अतः उपर्युक्त रीति से आकाशविशेषगुणत्व धर्म शब्द में नित्यत्व व अनित्यत्व रूप संशय का जनक हो जाता है। असाधारण धर्म को संशय का कारण मानने पर संशय की निवृत्ति नहीं होगी—यह कथन भी संगत नहीं, क्योंकि शब्द में कृतकत्वादि विशेषधर्मों के ज्ञान से संशय की निवृत्ति बन सकती है। श्रावणत्वादि की तरह कृतकत्वादि विशेषधर्म को शब्द के नित्यत्व-अनित्यत्व संशय में कारण मानना संगत नहीं, क्योंकि कृतकत्वादि धर्म लोक में निश्चित रूप से अनित्यत्व सहचारी घटादि में ही उपलब्ध है।

1 न्यायभूषण, पृ. १५. 2. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. १९५.

अथवा अनेक धर्म पद में 'अनेकश्चासौ धर्मः' यह कर्मधारय समास मानने पर वस्तु में विरुद्ध अनेक धर्मों की उपलब्धि संशय का कारण है, यह सिद्ध होता है। जैसे—मन क्रियावान् होने से क्रियावान् शरादि की तरह मूर्त है अथवा अस्पर्शवान् होने से अस्पर्शवान् आकाश की तरह अमूर्त है, इस प्रकार मन में क्रियावत्व तथा अस्पर्शवत्व—इन विरुद्ध धर्मों की उपलब्धि से उसमें मूर्तत्व और अमूर्तत्व का सन्देह बन जाता है। क्योंकि दोनों विरुद्ध धर्मों का परस्पर व्याघात होने से उनकी एकत्र स्थिति संभव नहीं। मन में क्रियावत्त्व तथा अस्पर्शवत्त्व इन विरुद्ध अनेक धर्मों की उपलब्धि के सदा रहने से उसमें मूर्तत्व और अमूर्तत्व का सन्देह सदा ही बना रहेगा, यह शंका भी उचित नहीं, क्योंकि केवल विरुद्ध अनेक धर्मों की उपलब्धि ही संशय में कारण नहीं, किन्तु उसके साथ उपलब्धि की अव्यवस्था आदि भी सहकारि कारण है। उसके न होने से सर्वदा संशय नहीं हो सकता।

क्रियावत्त्व तथा अस्पर्शवत्त्व—इन दो तुल्य बल वाले धर्मों की प्रसक्ति मन में मूर्तत्व या अमूर्तत्व के निर्णय की अनुत्पादिका है, न कि संशय की उत्पादिका—यह प्रशस्तपाद का कथन[1] भी संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि निर्णय का न होना ही संशय है। निर्णय के न होने पर अचेतन कुड्यादि की तरह मनुष्य बैठा नहीं रहता, किन्तु उसका पर्यालोचन करता है और पर्यालोचन बिना संशय के नहीं हो सकता।[2]

किसी भी धर्म का निर्णय न होने पर अनध्यवसाय होता है, न कि संशय, यह कथन[3] भी समुचित नहीं। क्योंकि जैसे अनेक धर्मों के होने पर निर्णय न होने से अनध्यवसाय माना जायेगा, तो दो विरुद्ध धर्मों की स्थिति भी वस्तु में किसी एक धर्म के निर्णय की अनुत्पादिक होने से अनध्यवसाय कोटि में ही आयेगी न कि संशयकोटि में, जबकि विरुद्ध धर्मों की स्थिति को प्रशस्तपाद भी संशय का कारण मानते हैं।[4] प्रशस्तपाद ने कर्मप्रकरण में यह प्रश्न उठाया है कि गमनत्व धर्म कर्मत्व का पर्यायवाची है अथवा कर्मत्व से भिन्न कोई सामान्य। उत्क्षेपणादि क्रियाओं में कर्मप्रत्यय की तरह गमनप्रत्यय के भी समान रूप से होने के कारण गमनत्व कर्मत्वपर्यायवाची है, यह प्रतीत होता है और गमन को उत्क्षेपणादि की तरह गमनरूप विशेष संज्ञा से अभिहित किया गया है, इससे यह प्रतीत होता है कि वह उत्क्षेपणादि की तरह कर्मत्व से भिन्न अपर सामान्य है।[5] इस प्रकार का संशय विरुद्धधर्मद्वय की स्थिति में प्रशस्तपाद ने बतलाया है तथा वक्ष्यमाण रीति से अनध्यवसाय भी संशय ही है, उससे भिन्न नहीं। अतः विरुद्धधर्मोपलब्धि की तरह अनेकधर्मोपलब्धि भी संशय का हेतु है यह सिद्ध हो जाता है।

1. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. १९३.
2. न्यायभूषण, पृ. १७
3. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. १९२.
4. न्यायभूषण, पृ. १७.
5. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. २५२.

३ विप्रतिपत्ति—

विप्रतिपत्ति अर्थात् परस्पर विरुद्ध धर्मों के प्रतिपादक वाक्य भी संशय के कारण हैं। जैसे - नैयायिक इन्द्रियों को भौतिक मानते हैं और सांख्य दार्शनिक अभौतिक। यहां पर इन्द्रियों में भौतिकत्व तथा अभौतिकत्व—इन दो विरुद्ध धर्मों के प्रतिपादक—'भौतिकानि इन्द्रयाणि,' 'अभौतिकानि इन्द्रियाणि'—ये दोनों वाक्य इन्द्रियों में भौतिकत्व—अभौतिकत्व रूप संशय के उत्पादक हैं। परस्पर व्याहृत वाक्य को सुनने वाले सभासद् को विशेषापेक्षा तथा उपलब्धि आदि की अव्यवस्थारूप सहकारिकारणों के सद्भाव में इन्द्रियाँ भौतिक हैं अथवा अभौतिक—यह सन्देह हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा शरीरादि से भिन्न है अथवा नहीं—इत्यादि भी विप्रतिपत्ति के उदाहरण हैं।

उपलब्धि—

उपलब्धि भी संशय में कारण है। जैसे, तडागादि में विद्यमान जल की उपलब्धि होती है तथा मृग-मरीचिकारूप अविद्यमान जलादि की भी। अतः जल की उपलब्धि से क्या यह जल विद्यमान है अथवा अविद्यमान—इत्याकारक संशय होता है।

अनुपलब्धि—

इसी प्रकार अनुपलब्धि भी संशय में कारण है। जैसे, विद्यमान पिशाच की भी उपलब्धि नहीं होती तथा अविद्यमान शशशृंगादि की भी। अतः भूगर्भ में विद्यमान मूलक, कीलक, उदकादि की अनुपलब्धि से अनुपलभ्यमान मूल कीलकादि सत् हैं अथवा असत्—यह सन्देह उत्पन्न हो जाता है।

भासर्वज्ञ ने संशयसूत्र में उपलब्धि तथा अनुपलब्धि पदों की तन्त्र द्वारा द्विरावृत्ति मानकर उपलब्धि को पृथक् संशय का कारण माना है तथा उनको अव्यवस्था का विशेषण मानकर उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था को संशयसामान्य का सहकारिकारण भी माना है। अतः उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था सभी पांच प्रकार के संशयों में सहकारिकारण है। इसी प्रकार विशेषापेक्षा भी। इसलिये—

१. उपलब्ध्युपपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातो विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः।

२ अनुपलब्ध्युपपत्तेरुपलब्ध्यव्यवस्थातो विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः।

३ समानधर्मोपपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातो विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः।

४. अनेकधर्मोपपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातो विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः।

५. विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातो विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः।

संशय की उपर्युक्त पंचसूत्री का निर्देश भासर्वज्ञ ने किया है ।[1]

उपलब्धि–अनुपलब्धि की अव्यवस्था तथा विशेषापेक्षा—ये पांच प्रकार के संशयों में सहकारिकारण हैं । अतः उपलब्धि तथा अनुपलब्धि को संशयविशेष का कारण मानने पर जो कुछ वस्तु उपलब्ध अथवा अनुपलब्ध होगी, उन सभी में संशय की प्रसक्ति है, ऐसा वार्तिककार का कथन[2] असंगत है, क्योंकि केवल उपलब्धि तथा अनुपलब्धि ही संशय के कारण नहीं हैं, अपितु उनके साथ उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्था तथा विशेषापेक्षा भी संशय के सहकारिकारण हैं । अतः उन सहकारिकारणों के न होने से सर्वत्र संशय की प्रसक्ति नहीं होती ।

उपलब्धि तथा अनुपलब्धि को संशय का कारण मानने पर उपलब्धिविषय वस्तु में जहां सत्त्व तथा असत्त्व का सन्देह है, वहां उपलब्धित्व तथा अनुपलब्धित्व सामान्य धर्म रहेगा, अतः इन दोनों का समानधर्म में ही अन्तर्भाव हो जायेगा, पृथक् संशयकारण मानने की क्या आवश्यकता है? इस विषय में भाष्यकार का कथन है कि समानधर्म तथा अनेक धर्म ज्ञेय वस्तु में रहते हैं और उपलब्धि तथा अनुपलब्धि ज्ञाता के धर्म हैं ।[3] इस प्रकार ज्ञेयस्थता तथा ज्ञातृस्थता के भेद से उनका समानधर्म से पृथक् उपादान किया गया है ।

भासर्वज्ञ ने यहां अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहा है कि केवल ज्ञेयस्थता तथा ज्ञातृस्थता का भेद होने से ही इनका समान धर्म से पृथक प्रतिपादन नहीं किया है, किन्तु प्रयोजनवशात् ।[4] चार्वाकादि दार्शनिक स्वर्ग, अपूर्व, देवतादि की असत्ता उनकी अनुपलब्धिमात्र से मानते हैं । इसी प्रकार मीमांसक उपलब्धिमात्र से शब्द में स्थायित्व मानते हैं और चार्वाक उपलब्धिमात्र से शरीर में चैतन्य की सत्ता मानते हैं, बौद्ध उपलब्धिमात्र से सामान्य आदि का आश्रय द्रव्य से अभेद मानते हैं । अतः उनके मत का निराकरण करने के लिये उपलब्धिमात्र और अनुपलब्धिमात्र को सन्देह का कारण कहा है । अर्थात् केवल उपलब्धि–अनुपलब्मिात्र से वस्तु का निर्णय नहीं होता, अपितु सन्देह होता है ।

निष्कर्ष—

भासर्वज्ञसम्मत संशयनिरूपण से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि सन्देह का पांचविध्य न्यायभाष्यकार वात्स्यायन के मत से बतलाया गया है । उद्योतकर के मतानुसार संशय समानधर्मज, अनेकधर्मज तथा विप्रतिपत्तिजन्य भेद से त्रिविध ही

1. न्यायभूषण, पृ. १८.
2. उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थानात् संशयो भवतीति ब्रुवाणो लोकं बाधते ।
कथमिति ? यत्किञ्चिदयमुपलभते सर्वत्रास्य संशयेन भवितव्यम् ।—न्यायवार्तिक, १।१।२३.
3. न्यायभाष्य, १।१।२३.
4. न्यायभूषण, पृ. १८.

है ।[1] उपलब्धि तथा अनुपलब्धि से जन्य सन्देहद्वय समानधर्मजन्य संशय में अन्तर्भूत है । रहस्य यही है कि उपलब्धि-अनुपलब्धि का समानधर्म से भेद न होने पर सूत्रकार ने 'समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च............' इस सूत्र में प्रयोजनवशात् उपलब्धि का पृथक् कथन किया है । सूत्रकार का अनुसरण करते हुए भासर्वज्ञ ने भी इनका प्रयोजनवशात् पृथक् कथन किया है और वह प्रयोजन परपक्ष का प्रतिक्षेप है, जिसका निरूपण पहिले किया जा चुका है । उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था को संशयसामान्य में कारण मानना भासर्वज्ञ की अपनी विशेषता है, जिसका उल्लेख प्राचीन भाष्यकार, वार्तिककार आदि ने नहीं किया है तथा उपलब्धि व अनुपलब्धि का समान धर्म से पृथक् कथन का प्रयोजन परपक्षप्रतिक्षेप भी इनकी अपनी विशेषता है ।

ऊह का संशय में अन्तर्भाव

'सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्' इस प्रमाण सामान्य के लक्षण में सम्यक् पद का व्यावर्त्य ऊह भी है । अतः व्यावर्त्यत्वेन प्रसक्त होने से स्वरूपज्ञानार्थ ऊह का निरूपण किया जा रहा है ।

ऊह तर्क का अपर पर्याय है, जैसा कि तर्क के 'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः'[2] इस सौत्र लक्षण से ज्ञात होता है । नैयायिकों ने इस तर्क को प्रमाण का भेद माना है । न्यायसार में भासर्वज्ञ ने ऊह का 'बाह्यालीप्रदेशे पुरुषेणानेन भवितव्यमित्यूहः'[3] यह लक्षण किया है । जयन्त ने भी ऊह का यही लक्षण किया है ।[4] संभवत भासर्वज्ञ ने उसी से प्रभावित होकर उसी लक्षण को अपना लिया है । उपर्युक्त ऊहलक्षण का स्पष्टीकरण करते हुए भासर्वज्ञ ने 'न्याय भूषण' में कहा है कि संशय और निर्णय के मध्यकाल में होने वाली 'भवितव्यम्' इत्याकारक प्रतीति ऊह है ।[5] यह ऊह अनवधारणात्मक ज्ञान होने से संशय में अन्तर्भूत है । 'सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्' इस प्रमाणलक्षण में 'सम्यक्' पद का उपादान संशय और विपर्यय के निराकरण के लिये है, यह कहा है, न कि ऊह तथा अनध्यवसाय की निवृत्ति के लिये भी, क्योंकि 'बाह्याली प्रदेश में इस पुरुष को होना चाहिये' इत्याकारक ऊह तथा 'इस वृक्ष का क्या नाम है' इत्याकारक अनध्यवसाय भी अनिश्चयात्मक होने से 'अनवधारणज्ञानं संशयः' इस संशय-लक्षण

1. तत्र समानधर्मोपपत्तोरनेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेश्च त्रिविध एव संशय इतरपदविशेषणाद् भवतीति सूत्रार्थः ।—न्यायवार्तिक, १।१।२३.
2. न्यायसूत्र, १।१।४०.
3 न्यायसार, पृ. २.
4. यथा बाह्यकेलिप्रदेसादाबूर्ध्वत्वविशिष्टधर्मिदर्शनात् पुरुषेणानेन भवितव्यमिति प्रत्ययः ।
—न्यायमंजरी, उत्तर भाग, पृ. १४५.
5. कश्चायमूहः ? संशयनिर्णयान्तरालभावी भवितव्यात्मकः प्रत्ययः ।—न्यायभूषण, पृ. २०.

से आक्रान्त हैं।[1] न्यायसूत्रकार ने भी इसी कारण से संशय में प्रमात्व का व्यावर्तन करने के लिये प्रत्यक्ष-लक्षण में 'व्यवसायात्मक' पद का प्रयोग किया है, ऊह तथा अनध्यवसाय की व्यावृत्ति के लिये किसी अन्य पद का प्रयोग नहीं किया है क्योंकि उनको भी ऊह तथा अनध्यवसाय के अनिश्चयात्मक ज्ञान होने से उन दोनों की संशयान्तर्भूतता अभिप्रेत है। यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अनवधारणज्ञानरूप समानता के कारण ऊह, अनध्यवसाय तथा संशय—तीनों को यदि एक ही माना जायेगा, तो प्रत्यक्षादि चारों प्रमाणों को भी प्रमासाधनतारूप समानता के आधार पर एक ही मानना चाहिये। इसका समाधान करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि प्रत्यक्षादि चारों प्रमाण प्रमासाधनत्वेन एक ही हैं, केवल प्रत्यक्ष प्रमासाधनत्वादि अवान्तर विशेषताओं के कारण उनमें भेदव्यवहार है, उसी प्रकार संशय, ऊह तथा अनध्यवसाय अनवधारणात्मक होने से एक ही हैं, केवल अवान्तर भेद उनमें है। प्रमासाधनत्वेन प्रत्यक्षादि प्रमाणों के एक होने पर भी प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम की भिन्नता का व्यवहार समाप्त नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष व्यवहार का विशिष्ट निमित्त इन्द्रियार्थसंनिकर्ष अनुमान और आगम में नहीं है, इसलिये प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन प्रमाणों का अवान्तर भेद बना रहता है।[2]

ऊह का संशय में अन्तर्भाव स्वीकार न करने वाले नैयायिकों तथा वैशेषिकों की यह आशंका है कि संशय 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्याकारक विकल्पात्मक कोटिद्वय का अवगाहन करता है, परन्तु ऊह में 'स्थाणुरयं पुरुषो वा' इत्याकारक पदार्थद्वयाश्रित विकल्पात्मकता का अभाव है। क्योंकि अश्ववाह्यप्रदेश में स्थाणु की संभावना अनुपपन्न है[3] इस बाधक प्रमाण से स्थाणुत्व—कोटि की आशंका जब निवृत्त हो जाती है,[4] तब 'पुरुषेणानेन भवितव्यम्' इत्याकारक एककोटिक संभावनात्मक ज्ञान ऊह कहलाता है। अत इसे संशय नहीं माना जा सकता तथा पुरुषत्वसाधक शिरः-पाण्यादिरूप साधक प्रमाण के अभाव से इसे निर्णय भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि निर्णय के लिये प्रतिपक्ष का निषेधमात्र ही अपेक्षित नहीं है, अपितु स्वपक्ष-साधन भी. जैसाकि सूत्रकार ने बतलाया है—संशयानन्तर स्वपक्ष की स्थापना तथा परपक्ष के निराकरण द्वारा जो अर्थविनिश्चय होता है, उसे निर्णय कहते हैं।[5] ऊह में केवल परपक्षप्रतिषेध प्रतीत होता है, न कि पुरुषत्वरूप पक्ष का साधन। इसलिये ऊह निर्णय में अन्तर्भूत नहीं हो सकता। इसीलिये सूत्रकार ने संशय तथा निर्णय से इसका पृथक् कथन किया है।

---

1. अनवधारणत्वाविशेषादूहानध्यवसाययोर्न संशयादर्थान्तरभावः।—न्यायसार, पृ. २.
2. न्यायभूषण, पृ १२.
3. तुरंगमाणां गमने योग्यदेशावमर्शतः।
शैथिल्यात् स्थाणुकोटिर्हि नैव संभावनास्पदम्॥—न्यायभूषण, पृ. २२.
4. बाधकप्रमाणात् कोट्यन्तराशंकायां निवृत्तायाम्।—न्यायभूषण, पृ. २०.
5. विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः।—न्यायसूत्र, १।१।४१.

उपर्युक्त आशंकाओं का समाधान भासर्वज्ञ ने इस प्रकार किया है कि यह नियम नहीं कि संशय में विकल्पात्मक दो कोटियों का उल्लेख हो ही। विकल्पात्मक दो कोटियों के उल्लेख के बिना भी संशय होता है। जैसे—जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है, यह निश्चय कर अपनी मृत्यु के विशिष्ट काल को न जानता हुआ कोई सन्देह करता है कि मेरी मृत्यु कब होगी? आज मृत्यु होगी या कल—ये दो कोटियां यहां अर्थतः प्राप्त हैं, किन्तु 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' की तरह उसका उल्लेख नहीं किया गया है। अतः जिस प्रकार 'मृत्युर्मे कदा भविष्यति?' यह अविकल्पात्मक संशय है, वैसे ही 'पुरुषेणानेन भवितव्यम्' यह एककोटिक ऊह भी विकल्परहित संशय ही है। इसमें स्थाण्वादिपक्ष की उपेक्षा पुरुषपक्ष में अधिक कारणों के होने से द्रष्टा पुरुषपक्ष की संभावना करता है, किन्तु पक्षान्तरों का सर्वथा अभाव वहां नहीं बतलाया गया है। अतः पक्षान्तर की भी आशंका संभावित है और इस प्रकार अर्थतः वहां भी संशय की तरह द्विकोटिक ज्ञान है। दूसरी कोटि का सर्वथा निरास करने पर तो फिर ऊह संशय न रहकर निर्णय ही हो जायेगा, क्योंकि समस्त पक्षान्तराभावोपलक्षित ऊर्ध्वत्वादि पुरुष का विशेष धर्म होकर निर्णय का निमित्त बन जाता है।[1] इसलिये ऊह में कोट्यन्तर का स्पष्ट कथन भले ही न हो, परन्तु उसकी आशंका तो बनी रहती है। अन्तर इतना ही है कि ऊह में एक कोटि उत्कट होती है और संशय में दोनों कोटियां समान।[2] इसी आधार पर उसे संशय न मानना असंगत है।

सूत्रकार द्वारा ऊह का पृथक् उपादान भी ऊह की संशय से पृथक्ता का साधक नहीं, क्योंकि प्रतिज्ञादि अवयवों के प्रमाणरूप होने पर भी जैसे परानुमितिप्रतिपत्यर्थ उनका प्रमाण से पृथक् कथन किया है तथा जिस प्रकार हेत्वाभासों का निग्रहस्थानों में अन्तर्भाव होने पर भी प्रयोजनभेद से उनका पृथक् कथन किया है उसी प्रकार संशय में अन्तर्भूत होने पर भी प्रयोजनविशेष के लिये ऊहरूप तर्क का पृथक् कथन है।

ऊह के पृथक् अभिधान का प्रयोजन

वात्स्यायनआदि पूर्वाचार्यों ने ऊह का संशय से पृथक् कथन का प्रयोजन प्रमाणों का अनुग्रह माना है।[3] भासर्वज्ञ के परवर्ती किरणावलीकार उदयन ने भी तर्क की प्रमाणानुग्राहकता का निर्देश किया है तथा अनियत जिज्ञासा के विच्छेद से नियत

1. न्यायभूषण, पृ. २०.

2. सत्यं, संशयता साम्येऽप्यन्तरालिकभेदभाक्।
ऊहोऽयमुत्कटः कोटावेकस्यामस्तु का क्षतिः॥—न्यायमुक्तावली, प्रथम भाग, पृ २२.

3. तर्कविविक्ते विषये प्रमाणानि प्रवर्तमानानि तर्केण अनुगृह्यन्ते इति पूर्वाचार्याः।
—न्यायभूषण, पृ. २१.

जिज्ञासा का जनन ही तर्क द्वारा प्रमाणों का अनुग्रह बतलाया है ।[1] किन्तु भासर्वज्ञ ने वादादि में वादी, प्रतिवादी की प्रवृत्ति को तर्क का प्रयोजन माना है । तात्पर्य यह है कि कतिपय दार्शनिकों का कथन है कि नैयायिक की वादादि में प्रवृत्ति उचित नहीं है, क्योंकि विचारक की निश्चय के बिना प्रवृत्ति नहीं हो सकती और इस साधन अथवा दूषण से मुझे प्रतिवादी को पराजित करना है. ऐसा निश्चय वादी को वादप्रवृत्ति से पूर्व नहीं होता, क्योंकि दूसरे के अभिप्राय को जानना अत्यन्त दुष्कर है । परीक्षित प्रज्ञा वाले पुरुष में भी कदाचित् उपाध्याय आदि द्वारा समझाये जाने पर अज्ञान या विरुद्ध ज्ञान देखा जाता है, यह वस्तुस्थिति है । अतः निश्चय के बिना वादी, प्रतिवादी की वादादि में प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।

इस आशंका का परिहार करने के लिये भासर्वज्ञ ने वादादि में प्रवृत्ति के लिये तर्क की उपयोगिता मानी है । अर्थात् जिनमें जयपराजय-हेतुता प्रमाण से निश्चित हो अथवा तर्क से सुसंभावित (अनुगृहीत) हो, उन साधनों और दूषणों का नैयायिक को वादादि में प्रयोग करना चाहिए ।[2] उन्हीं से विजयसिद्धि और पराजयपरिहार संभव होते हैं । अर्थात् वादी तथा प्रतिवादी स्वपक्षसिद्धि के लिये तथा परपक्ष-खण्डन के लिये जिन साधनों और दूषणों का प्रयोग करना चाहता है, वे यद्यपि प्रमाण द्वारा निश्चित नहीं हैं, तथापि तर्क द्वारा कारणोपपत्ति से संभावित हैं, तो उनसे भी स्वविजय तथा परपराजय संभावित है । इस प्रकार तर्क वादादिप्रवृत्ति में कारण है । इसीलिये तर्क का पृथक् कथन किया है ।[3] इसी तथ्य का अपरार्क ने भी प्रतिपादन किया है ।[4]

अनध्यवसाय का संशय में अन्तर्भाव

वैशेषिक संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, स्वप्नभेद से चार प्रकार की अविद्या मानते हैं ।[5] उन्होंने अनध्यवसाय को संशय से पृथक् माना है । किसी वृक्ष को देखने पर वृक्षसामान्य के व्याप्य आम्रपनसादि विशेष संज्ञाओं का स्मरण कर 'इस वृक्ष का क्या नाम है', इत्याकारक ज्ञान अनध्यवसाय कहलाता है, क्योंकि उसमें आम्रादि संज्ञाविशेष का निश्चय नहीं है । इसे संशय में अन्तर्भूत नहीं

---

1. अनियतजिज्ञासाविच्छेदेन नियतं जिज्ञासाजननमनुग्रहः । सैव संभावनेत्युच्यते ।
—किरणावली, पृ. १७१.

2. जयपराजयहेतुत्वेन प्रमाणनिश्चितौ वा साधनोपालम्भौ तर्कविषयीकृतौ वा वादादिषु नैयायिकेनाभिधातव्यौ ।—न्यायभूषण, पृ. २२.

3. वयं तु प्रतिपद्यामहे—वादादिप्रवृत्ति—विशेषणार्थः तर्कः पृथगुपदिष्टः ।—न्यायभूषण, पृ. २१.

4. न्यायमुक्तावली, प्रथम भाग, पृ. २३.

5. तत्राविद्या चतुर्विधा संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणा—प्र.पा.भा., पृ. १३७,

किया जा सकता, क्योंकि संशय में 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस प्रकार दोनों विकल्प विशेषविषयक हैं, जबकि अनध्यवसाय में विशेषविषयक विकल्प न होकर 'इस वृक्ष की संज्ञा क्या है' ऐसा सामान्यरूप से अनिश्चयात्मक ज्ञान होता है। इसे संशय से पृथक् मानने में निम्नलिखित युक्तियां वैशेषिक ग्रन्थों में प्राप्त होती हैं :—

१. अनध्यवसाय प्रसिद्धार्थक तथा अप्रसिद्धार्थविषयक होता है, जबकि संशय प्रसिद्धार्थ-विषयक ही होता है।

२. प्रसिद्धार्थ का ज्ञान होने पर भी अनध्यवसाय देखा जाता है। जैसे, राजा का ज्ञान होने पर भी 'इस राजा का क्या नाम है', ऐसा नामविषयक अनध्यवसाय होता है।

३. संशय सामान्यधर्मोपलम्भ से उत्पन्न होता है, जबकि अनध्यवसाय सामान्य-धर्मोपलम्भ के बिना भी होता है।

४. संशय उभयोल्लेखी होता है, जबकि अनध्यवसाय उभयोल्लेखी विकल्प के बिना भी 'किं संज्ञकोऽयं वृक्षः' इत्यादिरूप से होता है।

५. अनध्यवसाय में किमित्याकारक उल्लेख होता है, जबकि संशय में ऐसा उल्लेख नहीं होता। अतः अनध्यवसाय को संशय से पृथक् मानना चाहिये।

भासर्वज्ञ ने वैशेषिक मत का निराकरण करते हुए ऊह की तरह अनध्यवसाय का भी संशय में अन्तर्भाव बतलाया है। उनका कथन है कि अनध्यवसाय का जो उदाहरण 'किं संज्ञकोऽयं वृक्षः' प्रस्तुत किया गया है, वहां उस पुरोदृश्यमान पदार्थ की वृक्ष इस सामान्य संज्ञा के अतिरिक्त आम्र, पनस, आमलकादि में से कोई विशेष संज्ञा भी है। उन विशेष संज्ञाओं में से इस वृक्ष में कौनसी विशेष संज्ञा है, उसका ज्ञान न होने से तद्विषयक सन्देह होता है और उसी संशय को 'किं-संज्ञकोऽयं वृक्षः ?' इस रूप से व्यक्त किया गया है। पदार्थद्वयविषयक संशय में 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस रूप से विशेष विषय का उल्लेख संभव होने पर भी अनेककोटिक संशय में विशेषविषयक उल्लेख संभव न होने से वहां सामान्यतः 'किमिदम्' इस प्रकार का ही उल्लेख किया गया है। जैसे, हजारों गायों के अधिपति को उन गायों की भद्रा, नन्दा आदि संज्ञाओं का ज्ञान होने पर भी 'तुम्हारी एक गाय ब्याई है' यह कहने पर 'कतमा गौः प्रसूता' अर्थात् कौनसी गाय ब्याई है, इत्याकारक ही संशय होता है, न कि भद्रा ब्याई है या नन्दा इत्यादि विशेष विकल्पोल्लेखी संशय।[1] अनध्यवसाय के सम्बन्ध में प्रशस्तपाद और व्योमशिवाचार्य के कथन का खण्डन करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है—'एतेन व्यासंगादर्थित्वाच्च इषुकारादीनामनध्यवसायः संशयान्तर्भावितो द्रष्टव्यः।[2] 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्याकारक

---

1. गौः प्रसूतेति गोपालसामान्यवचनश्रुतेः।
कतमा गौः प्रसूतेति सन्देह इति लौकिका॥—न्यायमुक्तावली, प्रथम भाग, पृ. २५.

2. न्यायभूषण, पृ. २३.

विकल्पोल्लेखी संशयस्थल में भी 'न जानीमः किमिदम्' इस प्रकार का मानस उल्लेख होता ही है, अतः अनध्यवसाय में 'किमिदम्' इत्याकारक उल्लेख भी उसे संशय से पृथक् सिद्ध नहीं कर सकता ।[1]

'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्याकारक संशय में जिस प्रकार स्थाणु व पुरुष दोनों में ऊर्ध्वत्व, परिणाहत्वादि सामान्य धर्मों का ज्ञान है, उसी प्रकार 'किसंज्ञकोऽयं वृक्षः' इस अनध्यवसाय में भी आम्र, पनस, आमलकादि विविध संज्ञाविषयक संशयज्ञान का जनक पर्णशाखास्कन्धत्वादि सामान्यधर्म का ज्ञान विद्यमान है । संशय सर्वत्र प्रसिद्धार्थविषयक ही होता है, यह नियम भी नहीं, क्योंकि स्थाणुपुरुषस्थल में ही 'क्या यह पुरोदृश्यमान वस्तु स्थाणु है या एतत्समान कोई अन्य वस्तु है,' ऐसा संशय होता है । अतः सविकल्पक तथा निर्विकल्पक दोनों ज्ञानों में अवान्तर भेद होने पर भी जैसे 'सम्यगपरोक्षानुभवसाधनं प्रत्यक्षम्'[2] इस प्रत्यक्षलक्षण के अनुगत होने से उन्हें प्रत्यक्ष ही माना जाता है उसी प्रकार अनवधारणत्वरूप समानता के कारण अनध्यवसाय भी संशय से भिन्न नहीं है ।[3]

निष्कर्ष :

वैशेषिक दार्शनिक उभयोल्लेखी विमर्श को संशय मानते हैं, जैसा कि प्रशस्तपादाचार्य ने कहा है—'किं स्यात् इत्युभयावलम्बी विमर्शः संशयः ।'[4] संशय की तरह अनध्यवसाय उभयोल्लेखी नहीं होता, अतः वैशेषिक उसे संशय से पृथक् मानते हैं । भासर्वज्ञ ने तर्क के संशयान्तर्भाव–निरूपण में ही स्पष्ट कर दिया है कि संशय में दो कोटियों का उल्लेख अनिवार्य नहीं है । 'मृत्युर्मे कदा भविष्यति' इत्याकारक कोटिद्वयानवलम्बी संशय भी होता है । 'किमिदम्' इत्याकारक उल्लेख के आधार पर भी अनध्यवसाय को संशय से पृथक् नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानस उल्लेख संशय में भी होता है ।

---

1. न्यायमुक्तावली, प्रथम भाग, पृ. २५.

2. न्यायसार, पृ. २.

3. भासर्वज्ञ के इस समाधान पर प्रश्न उपस्थित होता है । निर्विकल्पक तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष मे प्रत्यक्षलक्षण के अनुगत होने पर भी दोनों की अवान्तर भेद के आधार पर भिन्न भिन्न संज्ञा है, उसी प्रकार संशयलक्षण की अनध्यवसाय तथा ऊह मे व्याप्ति होने पर भी अवान्तर भेद के कारण ऊह और अनध्यवसाय संज्ञाभेद उचित क्यों नहीं ? समाधान—अवान्तर भेद सविकल्पक और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मे है, न कि प्रत्यक्ष व सविकल्पक या निर्विकल्पक में । अतः सविकल्पक व निर्विकल्पक ज्ञानों का परस्पर भेद है, किन्तु प्रत्यक्ष से उनका भेद नहीं । उसी प्रकार अवान्तर भेद ऊह तथा अनध्यवासय ज्ञान मे है, किन्तु संशय से उन दोनों का भेद नहीं है । दोनों ही अनवधारणात्मक होने से संशयान्तर्गत हैं । अतः यह शंका निराधार है ।

4. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. १७०.

भासर्वज्ञ के परवर्ती वैशेषिक दार्शनिक श्रीमद्वल्लभाचार्य ने अनध्यवसाय के संशयान्तर्भाव का खण्डन करते हुए कहा है—'......संशय एवायमिति भूषणः। नैवम्। सामान्यतोऽवगते विशेषतोऽज्ञाते जिज्ञासिते वाच्यविशेषे यदा किं शब्दाभिलापः तदानध्यवसायः। अव्यवस्थितनानावाचकवाच्यत्वप्रतिभासे तु संशय इति'।[1] लीलावतीकारकृत अनध्यवसाय के संशयान्तर्भाव का यह प्रत्याख्यान भी निराधार है, क्योंकि अनध्यवसाय में भी संशय की तरह वस्तु का सामान्यधर्मपुरःसर ज्ञान है तथा करचरणादिमत्त्वादिरूप विशेषधर्मपुरःसर नहीं। तथा 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्याकारक संशय में भी 'किमिदम्' इत्याकारक मानस उल्लेख होता है, अतः यह भेदकथन निराधार है।

विपर्यय-निरूपण

महर्षि गौतम ने निम्नलिखित न्यायसूत्र में विपर्यय का मिथ्याज्ञान शब्द से निर्देश किया है—

"दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।"[2]

आत्मादि अपवर्गपर्यन्त प्रमेयों में मिथ्याज्ञान की अनेकप्रकारता का संकेत करते हुए भाष्यकार ने उसके स्वरूपपरिचायक अनेक उदाहरण दिये हैं। जैसे—'आत्मनि तावन्नास्ति,' 'अनात्मनि आत्मेति'[3] इत्यादि। वार्तिककार ने विपर्यय का स्वरूप बतलाते हुए कहा है—'अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः।'[4] अर्थात् भिन्न वस्तु में भिन्न वस्तु की प्रतीति विपर्यय है। जैसे, सर्प-भिन्न रज्जु में सर्पप्रतीति, रजतभिन्न शुक्ति में रजत की प्रतीति।

आचार्य भासर्वज्ञ ने विपरीत अर्थ के निश्चय[5] को अर्थात् भिन्न वस्तु में भिन्न वस्तु के ज्ञान को विपर्यय कहा है। जैसे—एक चन्द्र में 'द्वौ चन्द्रौ' इत्याकारक ज्ञान। चन्द्रमा के एक होने पर भी तर्जनी से नेत्रपुत्तलिका को निष्पीडित करने से दो चन्द्रमाओं का अनुभव किया जाता है। चन्द्रमा के उत्तरकालभावी एकत्वज्ञान से चन्द्रद्वित्वज्ञान के बाधित होने के कारण उसकी विपर्यस्तता स्फुट है। यह जाग्रदवस्था का विपर्यय है। सोये हुए व्यक्ति का गजादिदर्शन भी विपर्यय है। यह स्वप्नावस्था का विपर्यय है।[6] 'द्वौ चन्द्रौ' इस उदाहरण से विपर्यय का स्वरूप स्पष्ट हो जाने पर भी सोये हुए पुरुष का गजादिदर्शन—

1. न्यायलीलावती, पृ. ५७.
2. न्यायसूत्र, १।१।२.
3. न्यायभाष्य, १।१।२.
4. न्यायवार्तिक, १।१।२.
5. मिथ्याध्यवसायो विपर्ययः।—न्यायसार, पृ. २.
6. विपर्ययो द्विधा—अनुभूयमानारोपः स्मर्यमाणारोपश्च।—न्यायतात्पर्यदीपिका, पृ. ६६.

यह उदाहरणान्तर सभी प्रकार के विपर्ययों का संग्रह करने तथा मतान्तर का निषेध करने के लिये दिया गया है। अर्थात् एक चन्द्रमा में द्विचन्द्रविज्ञान से जागरणकालिक विपर्ययों का संग्रह हो जाने पर भी स्वप्नकालिक स्वप्नरूप विपर्यय का संग्रह नहीं होगा। अतः तत्संग्रहार्थ यह उदाहरण दिया गया है।

स्वप्न के पृथक्ज्ञानत्व का निराकरण

वैशेषिक स्वप्न को विपर्ययज्ञान से भिन्न मानते हैं,[1] जैसा कि प्रशस्तपादभाष्य में कहा है—'अविद्या चतुर्विधा संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणा'।[2] किन्तु यहां 'सुप्तस्य गजादिदर्शनम्' को विपर्यय के उदाहरण रूप में प्रस्तुत करने से स्वप्न गजादि ज्ञान विपर्यय ही है, यह सिद्ध किया है। क्योंकि स्वप्न में गजादि के न होने पर भी गजादिज्ञान होना विपरीतार्थज्ञान ही है। इतना ही अन्तर है कि स्वप्नगजादिज्ञानरूप विपर्यय उपरत इन्द्रिय वाले तथा प्रलीनमनस्क पुरुषों को होता है और लोक में सर्ववादिसंमत रज्जुसर्पादि विपर्ययज्ञानों में इन्द्रियों की उपरति तथा मन का प्रलय नहीं होता। अवान्तर वैधर्म्यमात्र के होने पर भी विपरीतार्थ का ज्ञान जाग्रद्विपर्यय तथा स्वाप्नविपर्यय दोनों में समान है। अतः विपर्ययलक्षणाक्रान्त होने से स्वप्नज्ञान भी विपर्यय ही है।[3]

जिन स्वप्नज्ञानों में निश्चयात्मकता नहीं होती, उन ज्ञानों के अनवधारणात्मक होने से उनका संशय में अन्तर्भाव हो जाता है। कार्य संशय को देखकर कारण के सामर्थ्य का अवधारण किया जाता है, अतः स्वाप्नसंशय में समानधर्मादि का सम्यग् ज्ञान न होने से भ्रान्त समानधर्मादिज्ञान को भी संशय में कारण मानना पड़ता है।[4] इस प्रकार अनवधारणात्मक स्वप्नज्ञान का भी संशय में अन्तर्भाव है। अनवधारणात्मक तथा विपरीत निश्चयात्मक स्वप्नज्ञान से भिन्न अनुभूत अर्थ का प्रकाशक स्वप्नज्ञान स्मरणकोटि में आ जाता है तथा स्वप्न में उपर्युक्त तीनों प्रकारों से भिन्न जो सम्यक् अनुभवात्मक स्वप्नज्ञान है, वह प्रत्यक्षप्रमारूप होने से प्रत्यक्ष

1. वैशेषिकदर्शन में स्वप्न को विपर्यय से पृथक् माना गया है। किरणावलीकार उदयनाचार्यने प्रशस्तपादप्रोक्त विपर्ययलक्षण में 'प्रत्ययः' शब्द से स्वप्न की व्यावृत्ति की है, क्योंकि प्रत्यय पद जागरावस्था के ज्ञान का बोधक है और स्वप्नगजादिज्ञान जागरावस्था का ज्ञान नहीं है। इसीलिये उन्होंने कहा है -- 'प्रत्यय इति जागरावस्थात्वं तेन स्वप्नव्यवच्छेद इति। एतदुक्तं भवति – अयथार्थं निश्चयात्मकं जागरावस्थाज्ञानं विपर्यय इति, लोके तथैव प्रसिद्धेः' (किरणावली, पृ. १७४)

2. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. १३७

3. न्यायमुक्तावली, प्रथम भाग, पृ. ६३

4. तच्च समानधर्मादिज्ञानं सम्यग्वा भवतु भ्रान्तं वा इत्युभयथापि सहकारिसहकृतं संशयकारणत्वेनेष्टम्, कार्यदर्शनाद्धि कारणस्य सामर्थ्यमवधार्यत इति। —न्यायभूषण, पृ. २५.

है। जैसे—सुखादि का संवेदन। इस प्रकार सभी स्वप्नादिज्ञानों का संशय, विपर्यय, स्मृति तथा प्रत्यक्ष प्रमा में अन्तर्भाव हो जाने से स्वप्नज्ञान को संशय, विपर्यय, स्मृत्यादि से भिन्न मानना असंगत है।

उपर्युक्त रीति से विपर्यय जाग्रत्कालिक विपर्यय तथा स्वाप्न विपर्यय भेद से दो प्रकार का है।

बाह्य तथा आध्यात्मिक निमित्तों के भेद से विपर्यय के अनेक भेद हो जाते हैं[1]—

१. रज्जु में 'सर्प' इत्याकारक तथा स्थाणु में 'पुरुष' इत्याकारक विपर्यय सादृश्य-हेतुक है।
२ शुक्ल पट में रक्तादिज्ञान द्रव्यान्तरसंसर्गहेतुक है।
३. स्फटिकादि में रक्तादिज्ञान जपाकुसुमरूप उपाधिसंनिधानमात्र हेतुक है।
४ क्रमशः होने वाले कार्यों में यौगपद्य का ज्ञान आशुभावितहेतुक है।
५. स्थिर पदार्थों में चलने का ज्ञान नावादियानगतिमूलक है।
६. इन्द्रजालादि का ज्ञान मन्त्र-औषधादिसामर्थ्यहेतुक है।

ये भेद बाह्य-निमित्तप्रधान विपर्यय के हैं।

१. चक्षुरादि के पित्तादि से अभिभूत होने पर शंखादि में पीतिमा का ज्ञान,
२. तिमिर दोष के कारण केशाभाव होने पर भी केशोण्डुक (केशसमूह) का ज्ञान तथा एक चन्द्र में अनेकत्व का अवभास,
३. संस्कारातिशय के कारण युवति आदि विषय के अभाव में भी युवति आदि का अवभास,
४. असत् शास्त्र के अभ्यास से अश्रेयस् में श्रेयस्त्व का तथा मोक्षादि के अनुपायों में उपायत्वज्ञान,
५. अदृष्टसामर्थ्य के कारण दिग्भ्रम,
६. निद्रासहित संस्कारातिशयादि से स्वप्नज्ञान।

ये विपर्ययज्ञान आध्यात्मिक निमित्तहेतुक हैं।

स्मर्यमाणारोप विपर्यय के उदाहरण 'सुप्तस्य गजादिदर्शनम्' का प्रयोजन जयसिंहसूरि ने अविवेकख्याति (स्मृतिविप्रमोष), अख्याति, असत्ख्याति, प्रसिद्धार्थ-ख्याति, आत्मख्याति, अनिर्वचनीयख्याति, अलौकिकार्थख्याति—इन सात विपर्ययप्रकारों का निरास तथा स्वमतानुसार विपरीतार्थख्याति का प्रस्थापन माना है।[2]

विपर्ययज्ञान सभी दार्शनिकों को स्वीकृत है, किन्तु उसके स्वरूप में दार्शनिकों में परस्पर महान् वैमत्य है। क्योंकि विपर्यय में जिस वस्तु की प्रतीति होती है, उस प्रतीयमान वस्तु के स्वरूप को लेकर दार्शनिकों का मतभेद है और उसी के कारण विपर्यय के स्वरूप में भेद हो जाता है। प्रतीयमान वस्तु किसी के मत में

1. न्यायभूषण, पृ. २५-२६ 2. न्यायतात्पर्यदीपिका, पृ. ६७

असत्, किसी के मत में सत्, किसी के मत में अलौकिक, किसी के मत में प्रसिद्ध वस्तु तथा किसी के मत में अनिर्वचनीय आदि है। और इन्हीं आधारों पर असत्ख्याति आदि नामों से दार्शनिकों ने उन्हें व्यवहृत किया है। भासर्वज्ञ ने 'न्यायभूषण' के 'विपर्ययप्रकरण' में ८ प्रकार की ख्यातियों का प्रतिपादन किया है।[1]

उपर्युक्त सभी ख्यातियों को दो प्रधान विभागों में विभक्त किया जा सकता है—१ निरालम्बन ख्याति, २ सालम्बन ख्याति। जिसमें विपर्यय का कोई आलम्बन नहीं होता, अपितु बिना आलम्बन विपर्यय की प्रतीति होती है, उसे निरालम्बनख्याति कहते हैं। इस निरालम्बनख्याति को मानने वाले अख्यातिवादी माध्यमिक बौद्ध हैं। वे भ्रमज्ञान का कोई आलम्बन स्वीकार नहीं करते। दूसरी सालम्बन ख्याति है। इसमें भ्रमज्ञान का आलम्बन होता है, क्योंकि निरालम्बन ज्ञान नहीं होता। किन्तु उन आलम्बनों का भिन्न-भिन्न स्वरूप होने से यह सालम्बन ख्याति, असत्ख्याति, प्रसिद्धार्थख्याति आदि भेद से ७ प्रकार की है। भ्रमज्ञान का विषय असत्पदार्थ है, ऐसा मानने वाले असत्ख्यातिवादी माध्यमिकैकदेशी बौद्ध हैं। भ्रमज्ञान का आलम्बन प्रसिद्ध प्रतीयमान पदार्थ है, ऐसा मानने वाले प्रसिद्धार्थख्यातिवादी चार्वाक हैं। अलौकिक अर्थ भ्रमज्ञान का आलम्बन है ऐसा मानने वाले अलौकिकार्थख्यातिवादी भट्ट उम्बेक आदि हैं। तत्ताज्ञानरहित रजत का स्मरण भ्रमज्ञान का आलम्बन है, ऐसा मानने वाले प्राभाकरमीमांसक हैं। रजतरूप ज्ञानाकार आत्मा ही भ्रम का आलम्बन है, ऐसा मानने वाले आत्मख्यातिवादी सौत्रान्तिक वैभाषिक बौद्ध हैं। सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय विषय ही भ्रम का आलम्बन है, ऐसा मानने वाले अनिर्वचनीय-ख्यातिवादी वेदान्ती हैं। विषय की अन्य रूप से प्रतीति भ्रम में होती है, ऐसा मानने वाले न्यायनिपुण नैयायिक हैं। स्वरूपज्ञानार्थ इन सभी ख्यातियों का यहां संक्षेप में निरूपण किया जा रहा है—

अख्याति

माध्यमिक बौद्धों के अनुसार शुक्तिरजतादिभ्रमज्ञान का कोई भी आलम्बन नहीं है, क्योंकि रजतसत्ता को रजतज्ञान का आलम्बन मानने पर जल में जलज्ञान होने से वह सम्यग्ज्ञान होगा न कि भ्रमज्ञान। रजताभाव की वहां प्रतीति नहीं, अतः वह आलम्बन हो नहीं सकता। शुक्ति भी आलम्बन नहीं हो सकती, क्योंकि शुक्ति की प्रतीति मानने पर वह ज्ञान शुक्ति में शुक्तिविषयक होने से समीचीन ज्ञान होगा और अप्रतीयमानशुक्ति आलम्बन नहीं हो सकती। रजताकार से शुक्ति

1. Bhāsarvajña discusses 8 different theories regarding the status of the contect of erroneous judgment. This is rather interesting because Vācaspati Miśra, in a similar context in Tātparyaṭīkā, mentions only 5 different theories or Khyātis. — "The Encyclopedia of Indian Philosophers, Vol. II (Summary of Nyāyabhūṣaṇa by B. K. Matilal), Matilal Banarasidass, Delhi, 1977, p. 411.

की भ्रम में प्रतीति होती है, यह कथन भी समीचीन नहीं, क्योंकि भिन्न वस्तु का भिन्नाकार से ग्रहण लोक में अनुभूत नहीं है, अन्यथा पट का भी घटाकार से ग्रहण होने लग जायेगा। अतः शुक्तिरजतादि ज्ञान सर्वथा निरालम्बन है। यही अख्याति है।

किन्तु बौद्धों का भ्रमस्थल में निरालम्बनवाद सर्वथा असमीचीन है, क्योंकि किसी पदार्थ के आलम्बन न होने पर उस ज्ञान में रजतज्ञान, जलज्ञान इत्याकारक विशेषता की प्रतीति अनुपपन्न होगी तथा भ्रान्तिज्ञान को निरालम्बन मानने पर सुषुप्तिदशा से इसका कोई भेद न होगा। प्रतीयमान अर्थ से भिन्न कोई आलम्बन नहीं है, यह मानने पर प्रतीयमान अर्थ के आलम्बन होने से ख्याति को निरालम्बनता व अख्यातित्व का विघात होगा। अतः अख्यातिवाद अनुपपन्न है।

असत्ख्याति

बौद्धैकदेशी भ्रमस्थल में असत्पदार्थ को आलम्बन मानता है, क्योंकि शुक्ति-रजतादिभ्रमस्थल में शुक्ति में रजत अर्थ की प्रतीति होती है और सत् रजतरूप अर्थ का शुक्ति में अभाव है। अतः असत् रजतरूप अर्थ को शुक्ति का आलम्बन मानने से इसे असत्ख्याति कहना उचित है। किन्तु यह मत भी असमीचीन है, क्योंकि असत् आकाशकुसुमादि की प्रतीति लोक में अनुभूत नहीं है। अतः असत् की प्रतीति मानना लोकानुभवविरुद्ध है तथा असत् अर्थ को भ्रम का आलम्बन मानने पर उसमें किसी प्रकार के वैचित्र्य की सत्ता न होने से भ्रम-ज्ञानों में अनुभूयमान वैचित्र्य की भी अनुपपत्ति होगी।

प्रसिद्धार्थख्याति

चार्वाक असत् को प्रतीति की अनुपपन्नता के कारण शुक्तिरजतादिभ्रमस्थल में प्रमाणसिद्ध रजतादि अर्थ को ही उसका आलम्बन मानता है। क्योंकि भ्रम की निवृत्ति के बाद भ्रमस्थल में रजत की प्रतीति न होने से भ्रमकाल में भ्रमस्थल में रजतादि की प्रतीति अनुभवसिद्ध है। अतः उस काल में उसकी सत्ता मानना भी आवश्यक है, क्योंकि पदार्थों की सत्ता प्रतीति से ही सिद्ध होती है। करतलादि के अस्तित्व में भी प्रतीति ही प्रमाण है। अतः प्रतीतिसिद्ध प्रसिद्ध अर्थ के भ्रम का आलम्बन न होने से वह शुक्तिरजतादि भ्रमस्थल में प्रसिद्धार्थख्याति मानता है।

किन्तु यह मत भी अविचारितरमणीय ही प्रतीत होता है, क्योंकि प्रमाणसिद्ध अर्थ की भ्रमस्थल में प्रतीति मानने पर समीचीन जलादिज्ञान की तरह मरीचिजल में भी प्रमाण-सिद्ध अर्थ की प्रतीति होने से वह समीचीन ज्ञान कहलायेगा न कि भ्रमज्ञान। तथा उत्तरकाल में उदक की प्रतीति न होने से उदक के अभाव में भी पूर्वकाल में प्रसिद्ध जलजन्य भूस्निग्धता का उपलम्भ होना चाहिए।

अलौकिकार्थख्याति

चार्वाकाभिमत प्रसिद्धार्थख्याति में उपर्युक्त दोष के कारण भट्ट उम्बेक भ्रमस्थल में अलौकिक अर्थ की प्रतीति मानते हैं। उनके मतानुसार भ्रमस्थल में शुक्तिरजतादि-ज्ञान में लौकिक रजत तो आलम्बन हो नहीं सकता, क्योंकि वहां उसका अस्तित्व नहीं है और बिना विषय के उसका ज्ञान या प्रतीति अनुपपन्न है। अतः ऐसे स्थलों में अलौकिक अर्थ की प्रतीति मानना उचित है। लौकिक रजत के वहां न होने पर भी अलौकिक रजत का अस्तित्व वहां माना जा सकता है और वही भ्रम-ज्ञान का आलम्बन है। यही अलौकिकार्थख्याति है।

किन्तु यह मत भी समीचीन नहीं, क्योंकि वस्तु का अस्तित्व प्रमाणों से सिद्ध होता है। भ्रमस्थल में अलौकिक अर्थ किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। प्रत्यक्षादि-प्रमाणों से सिद्ध न होने पर भी विपर्यय प्रमाण से यह सिद्ध है, क्योंकि विपर्ययदशा में ही अलौकिक अर्थ की प्रतीति होती है, यह मानना भी उचित नहीं, क्योंकि अलौकिकार्थ को प्रमाणसिद्ध मानने पर सम्यग् रजतादिज्ञान की तरह उत्तरकाल में उसके बाध की अनुपपत्ति होगी। तथा विपर्यय को अलौकिकार्थसाधक प्रमाण भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह स्वयं उत्तरकाल में बाध्यमान है और बाध्यमान प्रमाण नहीं होता।

स्मृतिप्रमोष

अलौकिकार्थख्याति में उपर्युक्त दोषों का सद्भाव होने से प्रभाकर शुक्तिरजतादि-स्थल में स्मृतिविप्रमोष मानता है। अर्थात् शुक्तिरजतज्ञान रजत का स्मरणात्मक ज्ञान हैं, किन्तु दोष के कारण उस ज्ञान में तत्ता की प्रतीति नहीं होती है। अर्थात् 'तद्रजतम्' इस रूप से उसकी प्रतीति नहीं होती, यही स्मृतिप्रमोष है। किन्तु यह मत निर्दुष्ट नहीं है, क्योंकि दोष के कारण रजतस्मरण में तत्तांश का प्रमोष हो जाने पर भी 'रजतम्' इत्याकारक ही प्रतीति होनी चाहिये न कि 'इदं रजतम्' इत्याकारक। लेशतः भी अपूर्व अंश की प्रतीति मानने पर स्मृतित्व की अनुपपत्ति होगी। इसीलिये 'सोऽयं देवदत्तः' इत्याकारक अपूर्वांशप्रतिभासी ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा माना जाता है न कि स्मृति। मनोदोष के कारण स्मृति शुक्तिरूप अर्थ की रजताकार-रूप से प्रतीति कराती है, ऐसा मानने पर तो अन्यथाख्याति ही हो जायगी, क्योंकि अन्य वस्तु की अन्याकारता से प्रतीति ही अन्यथाख्याति है। तथा भ्रम संस्काररहित केवल मनोदोषों से भी होता है। अतः विपर्यय को स्मृति मानना उचित नहीं।

दूध तथा जल के मिल जाने पर जैसे उनकी भेदेन प्रतीति नहीं होती उसी प्रकार शुक्ति के इदमित्याकारक अनुभवज्ञान तथा 'रजतम्' इत्याकारक स्मृतिज्ञान की भेदेन प्रतीति न होकर 'इदं रजतम्' इस रूप से अभेदेन प्रतीति को भी स्मृति-विप्रमोष नहीं माना जा सकता। क्योंकि ऐसा मानने पर दो भिन्न ज्ञानों की

अभेदेन प्रतीति अन्यथाख्याति ही हो जायेगी तथा दोनों ज्ञानों के अभेदज्ञान को स्मृतिविप्रमोष मानने पर 'इदं रजतम्' इस ज्ञान के उत्तरकालभावी 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान की बाधकता अनुपपन्न होगी। क्योंकि दोनों ज्ञानों के अभेदज्ञान का बाधक ज्ञान तो दोनों का भेद कराने वाला होना चाहिये, न कि रजत का निषेध कराने वाला। अतः स्मृतिविप्रमोष भी भ्रमस्थल में अनुपपन्न है।

आत्मख्याति

विज्ञानवादी, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक बौद्ध भ्रमस्थल में आत्मख्याति मानते हैं। उनका कहना है कि 'रजतज्ञानम्,' 'जलज्ञानम्' इत्यादि विशिष्ट व्यवहारज्ञान में ज्ञानगत या अर्थगत विशेषता मानने पर ही हो सकता है। भ्रमस्थल में रजतादि की सत्ता न होने से उनको उस व्यवहार का प्रवर्तक नहीं माना जा सकता। स्मृत्युपस्थापित रजत पूर्वकालिक अनुभव का ही विशेषक हो सकता है, वर्तमानकालिक 'इदं रजतम्' इस ज्ञान का नहीं, क्योंकि उसका पूर्व अनुभवात्मक ज्ञान से ही सम्बन्ध है, वर्तमानकालिक रजतज्ञान से नहीं। शुक्तिका को भी भ्रमज्ञान का विशेषक नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसकी प्रतीति होने पर रजत की प्रतीति ही नहीं होगी। अतः अर्थ रजतज्ञानादिविशिष्ट व्यवहार का प्रवर्तक नहीं हो सकता। परिशेषात् ज्ञान को ही विशिष्ट व्यवहार का प्रवर्तक मानना होगा। भ्रमस्थल में ज्ञानाकार अन्तःस्थ रजत ही अनादिविद्योपप्लववशात् बाह्य की तरह प्रतीत होता है। चूंकि यह रजत ज्ञान से भिन्न वस्तु नहीं, अपितु ज्ञानाकार ही है और क्षणिक विज्ञान ही बौद्धमत में आत्मा होता है, इसलिये ज्ञानाकार रजत की प्रतीति ही आत्मख्याति शब्द से व्यपदिष्ट हुई है।

यह मत भी अनुपपन्न है, क्योंकि प्रथम तो अर्थ ज्ञान के आकारविशेष नहीं, अपितु ज्ञान से भिन्न स्वतन्त्र हैं, यह अनुभवसिद्ध है तथा उपर्युक्त रीति से सभी अर्थों के ज्ञानाकार होने से ज्ञानाकारता का किसी भी ज्ञान में व्यभिचार न होने से ज्ञानों में बाध्यबाधकभाव की अनुपपत्ति होगी। इसी प्रकार रजतादि अर्थों को ज्ञानाकार मानने पर ज्ञान की सुखादि की तरह अन्तःसत्ता होने से बाह्यत्वेन उनकी प्रतीति तथा ज्ञाता की रजतादिग्रहण के लिये बहिःप्रवृत्ति नहीं बनेगी।

अनिर्वचनीयख्याति

वेदान्ती भ्रमस्थल में अनिर्वचनीयख्याति मानते हैं। उनका कथन है कि बिना विषय के ज्ञान नहीं होता और जिस ज्ञान में जिस वस्तु की प्रतीति होती है, वही उसका विषय होता है, जैसे समीचीन ज्ञान में। भ्रमस्थल में 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में रजत की प्रतीति होती है, अतः रजत को ही उस ज्ञान का विषय मानना होगा। किन्तु वह रजत सत् नहीं हो सकता, क्योंकि सत् होने पर वह ज्ञान भ्रम नहीं कहलायेगा और उत्तरकाल में उसका बाध नहीं होगा। असत् मानने पर

आकाशकुसुमादि की तरह उसकी प्रतीति अनुपपन्न होगी। विरोधी वस्तुओं का समुच्चय तमःप्रकाश की तरह अनुपपन्न होने से वह प्रतीयमान रजत सदसत् स्वरूप भी नहीं है। अतः उस प्रतीयमान रजत के स्वरूप का किसी भी प्रकार निर्वचन संभव न होने से उसे अनिर्वचनीय माना जाता है और वह अनिर्वचनीय रजत ही शुक्तिरजतभ्रमस्थल में रजतज्ञान का विषय है। इसी लिये भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय पदार्थ की प्रतीति होने से इसे अनिर्वचनीयख्याति कहा जाता है।

यह मत भी समीचीन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि भ्रमस्थल में नियत देश, काल, स्वभाव वाले रजत की सद्रूप से ही प्रतीति होती है। इसीलिये रजतार्थी पुरुष की प्रवृत्ति उसके ग्रहण में होती है। सदसद्विलक्षण वस्तु की प्रतीति तथा उसके ग्रहण में मानव की प्रवृत्ति नहीं होती।

विपरीतख्याति

उपर्युक्त रीति से भिन्न-भिन्न दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत सभी ख्यातियों में दोष होने से न्यायनिपुण नैयायिक भ्रमस्थल में विपरीत ख्याति मानते हैं। विपरीत ख्याति का तात्पर्य विपरीत अर्थ की प्रतीति नहीं है, अपितु पुरोविद्यमान अर्थ की विपरीत रूप से प्रतीति है। अर्थात् शुक्तिरजतस्थल में पुरोवर्ती शुक्ति की शुक्तित्व रूप से विपरीत रजतत्वरूप से प्रतीति विपरीत-ख्याति है। अन्य प्रकार से प्रतीति होने के कारण ही इसे अन्यथाख्याति भी कहा जाता है। इस मत में रजतज्ञान का आलम्बन तो शुक्ति ही है जो कि सत् है, किन्तु दोषवशात उसकी प्रतीति रजतरूप से होती है।

प्रमाणसंख्या

प्रमाणादि षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान से अपवर्ग की प्राप्ति होती है और तत्त्वज्ञान के लिये प्रमाणों का विवेचन तथा परिज्ञान नितान्त अपेक्षित है, क्योंकि प्रमाण ही सम्यक् अनुभव के साधन हैं। तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के लिये प्रमाणादि की संख्या तथा उनके विशेष लक्षण की जिज्ञासा होने से प्रमाणों की संख्या का निरूपण किया जा रहा है, क्योंकि प्रमाण के सम्बन्ध में संख्यादिविषयक विप्रतिपत्ति होने के कारण प्रमाणों के लक्षण, संख्या, विषय तथा फल की जिज्ञासा स्वाभाविक है। धर्मोत्तर तथा शालिकनाथ ने भी प्रमाणों के सम्बन्ध में उपर्युक्त चार प्रकार की विप्रतिपत्तियों का उल्लेख किया है।[1]

---

1 (A) चतुर्विधा चात्र विप्रतिपत्तिः संख्या–लक्षण–गोचर–फलविषया।

—धर्मोत्तरप्रदीप (न्यायबिंदु तथा न्यायबिंदुटीका सहित), पृ. ३५.

(B) स्वरूपसंख्यार्थफलेषु वादिभिः।
यतो विवादा बहुधा वितेनिरे ॥—प्र. पं., पृ. ३८.

भासर्वज्ञ को तीन प्रमाण मान्य हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम, न इनसे न्यून और न अधिक । अन्य दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत उपमानादि का उन्होंने इन तीन प्रमाणों में ही अन्तर्भाव कर दिया है ।

प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी चार्वाक के मत का खण्डन

चार्वाकमतानुसार प्रत्यक्ष से भिन्न अनुमान प्रमाण न मानने पर इतरव्यावृत्ति अथवा व्यवहार लक्षण का प्रयोजन होता है – इस सिद्धान्त का व्याकोप होगा, क्योंकि इतरव्यावृत्ति व व्यवहार की सिद्धि अनुमान द्वारा ही होती है तथा विप्रतिपन्न, अप्रतिपन्न तथा संदिग्ध व्यक्तियों के बोधार्थ प्रेक्षावान् की प्रवृत्ति भी नहीं होगी, क्योंकि परपुरुषगत विप्रतिपत्ति, अप्रतिपत्ति तथा सन्देह के ज्ञान के बिना उनका बोधन संभव नहीं और उनका ज्ञान उनके वचन, चेष्टादि लिंगों के द्वारा अनुमेय ही है । अतः अनुमान को प्रमाण मानना आवश्यक है ।

प्रमाणसंप्लव तथा प्रमाण विप्लव

'त्रिविधं प्रमाणम्'[1] इस वाक्य में प्रमाण शब्द में एकवचन का प्रयोग कहीं-कहीं प्रत्यक्षादि तीनों प्रमाणों का विषय एक होता है, इस प्रकार प्रमाणसंप्लव का बोधन करने के लिये किया गया है । जैसे, अतिदूरस्थ पर्वतादि प्रदेश में आप्तवचन के द्वारा मानव को अग्नि का ज्ञान होता है । वहीं पर कुछ पास आने पर पर्वत में धूम को देखकर अनुमान द्वारा भी अग्नि का ज्ञान करता है तथा अतिसमीप पहुंचकर वह पर्वत-प्रदेश में प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा भी अग्नि का ज्ञान कर लेता है । इस प्रकार पर्वतप्रदेश में अग्नि का ज्ञान प्रत्यक्षादि तीनों प्रमाणों से होने से यहां तीनों प्रमाणों का संप्लव है ।[2]

किन्तु 'प्रत्यक्षमनुमानमागमः' में तीनों प्रमाणों का व्यस्तरूप से अभिधान किया है । उससे ग्रन्थकार यह ध्वनित कर रहे हैं कि कहीं-कहीं पर तीनों प्रमाणों का संप्लव न होकर उनकी व्यवस्थिति अर्थात् पृथक्-पृथक् विषयता भी होती है ।[3] जैसे--'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस श्रुतिवाक्य में अग्निहोत्र के द्वारा प्राप्तव्य स्वर्ग का ज्ञान न प्रत्यक्ष से होता है और न अनुमान से, क्योंकि स्वर्ग के लोकान्तरस्थ तथा शरीरान्तर द्वारा प्राप्य होने से वह चक्षुरादिरूप प्रत्यक्षप्रमाण का विषय नहीं है तथा उसके कार्य का यहां प्रत्यक्षज्ञान न होने से अनुमान प्रमाण का भी विषय नहीं है । किन्तु श्रुतिरूप आगम प्रमाण के द्वारा ही अग्निहोत्रसाध्य स्वर्ग का ज्ञान होता है । मेघगर्जना सुनने पर उससे मेघ का ज्ञान न चक्षुरादिरूप प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही होता है और न किसी आप्तवचनरूप आगम प्रमाण से, अपि तु

1 न्यायसार, पृ. २.

2 न्यायभूषण, पृ ८१-८२.

3 न्यायभूषण, पृ. ८२.

मेघगर्जनरूप कार्य के द्वारा अनुमान प्रमाण से ही होता है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष दृष्ट करपादादि का ज्ञान प्रत्यक्षरूप प्रमाण द्वारा ही होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा उनका ज्ञान हो जाने पर अनुमान व आगम प्रमाणों की आकांक्षा न होने से उनकी वहां प्रवृत्ति नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक प्रमाण का पृथक्-पृथक् व्यवस्थित विषय भी होता है। जयन्त भट्ट ने भी भाष्यकार के इस प्रमाणसम्प्लव तथा प्रमाण-व्यवस्था का उल्लेख किया है।[1]

प्रमाणसंप्लवसंबन्धी बौद्धों की आशंका का निराकरण

बौद्ध दो प्रकार का प्रमेय मानते हैं—स्वलक्षण और सामान्य। उनकी यह मान्यता है कि प्रत्यक्ष स्वलक्षणविषयक होता है, अर्थात् वस्तु का असाधारण स्वरूप प्रत्यक्ष का विषय होता है। वस्तुओं का समारोप्यमाण साधारण स्वरूप सामान्यलक्षण होता है।[2] सामान्यलक्षण अनुमान के द्वारा ग्राह्य होता है। इस प्रकार प्रमेयानुसार प्रमाण व्यवस्थित विषयक हैं, उनका किसी भी विषय में संप्लव नहीं। अतः बौद्ध व्यवस्थित प्रमेयप्रमाणवादी कहलाते हैं।

पारमार्थिक और सांवृतिक—दो प्रकार की सत्ताओं को लेकर बौद्धों ने अपना समस्त वाग्व्यवहार माना है। जैसा कि कहा है—'द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना'।[3] प्रत्यक्षप्रमाण पारमार्थिक है और अनुमान प्रमाण सांवृतिक है। स्वलक्षण तत्त्व पारमार्थिक है और सामान्य लक्षण काल्पनिक। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण होने के कारण उसे पारमार्थिक कहते हैं और अनुमान का विषय सामान्य होने के कारण उसे सांवृतिक कहते हैं। इसे ऐसे भी कहा जा सकता है कि वस्तुदृष्टि से प्रमाण एकमात्र प्रत्यक्ष है, अनुमान नहीं, क्योंकि अनुमान का विषय कल्पना पर आश्रित है, वस्तु पर नहीं।[4]

---

1 तदुदाहरणं तु भाष्यकारः प्रदर्शितवान्......, अग्निराप्तोपदेशात्प्रतीयतेऽमुत्रेति प्रत्यासीदता धूमदर्शनेन अनुमीयते प्रत्यासन्नतरेण उपलभ्यते इत्यादि क्वचित्तु व्यवस्था दृश्यते यथा अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यस्मदादेरागमादेव ज्ञानं न प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्..., स्वहस्तौ द्वौ इति तु प्रत्यक्षादेव प्रतीतिर्न शब्दानुमानाभ्यामिति, तस्मात्स्थितमेतत् प्रायेण प्रमाणानि प्रमेयमभिसंप्लवन्ते क्वचित्तु प्रमेये व्यवतिष्ठन्तेऽपीति।—न्यायमंजरी, पूर्वभाग, पृ ३३.

2 सामान्येन लक्षणं सामान्यलक्षणम्। साधारणं रूपमित्यर्थः। समारोप्यमाणं हि रूपं सकलबह्निसाधारणम्। तत् सामान्यलक्षणम्।—न्यायबिन्दुटीका, पृ. १५.

3 माध्यमिककारिका, २४।८.

4 शांकरवेदान्त संभवत: इन्हीं विचारों से प्रभावित होकर महावाक्यों को एकमात्र पारमार्थिक प्रमाण और उनसे भिन्न प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, लौकिक शब्द और अर्थापत्ति—इनको व्यावहारिक प्रमाण मानता है। क्योंकि एकमात्र ब्रह्म वस्तु अबाधित तत्त्व है। अत: महावाक्य अबाधितविषयक है और प्रत्यक्षादि बाधितविषयक।

इनके विपरीत नैयायिक अव्यवस्थितप्रमाणवादी हैं। उनके अनुसार प्रमाणों का कहीं सम्प्लव तथा कहीं व्यवस्था।[1] प्रमाणों के सम्बन्ध में इस मान्यता के औचित्य के लिये सूत्रकार का अवलम्ब लेते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है—'सूत्रकृताऽपि प्रमाणानां समस्तेनैकपदेनाभिधानादभिन्नविषयत्वं सूचितम्, बहुवचनेनाभिधानाद् व्यवस्थितविषयत्वं सूचितमिति'।[2] अर्थात् सूत्रकार ने 'प्रमाण प्रमेय...' इत्यादि दण्डकसूत्र में प्रमाणों का समस्त एकपद से अभिधान कर उनकी अभिन्नविषयता को सूचित किया है तथा 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि'[3] इस सूत्र में बहुवचनान्त प्रयोग से प्रमाणों की व्यवस्थितविषयता का प्रतिपादन किया गया है।

ऊपर यह बतलाया है कि प्रमाणों की संख्या व लक्षण नियत हैं। किन्तु लोकायत सूत्रों के व्याख्याकार उद्भट ने 'अथातस्तत्त्वं व्याख्यास्यामः,' 'पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति' इन सूत्रों की व्याख्या अन्य प्रकार से करते हुए कहा है कि प्रमाण-प्रमेयादि की संख्या व लक्षण का नियमन करना शक्य नहीं है।[3AB] अतः पृथिवी, जल आदि चार ही तत्त्व चार्वाक मत में नहीं है, किन्तु इनसे भिन्न भी माने जा सकते हैं। द्वितीय सूत्र में 'इति' पद पृथिव्यादि चार तत्त्वों से भिन्न इसी प्रकार के अन्य तत्त्वों का भी बोधक है। इस तरह पृथिव्यादि प्रमेयों की संख्या का नियमन जैसे अशक्य है वैसे प्रमाणों की संख्या का नियमन भी अशक्य है, इसका समर्थन करते हुए उसने कहा है कि अन्धकार में या नेत्रों का निमीलन करने पर मानव की विरल अंगुलि वाले हाथ में वक्रांगुलित्व का ज्ञान होता है। इस ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता, क्योंकि नेत्र मूंद लेने पर हस्त से चक्षु का सम्बन्ध नहीं है तथा घोरान्धकार में भी चाक्षुष प्रत्यक्ष संभव नहीं है, क्योंकि चाक्षुष प्रत्यक्ष में आलोकसंयोग भी कारण है और त्वगिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष इसलिये नहीं माना जा सकता कि हस्तस्थ त्वगिन्द्रिय का विषय हस्त नहीं, अन्यथा चक्षु भी अपने गोलक का प्रत्यक्ष करने लग जायगी। अतः यहां हस्त में अंगुलिवक्रता के ज्ञान के लिये किसी प्रमाणान्तर की आवश्यकता है। इसी प्रकार रात्रि में दूर से दीपशिखा के देखने पर प्रान्तभागों में फैली हुई प्रभाओं की प्रतीति होती है और वायुप्रकम्पित कमलसमूह से दूरस्थगन्ध का ज्ञान होता है। यहां भी पर्यन्तदेशप्रसृत प्रभा तथा गन्ध के साथ चक्षुरादि इन्द्रियों का सम्बन्ध नही है। अतः इनके ज्ञान के लिये भी प्रमाणान्तर की आवश्यकता है, अतः प्रमाणों की इयत्ता संभव नहीं।

---

1. तस्मादस्ति क्वचित संप्लवः क्वचिद् व्यवस्था चेति। —न्या. मू. पृ. ८३.
न्या. मू. पृ. ८३.

2 न्या. सू. १।१।३.

3 (अ) चार्वाकधूर्तस्तु अथातस्तत्त्वं व्याख्यास्याम इति प्रतिज्ञाय प्रमाणप्रमेयसंख्यालक्षणनियमाशक्यकरणीयत्वमेव तत्त्वं व्याख्यातवान्, प्रमाणसंख्यानियमाशक्यकरणीयत्वसिद्धये च प्रमितिभेदान् प्रत्यक्षादिप्रमाणानुपजन्यानीदृशानुपादर्शयत। —न्यायमञ्जरी, पूर्वभाग, पृ. ५१.
(ब) चार्वाकधूर्तस्त्विवति उद्भटः,...। —न्यायमञ्जरीग्रन्थिभङ्ग, पृ. ४३.

किन्तु जयन्त भट्ट का कथन है कि उपर्युक्त दोनों स्थलों में क्रमशः त्वाच प्रत्यक्ष तथा अनुमान द्वारा हस्त में अंगुलिवक्रता तथा प्रान्तभागप्रसृत प्रभा में कमलखण्ड का ज्ञान संभव है। क्योंकि नेत्र मूंद लेने पर करस्थत्वग्गत इन्द्रिय का हस्त से संयोग संभव न होने पर भी त्वागिन्द्रिय के सर्वशरीरव्यापि होने से शरीरान्तर्गत त्वगिन्द्रिय का हस्त से संयोग उपपन्न है और त्वगिन्द्रिय शरीरान्तर्गत भी है अत एव तुषारजल पीने पर शरीर के अन्दर शैत्य का ज्ञान होता है। यदि यह कहा जाय कि अंगुलिसंयोग का तो त्वगिन्द्रिय से ज्ञान संभव है, क्योंकि वहां त्वगिन्द्रिय का अंगुलि से सयोग है, किन्तु अंगुलिवक्रताज्ञान विरलांगुलित्व के कारण होता है और विरलांगुलित्व अंगुलिसंयोगाभाव है, उसके साथ त्वगिन्द्रिय का सम्बन्ध न होने से वक्रांगुलित्व-ज्ञान त्वगिन्द्रिय से कैसे होगा, यहां आशंका भी समुचित नहीं। क्योंकि 'यो गुणो येनेन्द्रियेण गृह्यते तेनैव तन्निष्ठा जातिस्तदभावश्चापि गृह्यते' इस न्याय के अनुसार अंगुलिसंयोग की तरह अंगुलिसंयोगाभाव का भी त्वगिन्द्रिय से ग्रहण शक्य है। अतः विरलांगुलित्वरूप अंगुलिसंयोगाभाव का ज्ञान त्वक् से हो जाता है। अंगुलिसंयोगाभाव का घोरान्धकार में त्वगिन्द्रिय द्वारा उपर्युक्त रीति से ज्ञान होने पर भी अंगुलिवक्रता का ज्ञान कैसे होगा, क्योंकि वक्रता केवल संयोगाभावरूप नहीं है, यह शंका भी अनुपपन्न है, क्योंकि अंगुलिवक्रता अंगुलिगत क्रियाविशेष है। अतः उसका भी त्वगिन्द्रिय से ज्ञान शक्य है क्योंकि त्वक् और चक्षु स्वसम्बद्ध गुण की तरह स्वसम्बद्ध क्रिया का भी प्रत्यक्षज्ञान करती है। अतः सन्तमस में अंगुलिवक्रता का ज्ञान त्वाच प्रत्यक्ष से संभावित होने से तदर्थ किसी प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार दूर से दीपशिखा को देखने पर प्रान्तभागों में प्रसृत प्रभा तथा पवनकम्पित कमल का ज्ञान भी अनुमान प्रमाण से हो जाता है। अतः तदर्थ भी प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं। इसीलिये सभी पदार्थों का ज्ञान नियत प्रमाणों से उपपन्न हो जाने के कारण प्रमाणगत संख्या की अशक्यकरणीयता संभव नहीं और प्रमाणों की संख्या नियत है।[1]

---

1. न्यायमञ्जरी, पूर्वभाग, पृ. ६०.

तृतीय विमर्श

प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रत्यक्षलक्षण – विमर्श

प्रत्यक्ष सभी प्रमाणों का मूल होने के कारण सर्वप्रमाणोपजीव्य है तथा ज्येष्ठ भी है, अतः सर्व प्रथम उसीका निरूपण किया गया है। न्यायसम्प्रदाय में प्रत्यक्ष का इतिहास सुदीर्घ है। अक्षपादकृत प्रत्यक्षलक्षण में समय-समय पर संशोधन किया गया। पुरातन लक्षण में नूतन विचारों की उद्भावना की जाने लगी। भासर्वज्ञाचार्य ने पुरातन परिभाषा का पूर्णतया परित्याग कर प्रत्यक्ष प्रमाण का 'तत्र सम्यगपरोक्षानुभवसाधनम् प्रत्यक्षम्'[1] यह नया लक्षण किया है। इसमें 'प्रत्यक्षम्' लक्ष्य है और शेषांश लक्षण। 'सम्यक् पदवद् अपरोक्षपदस्याप्यनुभवपदेन कर्मधारयः'[2]— भासर्वज्ञ के इस निर्देश के अनुसार 'अपरोक्षानुभव' में 'अपरोक्षश्चासौ अनुभव' इत्याकारक कर्मधारय समास है। उस अपरोक्षानुभव के साधन श्रोत्र, रसन, त्वक्, चक्षु, घ्राण तथा मन हैं, अतः उन्हें प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है। यागादि भी सभीचीन अपरोक्ष वस्तु स्वर्गादि के साधन हैं, उनमें प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति के निवृत्त्यर्थ लक्षण में अनुभव शब्द दिया गया है। धूमादि द्वारा पर्वत में वह्निज्ञानरूप अनुभव का साधन तो व्याप्तिज्ञानादिरूप अनुमान भी है, उसमें लक्षण की अतिप्रसक्ति के निवारणार्थ अपरोक्ष शब्द दिया गया है। संशय-विपर्ययादिरूप प्रत्यक्षाभास में अतिव्याप्ति की निवृत्ति के लिये 'सम्यक्' शब्द दिया गया है। इस प्रकार सम्यक् अपरोक्षानुभव अर्थात् यथार्थ साक्षात्कार की सिद्धि जिसके द्वारा होती है, उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

'प्रत्यक्षम्' में कौन सा समास है, इस विषय पर विचार करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग ने 'अक्षम् अक्ष प्रति वर्तते'[3] ऐसा अव्ययीभाव समास माना है। किन्तु अव्ययीभाव समास मानने पर पंचमी, तृतीया तथा सप्तमी से भिन्न विभक्तियों को 'नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपंचम्याः'[4] तथा

1. (अ) न्यायसार, पृ. २
   (ब) उदयनाचार्यने संभवतः इसी से प्रभावित होकर प्रमा का लक्षण परिष्कृत किया है – 'मितिः सम्यक्परिच्छित्तिः' (न्यायकुसुमांजलि, चतुर्थ स्तवक, कारिका ५)। इसका खण्डनकार ने खण्डन किया है।
2. न्यायभूषण, पृ. ८४.
3. न्यायप्रवेश, भाग १, पृ. ७
4. पाणिनि सूत्र, २/४/८३

'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्'[1] इस सूत्रद्वयी से अम्भाव की आपत्ति होती है। ऐसी स्थिति में 'प्रत्यक्षस्य लक्षणम्', 'प्रत्यक्षो घटः', 'प्रत्यक्षा नारी' इत्यादि व्यवहार नहीं होगा। अतः 'प्रतिगतमक्षं प्रत्यक्षम्' यह व्युत्पत्ति मानकर 'कुगतिप्रादयः'[2] सूत्र से प्रादितत्पुरुष समास उचित है। प्रादितत्पुरुष मानने पर भी 'द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः'[3] इस वचन द्वारा परवल्लिंगता का प्रतिषेध हो जाने से 'प्रत्यक्षस्य लक्षणम्' 'प्रत्यक्षा पुरन्ध्री', 'प्रत्यक्षो घटः'—इत्यादि सभी प्रयोग उपपन्न हो जाते हैं।

प्रत्यक्ष शब्द के व्युत्पत्तिनिमित्त तथा प्रवृत्तिनिमित्त का भेद

प्रत्यक्ष शब्द 'अक्षं प्रतिगतम्' इस व्युत्पत्ति से इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षज्ञानरूप फल, प्रत्यक्षसाधनभूत इन्द्रियसन्निकर्ष तथा प्रत्यक्षज्ञानविषय घटादि इन तीनों का बोधक है, क्योंकि तीनों ही अक्षाश्रित हैं। इनमें प्रत्यक्षज्ञान जन्यत्व सम्बन्ध से, इन्द्रिय-संनिकर्ष सहकारित्वसम्बन्ध से तथा घटादिविषय विषयत्व-सम्बन्ध से अक्षाश्रित हैं[4]। प्रत्यक्षज्ञान के साधनभूत प्रत्यक्ष प्रमाण में अक्षसहकारित्वेन प्रत्यक्ष शब्दकी प्रवृत्ति मानने पर इन्द्रिय में प्रत्यक्षप्रमाणता की अनुपपत्ति है, क्योंकि सहकारी तथा सहकार्य के भिन्न होने से प्रत्यक्ष प्रमाण ही प्रत्यक्ष प्रमाण का सहकारी नहीं हो सकता। प्रमाण-सहकारी पदार्थ प्रमाण से भिन्न होता है क्योंकि प्रमाण–सहकारी उपकारक होता है तथा प्रमाण–सहकृत उपकार्य होता है तथा प्रमाता में भी अक्ष-सहकारिता के कारण प्रमाणत्व की अतिप्रसक्ति है। जन्यत्वसम्बन्ध से तथा विषयत्व-सम्बन्ध से अक्षाश्रित को प्रत्यक्ष मानने पर मिथ्याज्ञानत्वेन प्रत्यक्षप्रमाभिन्न संशय, विपर्यय तथा विषयत्वेन प्रमाभिन्न सुखादि के भी इन्द्रियजन्य होने से उनमें प्रत्यक्ष-प्रमाणत्व की आपत्ति है।

इस शंका का समाधान करते हुए भासर्वज्ञाचार्य ने कहा है कि 'अक्ष प्रतिगतम्' यह प्रत्यक्ष का व्युत्पत्त्यर्थमात्र है, प्रवृत्तिनिमित्तरूप अर्थ नहीं। व्युत्पत्त्यर्थ तथा प्रवृत्तिनिमित्तरूप अर्थ भिन्न होते हैं, एक नहीं। अर्थात् शब्दों का व्युत्पत्त्यर्थ भिन्न होता है और प्रवृत्तिनिमित्त अर्थ भिन्न। जैसे, गो शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ 'गच्छतीति गौः' इस व्युत्पत्ति से गमनकर्तृत्व है और प्रवृत्तिनिमित्त अर्थ सास्नादिमत्व या गोत्व जाति है। उन दोनों अर्थों में गोशब्दप्रयोग का कारण व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ नहीं, अपि तु प्रवृत्तिनिमित्तलब्ध अर्थ होता है। अतः आसीन गो में भी गोशब्द का प्रयोग होता है तथा चलते हुए पुरुष में भी गोशब्द का प्रयोग नहीं होता, क्योंकि गो में

1. पाणिनीसूत्र २/४/८४
2. वही, २/२/१८
3. कात्यायनवार्तिक, १५४५
4. कथं पुनरक्षं प्रतिगतम्? तज्जन्यत्वेन तत्सहकारित्वेन तद्विषयत्वेन चेति। फलं तावदक्ष-जन्यत्वेन अक्षं प्रतिगतम्, फलसाधनं च तत्सहकारित्वेन, तदर्थस्तु तद्विषयत्वेनेति।
—न्यायभूषण, पृ. ८४–८५.

गोत्व जाति है, पुरुष में नहीं। इसी प्रकार 'अक्ष प्रतिगतम्' अर्थात् किसी भी सम्बन्ध से अक्षाश्रितत्व प्रत्यक्ष शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण शब्दकी प्रवृत्ति में कारण नहीं। प्रत्यक्ष प्रमाण शब्द की प्रवृत्ति का कारण तो सम्यग-परोक्षानुभवसाधनत्वरूप लक्षण है, वह इन्द्रिय में विद्यमान है, संशयादि मिथ्याज्ञान में सम्यगपरोक्षानुभवत्व नहीं, सुखादि में भी सम्यगपरोक्षानुभवविषयत्व है, सम्यगपरोक्षानुभवत्व नहीं। अतः कहीं भी लक्षण की अतिप्रसक्ति नहीं है।

प्रत्यक्षत्वादि के जातित्व की व्यवस्था

उद्द्योतकर ज्ञान में परोक्षत्व और अपरोक्षत्व जाति नहीं मानते।[1] किन्तु भासर्वज्ञ का कथन है कि ज्ञानों में परोक्षत्व और अपरोक्षत्व जाति को स्वीकार न करने पर परोक्षज्ञान, अपरोक्षज्ञान इस व्यवहार की अनुपपत्ति होगी। इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्यत्व अपरोक्षत्व-व्यवहार का उपपादक नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान में अपरोक्षत्व जाति की सिद्धि के बिना इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय के अतीन्द्रिय होने से इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का प्रत्यक्ष ज्ञान तो हो नहीं सकता, किन्तु ज्ञानगत अपरोक्षत्व जाति का मानस प्रत्यक्ष होने से उसके द्वारा 'इदम् इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्यम्, अपरोक्षानुभवत्वात्' इस प्रकार से उसका अनुमिति-ज्ञान होता है। जो जो अपरोक्ष अनुभव होता है, वह इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्य होता है। इस प्रकार अपरोक्षानुभवत्व जाति के द्वारा ही इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्यत्व की सिद्धि होती है।[2] अतः प्रथम अपरोक्षानुभवत्व जाति मानना आवश्यक है और वही अपरोक्षत्वव्यवहार का प्रवर्तक है। अपि च, प्रत्यक्ष आत्मानुभव और लैंगिक आत्मानुभव का भेद ज्ञानगत परोक्षत्व तथा अपरोक्षत्व जाति माने बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। निर्विकल्पक-सविकल्पक-भेद-विशिष्टार्थावभासित्व को ज्ञानगत धर्म मानकर उसीसे अपरोक्ष व्यवहार के उपपन्न हो जाने से अपरोक्षत्व जाति मानने की क्या आवश्यकता है, यह कथन भी समुचित नहीं, क्योंकि निर्विकल्पक-सविकल्पक भेद विशिष्टार्थावभासित्व भी ज्ञानगत जातिरूप धर्म ही है।[3] इसे जातिभिन्न ज्ञानधर्म मानने पर भी यह अपरोक्ष व्यवहारका निमित्त नहीं बन सकता, क्योंकि इस लक्षण की निर्विकल्पकसविकल्पकभेदरहित विशेषमात्र के अवभासक अपरोक्षज्ञान में अव्याप्ति है। अतः अपरोक्षत्व जाति को ही अपरोक्ष व्यवहार का निमित्त मानना होगा।

सूत्रकार को भी प्रत्यक्षलक्षणसूत्रस्थ 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न' पद से प्रत्यक्ष प्रमा की अनुभवत्वविशिष्टता और अपरोक्षत्वविशिष्टता ही अभिप्रेत है, क्योंकि 'अपरोक्षानुभवत्वजातिमत्त्वं प्रत्यक्षप्रमात्वम्' ऐसा प्रत्यक्षप्रमा का लक्षण मानने पर

1 उद्द्योतकर इति प्राचीनटिप्पणम्। —न्यायभूषण, पृ. ८५.

2 न्यायभूषण, पृ. ८५.

3 ननु तमप्यवभासित्वशब्दवाच्यं ज्ञानस्यजातिविशेषादन्यं धर्मं न पश्यामः।

न्यायभूषण, पृ. ८६.

उस जाति का मानस प्रत्यक्ष होने के कारण इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नत्व लक्षण उपपन्न हो जाता है। अन्यथा प्रत्यक्षप्रमारूप फल की सिद्धि न होने पर इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्व की असिद्धि हो जायेगी, क्योंकि इन्द्रियार्थसंनिकर्ष अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष का विषय तो है नहीं, अपरोक्षानुभवत्वरूप जाति के द्वारा उसकी अनुमिति होती है। इसलिये भासर्वज्ञ का कथन है कि जैसे 'योऽयं शुक्लो गच्छति स गौः', 'यस्योपरि अयं छत्री पुरुषो दृश्यते, सोऽश्वः' इत्यादि शब्दप्रयोग कर देने पर भी अनन्य-साधारण गोत्वादि जाति को ही गौ का लक्षण माना जाता है, क्योंकि गमनक्रिया-विशिष्ट शुक्ल गुणवाली वस्तु गो से भिन्न पुरुषादिवस्तु भी हो सकती है। इसी प्रकार चक्षुरादि इन्द्रिय तथा घटादि अर्थ का सम्बन्ध होने पर 'घटोऽयम्' इत्याकारक जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है, ऐसा कथन करने पर भी सन्निकर्षजत्वेन उपलक्षित अपरोक्षानुभवत्व को ही प्रत्यक्ष का लक्षण मानना होगा, क्योंकी वही लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोष से रहित है। अतः इन्द्रियार्थ-संनिकर्षजन्यत्व को प्रत्यक्ष प्रमा का लक्षण स्वीकार नहीं किया जा सकता।[1]

न्यायसूत्रकारकृत लक्षण का प्रयोजन

यदि अपरोक्षानुभवत्व ही प्रत्यक्ष प्रमा का लक्षण है, तो सूत्रकारने साक्षात् इस लक्षण का कथन न कर इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्यत्वरूप उपलक्षण के द्वारा उसका बोधन क्यों किया, इस प्रश्न का समाधान करते हुए भासर्वज्ञने कहा है कि प्रत्यक्ष के योगिप्रत्यक्ष व अयोगिप्रत्यक्ष इन दो भेदों का उपपादन करने के लिये प्रत्यक्षप्रमा का अपरोक्षानुभवत्वरूप लक्षण न कर इन्द्रियासंनिकर्षोत्पन्न ज्ञान यह लक्षण किया है। क्योंकि यह लक्षण योगिप्रत्यक्षभिन्न अस्मदादिप्रत्यक्ष का ही है, अयोगिप्रत्यक्ष ही इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से उत्पन्न होता है।[2] योगिप्रत्यक्ष तो बिना इन्द्रियार्थसंनिकर्ष के भी होता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रत्यक्ष योगिप्रत्यक्ष व अयोगिप्रत्यक्ष भेद से द्विविध है। अपरोक्षानुभवत्वरूप लक्षण उभयसाधारण है। इसीलिये उसके आगे दो भेद बतलाये गये हैं। प्रत्यक्षप्रमा के अपरोक्षानुभवत्वजातिमत्त्वरूप लक्षण का परित्याग कर सूत्रकार द्वारा 'इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नं ज्ञानम्' इत्यादि लक्षण करने का अन्य कारण यह भी है कि बौद्ध क्षणभंगवाद की सिद्धि के लिये प्रत्यक्ष में इन्द्रियार्थ-संनिकर्ष को कारण नहीं मानते, क्योंकि इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध मानने पर पदार्थों की स्थिति दो या तीन क्षणों तक अवश्य माननी होगी और इस प्रकार क्षणभंगवादसिद्धान्त उपपन्न नहीं होगा। अतः इन्द्रियार्थसंनिकर्ष मानने में बौद्धोंकी विप्रतिपत्ति है। इस विप्रतिपत्ति का प्रदर्शन कर परीक्षा द्वारा उस विप्रतिपत्ति का निराकरण करने के लिये भी यह लक्षण किया गया है।[3]

1. न्यायभूषण, पृ ९३.

2. किमर्थं तर्हि तदेवापरोक्षानुभवत्वं न साक्षादुक्तमिति ? प्रत्यक्षभेदज्ञापनार्थं यदस्मदादिप्रत्यक्षं तदिन्द्रियार्थसंनिकर्षजमेवेति वक्ष्यामः । —न्यायभूषण, पृ. ९४

3. न्यायभूषण, पृ. ९४.

प्रत्यक्षभेदनिरूपण

प्रत्यक्षप्रमाण के लक्षण के निरूपण के अनन्तर भासर्वज्ञने प्रत्यक्षभेदों का निरूपण किया है। उनके अनुसार प्रत्यक्षप्रमाण योगिप्रत्यक्ष तथा अयोगिप्रत्यक्ष भेद से द्विविध है।[1] प्रकारान्तर से भी प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं – एक निर्विकल्पक तथा दूसरा सविकल्पक। उन भेदों का 'न्यायसार' में ग्रन्थकार ने आगे उल्लेख किया है। 'तद्द्विविधम्, योगिप्रत्यक्षम्, अयोगिप्रत्यक्षं चेति' इस भेदनिरूपणपरक वाक्यमें 'च' पद के द्वारा उन भेदों का भी संग्रह कर लिया गया है, ऐसा उन्होंने स्वोपज्ञ व्याख्या भूषण में स्पष्ट कहा है।[2] योगिप्रत्यक्ष विशिष्ट और प्रकृष्ट है, अतः उसका उद्देश्य यद्यपि अयोगिप्रत्यक्ष से पहिले किया गया है, तथापि सामान्यजनों से सम्बद्ध अयोगिप्रत्यक्ष की सिद्धि होने पर ही उसके दृष्टान्त के बलसे योगिप्रत्यक्ष को सिद्धि हो सकती है। अतः अयोगिप्रत्यक्ष का निरूपण पहले किया गया है।[3]

अयोगिप्रत्यक्ष

प्रकाश, देश, काल तथा धर्म आदि निमित्तों से इन्द्रिय तथा अर्थ के संयोग, संयुक्तसमवायादि सम्बन्धविशेष से स्थूल अर्थ की ग्राहक इन्द्रियां अयोगिप्रत्यक्ष प्रमाण कहलाती हैं।[4] यहां प्रकाश से प्रदीपादिप्रकाश तथा अभीष्ट इन्द्रिय के साथ मनःसम्बन्ध का ग्रहण है। देश पद से अव्यवहित, पुरोवर्ती देश का तथा काल पद से वर्तमान आदि काल का ग्रहण है। प्रदीपादि के अतिरिक्त धर्म–अधर्मादि भी प्रत्यक्ष के निमित्त हैं। इष्ट पदार्थ के ज्ञानमें धर्म निमित्त होता है। इन कारणों के अतिरिक्त महत्त्व, उद्भूतत्व, ईश्वरेच्छा आदि निमित्तों का भी आदि पद से ग्रहण है। प्रत्यक्ष प्रमा में इन्द्रिय साधकतम (प्रकृष्ट साधन) अर्थात् करण है, शेष कारण हैं। 'साधकतमं करणम्' इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार क्रियासिद्धि में प्रकृष्ट उपकारक को करण कहते हैं और स्वव्यापार के बाद क्रिया की अवश्यंभाविनी सिद्धि ही करण की प्रकृष्टता है। प्रकृत में इन्द्रियां इन्द्रियार्थसंनिकर्षरूप व्यापार के बाद प्रत्यक्षप्रमारूप क्रिया को अवश्य उत्पन्न कर देती हैं, अतः वे करण कहलाती हैं। इसीलिये 'व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्'[5] ऐसा करण का लक्षण किया गया है।

'अर्थग्राहकम्' इतना मात्र कह देने पर तो परमाण्वादि अर्थों में प्रत्यक्षता की प्रसक्ति होगी, अतः स्थूल पद दिया गया है। यहां परमाणु तथा द्व्यणुक रूप अर्थ की

1. न्यायसार, पृ. २
2. च शब्दात्सविकल्पनिर्विकल्पकभेदेनापि द्विविधमिति प्रत्यक्षम्। — न्यायभूषण, पृ. १०१.
3. न्यायभूषण, पृ. १०२.
4. तत्रायोगिप्रत्यक्षं प्रकाशदेशकालधर्माद्यनुग्रहादिन्द्रियार्थसम्बन्धविशेषेण स्थूलार्थग्राहकम्। —न्यायसार, पृ. २
5. तर्कसंग्रह, पृ. ३८

अपेक्षा से अर्थ में स्थूलता अभिप्रेत है, अन्यथा सूक्ष्म रूपादि का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा। स्थूलार्थग्राहकता अनुमान प्रमाण में भी पाई जाती है, अतः अयोगिप्रत्यक्ष प्रमाण की अनुमान प्रमाण में होनेवाली अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ लक्षण में इन्द्रियार्थसंनिकर्ष का समावेश किया है। अनुमान प्रमाण भी यद्यपि सम्बन्धविशेष के द्वारा ही साध्यधर्म की प्रतिपत्ति कराता है, तथापि अनुमितिस्थल में इन्द्रिय और साध्यविषय का सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। अत: वहां अतिव्याप्ति नहीं है।

द्रव्यप्रत्यक्षनिरूपण

प्रत्यक्ष प्रमाण इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्धविशेष के द्वारा स्थूल अर्थ का ग्राहक होता है, अतः जिन सम्बन्धों से इन्द्रियां अर्थ ग्रहण करती हैं, वे सम्बन्ध संयोग, संयुक्तसमवाय आदि हैं। चक्षु तथा त्वग् इन्द्रिय संयोगसम्बन्ध से घटादि स्थूल द्रव्यों का ग्रहण करती हैं। अर्थ की स्थूलता परमाणुसमूह से भिन्न अवयवी की सत्ता मानने पर उत्पन्न हो सकती है, अतः अवयवी घटादि, अवयवरूपपरमाणु-समूह से भिन्न है, यह बतलाने के लिये घटादि पद दिया गया है। 'आदि' का ग्रहण सामान्य जनों के इन्द्रिय के विषयभूत समस्त अवयविसमुदाय का संग्रह करने के लिये है। घटादि अवयवी का रूपादि से अर्थान्तरभाव ज्ञापित करने के लिये द्रव्य पद दिया गया है।[1] अर्थात् इन्द्रिय के सम्बन्ध और असम्बन्ध से 'घटोऽयम्' इत्याकारक अवयविविषयक ज्ञान का भाव व अभाव सबको होता है, जो रूपादिज्ञान से विलक्षण है। इस प्रकार घटादि का रूपादि से भिन्न रूप में ग्रहण प्रत्यक्ष से ही हो जाता है।

घटादिगत जाति तथा गुणादि का प्रत्यक्ष

चक्षुरिन्द्रिय से संयुक्त घटादि द्रव्यों में समवेत अर्थात् समवाय सम्बन्ध से वर्तमान घटत्वादि सामान्यों, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोगविभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग इन गुणों तथा कर्मों का चक्षु द्वारा संयुक्तसमवाय सम्बन्ध से चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार द्रव्य के त्वगिन्द्रिय से संयुक्त होने पर त्वक्संयुक्त घटादि में समवेत उपर्युक्त घटत्वादि तथा संख्यादि का त्वगिन्द्रिय द्वारा संयुक्तसमवायसम्बन्ध से स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार घटत्वादि, संख्यादि का ज्ञान दोनों इन्द्रियों से होता है, किन्तु रूप, रूपत्व तथा रूपाभाव का ज्ञान केवल चक्षुरिन्द्रिय से और स्पर्श, स्पर्शत्व, स्पर्शाभाव का ज्ञान केवल त्वगिन्द्रिय से होता है।

रूपादि-प्रत्यक्ष नियतेन्द्रियजन्य है। चक्षु, रसन, घ्राण, स्पर्शन, श्रोत्र तथा मन से संयुक्तसमवाय सम्बन्ध से क्रमशः रूप रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द तथा सुखादि का

1. घटादि अवयवी की रूपादि से अर्थान्तरता का ज्ञापन बौद्धमत की अपेक्षा से किया गया है। बौद्ध गुणों से भिन्न द्रव्य नहीं मानते। उनके मतानुसार पृथिवी पांच गुणों का समूह है। इस प्रकार वे द्रव्य को गुणात्मक मानते हैं। गुणों से भिन्न कोई द्रव्य नहीं है, जैसाकि प्रज्ञाकरगुप्तने कहा है—'तथा नास्ति द्रव्यं गुणव्यतिरिक्तम्' (प्रमाणवार्तिकालंकार, पृ. ५४४)।

प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। नियतेन्द्रिय से अतिरिक्त इन्द्रिय से रूपादिज्ञान की उत्पत्ति के निषेधार्थ मूल में चक्षुषैव[1] आदि पदों में एव का उपादान किया गया है। रूपादिज्ञान में यद्यपि मनोव्यापार होने से मनःसम्बन्ध भी रूपादि के ज्ञान में कारण है, अतः 'चक्षुषैव' इत्यादि अवधारणा की अनुपपत्ति है, तथापि चक्षुरिन्द्रिय का रूप से साक्षात् सम्बन्ध है, न कि मन का। तथा रूपज्ञान चाक्षुष है न कि मानस, ऐसा शब्द-व्यवहार होता है। अतः रूपज्ञान में चक्षु की प्रधानता होने से 'चक्षुषैव' ऐसा अवधारण किया गया है। ऐसी स्थिति रसादि ज्ञानों में है।

बौद्धों की मान्यता है कि ज्ञान व सुख-दुःखादि दोनों ही आत्ममनःसंयोगरूप तुल्यकारणजन्य होने से दोनों अभिन्न हैं। अतः जैसे ज्ञान स्वसंवेद्य है वैसे सुखादि भी स्वसंवेद्य हैं, इसलिये उनका मन के स्वसमवाय-सम्बन्ध से ज्ञान मानना उचित नहीं। प्रमाणवार्तिक में धर्मकीर्ति ने इस सिद्धान्तका समर्थन किया है।[2] सुखादि स्वसंवेद्य हैं, इस बौद्धमत का निराकरण करते हुए भूषणकार ने कहा है कि सुखादि स्वसंवेद्य नहीं हैं, क्योंकि उनमें ज्ञानरूपता सिद्ध नहीं होती। आत्ममनसंयोगरूप-समानहेतुजन्यता ज्ञान और सुखादि की अभेदसाधिका नहीं हो सकती, क्योंकि जो तुल्यहेतुजन्य हों, वे अभिन्न हों इस नियम का पाकज रूप, रस गन्ध, तथा स्पर्श में व्यभिचार है। पाकज गन्धादि के अग्निसंयोगरूप तुल्य हेतु से जन्य होने पर भी उनमें भेद स्वीकृत है। स्वयं बौद्धमत में भी तुल्यहेतुजन्यता अभेदसाधिका नहीं है,[3] क्योंकि घटादिभंगजन्य शब्द और कपालखण्डों के घटादिभंगरूप एक हेतु से जन्य होने पर भी शब्द की कपालादिखण्ड से एकरूपता बौद्ध भी स्वीकार नहीं करते। तथा ज्ञान व सुखादि की सर्वथा तुल्यहेतुजन्यता भी असिद्ध है। सुखादि में अभिलाषा और अनभिलाषा आदि प्रतिनियत निमित्त हैं, जबकि ज्ञान में ऐसा कोई प्रतिनियत निमित्त नहीं। आनन्द (सुख) व ताप (दुःख) का भेद प्रत्यक्षसिद्ध है, अतः उनको ज्ञान से अभिन्न नहीं माना जा सकता। अन्यथा सुख व दुःख दोनों के ज्ञानरूप होने से उनमें भी परस्पर भेद नहीं होता।

संशय, विपर्यय व निर्णय में अवान्तर भेद होने पर भी उनकी ज्ञानरूपता की तरह सुख व दुःख में अवान्तर भेद होने पर भी उनकी ज्ञानरूपता उपपन्न हो सकती है, यह कथन भी उपयुक्त नहीं, क्योंकि संशयादि में 'संशयो ज्ञानम्', 'विपर्ययो ज्ञानम्' इत्याकारक अनुगत प्रतीति के कारण उनको ज्ञानरूप मानने पर भी सुखादि में 'सुखं ज्ञानम्' इत्याकारक प्रतीति के अभाव से उन्हें ज्ञान मानना निराधार है, प्रत्युत सुखादि की ज्ञानविषयत्वेन प्रतीति है। अतः सुखादि ज्ञानरूप

1. न्यायसार, पृ. २.

2. तदतद्रूपिणो भावास्तदतद्रूपहेतुजाः ।
तत्सुखादि किमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम् ॥ — प्रमाणवार्तिक, २/२५१.

3. त्वन्मतेऽपि घटादिभंगजः शब्दः कपालखण्डादितुल्यहेतुजो न च तद्रूप इत्यनैकान्तः ।
—न्यायभूषण, पृ. १७

नहीं हैं । सुखादि को ज्ञानविषय मानने पर उनमें घटादि की तरह बाह्यता तथा सर्वसाधारणता की प्रतीति की आशंका भी निराधार है, क्योंकि सुखादि ज्ञान-विषय होते हुए भी घटादि की तरह बाह्य पृथिव्यादिभूतात्मक या उनमें समवेत नहीं हैं, किन्तु आत्मा में समवेत हैं ।

संख्यादि में समवेत संख्यात्व, एकत्वादि सामान्यों का प्रत्यक्ष संख्यादि के आश्रय की ग्राहक चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध से होता है । अर्थात् 'एतेषु आश्रितानां' इतना ही न कहकर 'एतेषु संख्यादिषु आश्रितानाम्'[1] कहने का अभिप्राय यह है कि संख्यादि गुणों में समवेत संख्यात्वादि सामान्यों का ही संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध से चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्रहण होता है; न कि घटत्वादि में समवेत सामान्यों का, क्योंकि अनवस्था दोष के कारण जाति में जात्यन्तर नहीं मानी जाती ।

'संख्यादिषु' में प्रयुक्त आदि शब्द के द्वारा सुखादिपर्यन्त सभी का ग्रहण है । अर्थात् संख्यादि में आदि पद से परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग, कर्म, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द तथा सुखादि का समावेश किया गया है । संख्यादि में समवेत सत्ता, गुणत्व, संख्यात्व आदि सामान्य तथा सुखादि में समवेत सुखत्वादि सामान्यों का प्रत्यक्ष यहाँ गृहीत है । इनमें भी संख्या से लेकर कर्मपर्यन्त में समवेत सामान्यों का प्रत्यक्ष संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध के द्वारा चक्षु तथा त्वगिन्द्रिय दोनों से होता है । अर्थात् ये द्वीन्द्रियग्राह्य हैं । रूप में आश्रित रूपत्व सामान्य का चक्षुरिन्द्रिय से ही प्रत्यक्ष होता है, स्पर्श में आश्रित स्पर्शत्व सामान्य का स्पर्शन से ही प्रत्यक्ष होता है, गन्ध में समवेत गन्धत्व सामान्य का प्रत्यक्ष घ्राणेन्द्रिय से ही होता है, रस में आश्रित रसत्व सामान्य का रसनेन्द्रिय से ही प्रत्यक्ष होता है और सुखादि में समवेत सुखत्वादि सामान्यों का प्रत्यक्ष मन द्वारा ही होता है । इसी प्रकार संख्यादि में रहने वाली सत्ता और गुणत्व जाति का प्रत्यक्ष भी चक्षुरादि इन्द्रियों से संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध के द्वारा ही होता है । ये दोनों जातियां सभी गुणों में आश्रित रहती हैं, अतः इनका ज्ञान (प्रत्यक्ष) सभी इन्द्रियों से होता है ।

सभी गुणों में 'सत् सत्' इस अनुगत व्यवहार के प्रत्यक्ष होने से गुणों में सत्ता जाति प्रत्यक्ष से सिद्ध है, किन्तु रूपादिगुणों में 'गुणः' इस अनुगत व्यवहार के अभाव में प्रत्यक्ष प्रमाण से गुणत्व जाति की सिद्धि न होने पर भी 'अस्पर्शवत्त्वे सति सामान्यवत्त्वे च सति द्रव्याश्रितत्वरूप अनुमान'[1] से गुणत्व जाति की सिद्धि है ।[2] भासर्वज्ञ के अनुसार कर्मवर्ग के भी गुणान्तर्भूत होने से इस अनुमान की कर्म में अतिव्याप्ति मानना असंगत है । गुणत्व के अनुमेय होने पर भी उसका प्रत्यक्षज्ञान पूर्वाचार्यों के अनुसार बतलाया गया है, क्योंकि उन्होंने गुणत्व का प्रत्यक्ष माना है ।[3]

1. न्यायसार, पृ. ३ 2. न्यायभूषण, पृ. १५८

3. सर्वेन्द्रियप्रत्यक्षं तु गुणत्वं पूर्वाचार्यैरिष्टम् । तच्च तथास्तु मा भूद् वेति, नात्र निर्बन्धोऽस्माकम्, प्रयोजनाभावात् । —न्यायभूषण, पृ. १५८

शब्द तथा शब्दत्वादि सामान्य का प्रत्यक्ष

शब्द की उपलब्धि समवाय सम्बन्ध से होती है, क्योंकि कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाशरूप श्रोत्र में शब्द समवाय सम्बन्ध से रहता है। शब्द में आश्रित शब्दत्व, वर्णत्व, कत्वादि सामान्य का प्रत्यक्ष समवेतसमवाय सम्बन्ध से होता है, क्योंकि श्रोत्ररूप आकाश में समवेत शब्द में शब्दत्व जाति का समवाय है, क्योंकि वह शब्द में समवाय सम्बन्ध से रहती है।

आकाश प्रत्यक्षसिद्ध न होने पर भी 'क्वचित्समवेतः शब्दो गुणत्वात्, रूपादिवत्' अर्थात् शब्द गुण होने के कारण रूपादि की तरह कहीं समवेत है, जहां समवेत है, वही आकाश है — इस अनुमान प्रमाण से सिद्ध है। अतः चार्वाकादि का आकाश को न मानना उचित नहीं है। उपर्युक्त अनुमान में हेत्वसिद्धि नहीं है, क्योंकि 'गुणः शब्दः, सामान्यवत्त्वे सति सामान्यवदनाधारत्वात्, रूपादिवदिति' इत्याकारक अनुमान से शब्द में गुणत्व की सिद्धि हो जाती है। वासुदेव सूरि ने शब्द की गुणत्वसिद्धि के लिए निम्न हेतु प्रस्तुत किया है— 'शब्दो गुणः, सामान्यवत्त्वात् स्पर्शवत्त्वे सति अस्मदादिबाह्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वात्'।[1] यहां यह ध्यातव्य है कि भूषणकार द्वारा प्रस्तुत शब्द का गुणत्वसाधक हेतु कर्म में भी अतिव्याप्त हो जाता है। अतः उन्होंने शब्द में गुणत्वसिद्धि के लिए 'सामान्यवत्त्वास्पर्शवत्त्वे सति अस्मदादिबाह्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वात्', यह हेतु प्रस्तुत किया है। भूषणकारोक्त गुण लक्षण की कर्म में अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिए वासुदेव सूरि ने 'सामान्यवत्त्व-कर्मव्यतिरिक्तत्वे सति सामान्यवतामनाधारत्वाद् वा'[2] इस दूसरे हेतु में 'कर्मव्यतिरिक्तत्वे सति' संयोजित कर दिया है। किन्तु वासुदेव सूरि का यह संशोधन उचित नहीं, क्योंकि भूषणकार कर्मवर्ग का गुणसमुदाय में ही अन्तर्भाव मानते हैं।[3] अतः वहां अतिव्याप्ति का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। किरणावलीकार उदयनाचार्य ने भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कर्मवर्ग को गुणवर्ग में संवेष्टित करने वाले गुण-लक्षण की रचना के लिये भूषणकार को साधुवाद दिया है—'वरं भूषणः कर्मापि गुणस्तल्लक्षणयोगात्'।[4]

शब्द का द्रव्यत्वानुमान और उसका निरास

शब्द का प्रत्यक्ष समवाय सम्बन्ध से होता है, क्योंकि वह गुण है और कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहता है। इसी प्रसंग में भासर्वज्ञ ने शब्द के पराभिमत द्रव्यत्व का भी निराकरण किया है। अन्यथा उसका सम्बन्ध से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

1. न्यायसारपदपंचिका, पृ १३। २. वही
3. कर्मवर्गोऽपि पंचविंशतितमो गुणभेदः एवास्तु न कंचिदत्र विशेषं पश्यामः। किमेषां गुणत्वमिति चेत्, गुणलक्षणमेव, तच्चास्पर्शवत्त्वे सामान्यवत्त्वे च सति द्रव्याश्रितत्वं सर्वेषामस्ति रूपादीनाम्।—न्यायभूषण, पृ. १५८
4. किरणावली, पृ. १०४.

शब्द में देशान्तरगमन की प्रतीति के कारण कतिपय विद्वान् शब्द को द्रव्य मानते हैं, परन्तु उनकी यह मान्यता उपयुक्त नहीं, क्योंकि जैसे छाया में गति न होने पर भी सूर्य-किरणों की गति के कारण छाया में गति प्रतीत होती है, उसी प्रकार शब्द में गति न होने पर भी शब्दोत्पत्तिसन्तान के कारण शब्द में देशान्तर गमन की प्रतीति होती है। शब्द को द्रव्य मानने वालों का कथन है कि शब्दविशेष दुःख का कारण होता है। अतः वह स्पर्शवान् है, क्योंकि स्पर्शवान् द्रव्य के सम्बन्ध से ही दुःख होता है। जैसे, करकादि से। अतः शब्द भी द्रव्य है।

इसका खण्डन करते हुए भासर्वज्ञ का कथन है कि शब्द दुःखविशेष का कारण नहीं है, अपितु शब्द में तीव्रत्वादिविशेष दुःख के कारण हैं, अतः शब्द को स्पर्शवान् मानना भ्रान्ति है! शब्द को स्पर्शवान् मानने पर वातप्रतिकूल दिशा में शब्द का आगमन नहीं होगा जैसे वातप्रतिकूल दिशा में पर्णादि का आगमन नहीं होता। तथा कुड्यादि-व्यवधान में उच्चारित शब्द का श्रवण नहीं होगा, क्योंकि जैसे स्पर्शवान् बाणादि का कुड्यादि-व्यवधान होने पर आगमन नहीं होता इसी प्रकार यदि शब्द स्पर्शवान् होता, तो वेगवान् द्रव्य के सम्बन्ध से जैसे तृणादि में क्रिया होती है, वैसे ही वेगवान् शब्द के संयोग से भी तृणादि में कम्पादि क्रिया होती। अतः शब्द स्पर्शवान् नहीं हैं, अत एव द्रव्य भी नहीं है। 'शब्दो गुणः सामान्यवत्वे सत्यनित्यत्वे च सति बाह्यनियतैकेन्द्रियग्राह्यत्वात्' इस अनुमान से प्राचीन आचार्यों ने शब्द में गुणत्व की ही सिद्धि की है।[1] भासर्वज्ञ ने इस हेतु में 'अस्पर्शवत्त्वे सति' का संयोजन आवश्यक माना है। अन्यथा इस हेतु की वायु में अतिव्याप्ति होने से यह अनैकान्तिक हो जायेगा।[2]

शब्द के आश्रय का निरूपण

शब्द की गुणत्वसिद्धि के पश्चात् शब्दगुणाश्रयत्वेन आकाश की सिद्धि बतलाई गई है। शब्द पृथिवी आदि का गुण नहीं हो सकता, क्योंकि वह शब्दत्व की तरह श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य है, जबकि पृथिव्यादि के रूपादि गुणों में श्रोत्रग्राह्यता नहीं है तथा शब्द को भेर्यादि रूप पृथिवी का गुण मानने पर उसे भेर्यादि में आश्रित माना जायेगा। ऐसी स्थिति में भेरी के दूर देश में या व्यवहित देश में स्थित होने पर तज्जन्य शब्द का श्रोत्रेन्द्रियसम्बन्ध के अभाव से श्रावण प्रत्यक्ष नहीं होगा। क्योंकि आश्रय के बिना इन्द्रिय तद्गत गुण का ग्रहण नहीं करती।

चम्पकादि के दूरदेशस्थ होने से उनके साथ घ्राणेन्द्रिय का संयोग न होने पर भी तद्गत गन्ध का ग्रहण जिस प्रकार होता है, वैसे ही दूरदेशस्थ व व्यवहित भेरी के साथ श्रोत्रेन्द्रिय का सम्बन्ध न होने पर भी शब्द का श्रवण प्रत्यक्ष बन जायेगा,

---

1. न्यायभूषण, पृ. १६५
2. वही

यह समाधान भी असंगत है, क्योंकि वायु द्वारा घ्राणप्रदेश में आनीत गन्ध के साथ चम्पक पुष्प के सूक्ष्म अवयवों का आगमन है, अत वहां निराश्रय गन्ध का ग्रहण नहीं है, किन्तु भेरी के अवयवों का आगमन नहीं माना जा सकता, क्योंकि चम्पक के अवयवों में गन्धसत्ता की तरह भेरी के सूक्ष्म अवयवों में शब्द का अभाव है। क्योंकि स्थूल भेरी के साथ स्थूल दण्डादि के सम्बन्ध में स्थूल भेरी में शब्दोत्पत्ति है न कि उसके सूक्ष्म अवयवों में। तथा प्रतिकूल दिशा में वायुगति होने पर वायु द्वारा भेरी के अवयवों का आगमन न होने पर भी भेरीशब्द का श्रवण होता है, वह भी अनुपपन्न होगा। अत शब्द को भेर्यादि पृथिवी का गुण नहीं माना जा सकता।

दिक् तथा काल का भी गुण शब्द नहीं हो सकता, क्योंकि भासर्वज्ञ दिशा और काल को आकाश से भिन्न सत्ता नहीं मानते।[1] अतः परिशेषात् शब्दाश्रयत्वेन आकाश की सिद्धि हो जाती है।

आकाश की श्रोत्ररूपता

घ्राणादि की तरह श्रोत्र ही आकाशीय इन्द्रिय मानने पर समवाय सम्बन्ध से शब्द का प्रत्यक्ष संभव नहीं। अतः श्रोत्र की आकाशरूपता का प्रतिपादन किया जा रहा है।

आकाश ही श्रोत्ररूप है, इसकी सिद्धि श्रोत्र के पार्थिवादिरूप न होने से पारिशेष्यात् होती है, क्योंकि श्रोत्र गन्ध का ग्राहक न होने से पार्थिव नहीं है। जो गन्ध का ग्राहक नहीं होती, वह इन्द्रिय पार्थिव नहीं होती। जैसे, रसनादि इन्द्रियां। श्रोत्र के पार्थिवत्व का निषेधक अनुमानवाक्य है—'पार्थिवं तावन्न श्रोत्रम्, इन्द्रियत्वे सति गन्धाग्राहकत्वात्, रसादिवत्।[2] इसी प्रकार रस, रूप तथा स्पर्श का ग्राहक न होने के कारण श्रोत्र को जलीय, तैजस तथा वायवीय भी नहीं माना जा सकता। परिशेषतः श्रोत्र आकाशरूप ही है। जैसे घ्राणादि इन्द्रियां अपने अपने भूतों के विशेष गुण गन्धादि का ही ग्राहक होने से पार्थिव, आप्य, तैजस व वायवीय हैं, वैसे श्रोत्र आकाश के विशेष गुण शब्द का ही ग्राहक होने से आकाशरूप है। जैसे तत्तद्गुण ग्राहक घ्राणादि इन्द्रियों में समवाय सम्बन्ध से गन्धादिगुण रहते हैं, उसी प्रकार शब्दग्राहक श्रोत्रेन्द्रिय में समवाय सम्बन्ध से शब्दगुण रहता है, जैसा कि "श्रोत्रं बाह्येन्द्रियग्राह्यगुणसमवायि बाह्येन्द्रियत्वात्, रसनादिवत्"[3] इस अनुमान से सिद्ध है। घ्राणादि इन्द्रियों के साम्य से श्रोत्र को शब्दाश्रय मानने पर उससे स्वनिष्ठशब्द-ग्राहकता के अभाव की आपत्ति है, क्योंकि जैसे घ्राणादि स्वनिष्ठ गन्धादि गुण के

---

1. दिक्कालौ वा शब्दस्याश्रय इति चेत्, न संज्ञाभेदमात्रत्वात्। यदि हि दिक्कालौ शब्दाश्रयाद्भिन्नौ साधयितुं शक्ष्यामः ततस्तावदभ्युपगमिष्यामो नो चेत्तदा न ताभ्यां प्रयोजनम्। —न्यायभूषण, पृ. १६६.
2. न्यायभूषणम् पृ. १६६.
3. वही, पृ. १६७.

ग्राहक नहीं है, अपितु वस्त्वन्तर में विद्यमान गन्धादि के ग्राहक हैं, उसी प्रकार श्रोत्र भी स्वनिष्ठ शब्द गुण का ग्राहक नहीं होगा। इस दोष का परिहार करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि यदि सामान्यतः अर्थात् 'इन्द्रियं न स्वगुणग्राहकं, बहिरिन्द्रियत्वात्' इस रूप से बहिरिन्द्रियमात्र में स्वगुणग्राहकता का निषेध किया जाता है, वह स्वीकार्य है, क्योंकि घ्राणादि स्वगुणग्राहक नहीं। केवल श्रोत्रेन्द्रिय में स्वगुणग्राहकता होने से विरोध आता है, किन्तु वह विरोध एक श्रोत्रेन्द्रिय में होने से विशेषरूप है और विशेष विरोध सामान्य नियम का व्याघातक नहीं होता।[1] तथा 'श्रोत्रं न स्वगुणग्राहकं बहिरिन्द्रियत्वात् रसनादिवत्' इस प्रकार श्रोत्र में विशेष रूप से स्वगुणग्राहकता का निषेधानुमान बाधित होने से अनुपपन्न है, क्योंकि श्रोत्र की सिद्धि ही शब्दग्राहक होने से होती है। श्रोत्रेन्द्रिय को निर्गुण मानकर यद्यपि स्वगुणाग्राहकत्व-नियम के दोष से बचा जा सकता है, तथापि निर्गुण मानने पर उसके भौतिक न होने से मन की तरह श्रोत्रेन्द्रिय की नियतविषयग्राहकता की अनुपपत्ति होगी, क्योंकि नियतविषयग्राहकता प्रदीप की तरह भौतिक पदार्थों में ही होती है। श्रोत्रेन्द्रिय को भौतिक मानने पर यद्यपि श्रोत्र के दिग्रूपत्वप्रतिपादक 'दिशः श्रोत्रम्' इस आगम का विरोध आता है, तथापि उपर्युक्त वचन का अन्यार्थ में तात्पर्य मानने से उस विरोध का परिहार हो जाता है। अर्थात् 'दिक् श्रोत्रम्' इस वचन में दिक् शब्द से उसकी अधिष्ठात्री देवता गृहीत है। जैसे—'मनश्चन्द्रमा.' इस श्रुतिका तात्पर्य मन का अधिष्ठाता चन्द्रमा है, इस अर्थमें है न कि मन चन्द्ररूप है।[2]

शब्द में रहने वाली शब्दत्व जाति का प्रत्यक्ष श्रोत्रेन्द्रिय से समवेत-समवाय सम्बन्ध द्वारा होता है, क्योंकि श्रोत्ररूप आकाश में समवेत शब्द में शब्दत्व जाति का समवाय है। शब्दत्व जाति की सिद्धि 'शब्दाः असाधारणैकसामान्यवन्तः बाह्येकेन्द्रिय-ग्राह्यगुणत्वात् रूपवदिति' इस अनुमान से हो जाती है।

अभावप्रत्यक्ष

संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय और समवेतसमवाय—इन पांच सम्बन्धों से सम्बद्ध अर्थों (विषयों) के साथ अभाव तथा समवाय का विशेषणविशेष्यभाव नामक छठा सम्बन्ध है, अतः प्रत्यक्षयोग्य अभाव व समवाय का संयुक्तविशेषणविशेष्यभावादि सम्बन्ध से प्रत्यक्ष होता है।

---

1. बाह्येन्द्रियग्राह्यगुणसमवायि श्रोत्रं बाह्येन्द्रियत्वात्, रसनादिवत्।
तद्वत्स्वगुणग्राहकत्वप्रसंग इति चेत्, न, विशेषविरोधस्यादूषणत्वात्।
—न्यायभूषण, पृ. १६७

2. न्यायभूषण, पृ. १६७.

संयुक्तविशेषणभाव सम्बन्ध से अभावप्रत्यक्ष का उदाहरण 'घटशून्यं भूतलम्' है। यहाँ चक्षुरिन्द्रियसंयुक्त भूतल के साथ घटाभाव का विशेषणता सम्बन्ध है, क्योंकि यहां घटाभाव की प्रतीति इन्द्रियसंयुक्त भूतल के विशेषणरूपमें होती है और 'भूतले घटो नास्ति' इस उदाहरण में इन्द्रियसंयुक्त भूतल के साथ घटाभाव का विशेष्यता का सम्बन्ध है, क्योंकि यहां घटाभाव भूतलविशेष्यत्वेन प्रतीत होता है। विशेषणता तथा विशेष्यता के नियत न होने के कारण दोनों प्रकार के उदाहरण दिये गये हैं।[1] इसी प्रकार 'अनुष्णोऽयं स्पर्शः' इसमें अभावप्रत्यक्ष संयुक्तसमवेतविशेषणभाव सम्बन्ध से होता है। 'तोयस्पर्शे नास्त्यौष्ण्यम्' इसमें संयुक्तसमवेतविशेष्यभाव से औष्ण्याभाव का ग्रहण होता है। इसी प्रकार 'अशुक्लं नीलत्वसामान्यम्', 'नीलत्वे शौक्ल्यं नास्ति', 'अतीव्रो वीणाशब्दः', 'वीणाशब्दे तीव्रत्वं नास्ति,' 'भेदशून्यं शब्दत्वम् 'शब्दत्वे भेदो नास्ति' इत्यादि भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

विशेषणविशेष्यभाव एक विशेष सम्बन्ध है और वह अखण्ड है। संयोगादि सभी सम्बन्ध उसी विशेषणता के उपलक्षण हैं। उपलक्षण वस्तु का भेदक नहीं, अपि तु परिचायक होता हैं और विशेषण भेदक होता है। उपलक्षण से वस्तु में अन्तर नहीं होता, विशेषणों से वस्तु में अन्तर होता है। जैसे दण्डी देवदत्त, कुण्डली देवदत्त, छत्री देवदत्त में दण्डादि विशेषणों के भेद से देवदत्त में भेद मानना पड़ेगा, किन्तु दण्डोपलक्षित वस्तु में अन्तर नहीं आता। संयोगादि को उपलक्षण मानने पर संयोगादि सम्बन्ध विशेषणता और विशेष्यता के भेदक नहीं माने जा सकते। इसी लिये विशिष्ट के विषय में दो मत प्रचलित हैं—

१. विशिष्टं शुद्धात् अतिरिच्यते
२. विशिष्टं शुद्धात् नातिरिच्यते।

अर्थात् जहां विशिष्ट वस्तु में विशेषण होता है, वहां पर विशिष्ट और शुद्ध का भेद हो जाता है, किन्तु जहां पर विशेषण केवल उपलक्षण है, वहां विशिष्ट अर्थात् उपलक्षित वस्तु शुद्ध से भिन्न नहीं होती। संयोगादि सम्बन्धों को विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध का विशेषण मानने पर संयोगादिघटित विशेषणता ५ प्रकार की होता है और संयोगादिघटित विशेष्यता भी ५ प्रकार की। इस प्रकार केवल विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध १० प्रकार का हो जाता है। ये भेद उन लोगों ने किये हैं, जिनकी दृष्टि में विशेष्यतादि के घटक संयोगादि को विशेषण माना जाता है। भूषणकार भासर्वज्ञ इसी बात को मानने वाले हैं और जो लोग संयोगादि को केवल उपलक्षकमात्र मानते हैं, विशेषणतादि उनके मत में दश प्रकार का नहीं हो सकता। केवल विशेषणता और विशेष्यता-दो भेद ही होंगे। इस दृष्टि को मानने वाले अन्य नैयायिक आचार्य हैं। विशेषणता-विशेष्यता को पृथक्-पृथक् सम्बन्ध न मानकर विशेषणता और विशेष्यता अन्यतररूप से सम्बन्ध की विवक्षा होने पर वह सम्बन्ध एक ही प्रकार

---

1. विशेषणविशेष्यभावस्यानियतत्वादुभयथाप्युदाहरणं युक्तम्।—न्यायभूषण, पृ. १६८.

का होगा। इस तरह ५ संयोगादि सम्बन्ध तथा षष्ठ विशेषण-विशेष्यभाव संभूय षोढासंनिकर्षवाद सम्पन्न होता है, ऐसा उद्योतकरादि[1] प्राचीन आचार्य मानते हैं और उत्तरकालिक न्यायग्रन्थों में इसी पक्ष को स्वीकृत किया गया है।

अभाव के लिये विशेषणता या विशेष्यता सन्निकर्ष मानने पर उसी सम्बन्ध से शब्द, रूप आदि का प्रत्यक्ष हो सकता है, अतः अन्य सम्बन्धों के मानने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि 'शब्दवदाकाशम्' में शब्द आकाशस्वरूप श्रोत्र का विशेषण है। 'रूपवान् घटः' में रूप घट के प्रति विशेषण है। अतः विशेषणता सम्बन्ध से ही उनका प्रत्यक्ष संभव है। इसी प्रकार पर्वतादिवृत्ति अग्नि का भी संयुक्तविशेषणता संनिकर्ष से प्रत्यक्ष संभव हो जाता है। अतः तदर्थ अनुमान की भी क्या आवश्यकता है?

इसका समाधान भासर्वज्ञ के अनुसार यह है कि किसी रोग को देखकर उसके मूल निदान की कल्पना की जाती है। किसी व्यक्ति को ज्वरग्रस्त देखकर इस व्यक्ति ने दधि का सेवन किया है, इस रीति से उसके कारण दधिसेवन की कल्पना की जाती है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि जो भी व्यक्ति दधि का सेवन करता है, वह ज्वर से अवश्य ही ग्रस्त हो जाता है। क्योंकि कारण व्यापक होता है और कार्य व्याप्य। अतः जहां जहां कारण होता है, वहां वहां कार्य का रहना आवश्यक नहीं। जहां जहां कार्य रहता है, वहां कारण का रहना आवश्यक है। जहां प्रत्यक्ष रूप कार्य है, वहां उसके नियामक सम्बन्ध को रहना चाहिये, न कि वह सम्बन्ध जहां-जहां है, वहां प्रत्यक्ष को होना चाहिये। भूतलादि में अभाव का प्रत्यक्ष देखकर जिस सम्बन्धविशेष की कल्पना की जाती है, वह एक विशिष्ट सम्बन्ध है, परोक्षादिस्थल पर वह सुलभ नहीं हो सकता, क्योंकि संयोगादिघटित विशेषणता इन्द्रियसंनिकर्षजन्य प्रत्यक्ष-स्थल में ही बन सकती है, परोक्ष स्थल में नहीं। ६ प्रकार के प्रत्यक्षभेदों की उपपत्ति करने के लिये ६ संनिकर्ष माने गये हैं। सभी प्रत्यक्षों की उपपत्ति एक सम्बन्ध से नहीं हो सकती।

अभावप्रत्यक्ष में दृश्याभाव भी विशेषण रूप से उपात्त है[2]। दृश्याभाव शब्द में 'दृश्यस्याभावः' तथा 'दृश्ये अभावः' ये दोनों प्रकार के समास अभिप्रेत हैं। अतः कहीं दृश्य का अभाव और कहीं दृश्य में अभाव अभावप्रत्यक्ष में कारण होता है। अर्थात् कहीं अभाव के प्रतियोगी की दृश्यता (प्रत्यक्षयोग्यता) अपेक्षित होती है और कहीं अभाव के अनुयोगी की। जैसे-वृक्ष में पिशाचात्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष

---

1. (अ) सन्निकर्षः पुनः षोढा भिद्यते। संयोगः, संयुक्तसमवायः संयुक्तसमवेतसमवायः समवायः समवेतसमवायो विशेषणविशेष्यभावश्चेति। —न्यायवार्तिक, १/१/४

(ब) सन्निकर्षस्त्विन्द्रियाणामर्थैः सह षट्प्रकारः। —न्यायमंजरी, पूर्वभाग, पृ. ६८

2. न्यायसार, पृ. ३.

इसीलिये नहीं माना जाता कि उस अभाव का प्रतियोगी पिशाच प्रत्यक्षयोग्य नहीं है। अतः अत्यन्ताभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी की योग्यता अपेक्षित है। किन्तु 'वृक्षो न पिशाचः' इस अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष में अनुयोगी वृक्ष की प्रत्यक्षयोग्यता अपेक्षित है और वह प्रत्यक्षयोग्य है, अतः वृक्ष में पिशाचान्योन्याभाव का प्रत्यक्ष होता है।

६ सम्बन्धों की कल्पना जिस अन्वयव्यतिरेक के आधार पर होती है, उसी के आधार पर संयोगाभाव, समवायाभाव आदि में भी घटाभावादि के प्रति कारणता सिद्ध होती है। 'घटसंयोगसत्त्वे घटाभावप्रत्यक्षाभावः,' 'संयोगाभावसत्त्वे घटाभावप्रत्यक्षम्'—इस प्रकार का अन्वय-व्यतिरेक घटाभाव का संयोगाभाव के साथ है। संयोगाभाव, समवायाभाव—ये विषय नहीं, अपितु घटाभावरूप विषय की प्रत्यक्षता के नियामक सन्निकर्ष हैं। संयोगाभाव का घटाभाव के साथ सन्निकर्ष है—स्वप्रतियोगिकसम्बन्धाभाव-प्रयुक्तत्व। स्व शब्द से इन्द्रिय का ग्रहण है, तत्प्रतियोगिक, घटादि-अनुयोगिक संयोग के न होने से घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है। घटाभावप्रत्यक्ष का जनक घटसंयोगाभाव है, अतः घटसंयोगाभाव आलोकसंयोगादि से सहवृत्त होकर घटाभावनिष्ठ विशेषणतादि सन्निकर्षों का सम्पादकमात्र होता है। 'आयुर्वै घृतम्' में जैसे आयुः साधक घृत को आयु कह दिया जाता है, ऐसे ही विशेषणतादिसन्निकर्ष के सम्पादक संयोगाभावादि को भी विशेषणता सन्निकर्ष कह दिया जाता है। ऐसा व्यवहार उपचार कहलाता है। संयोगाभाव को विशेषणविशेष्यभाव कहने का तात्पर्य संयोगादि सम्बन्धों से उसका भेदबोधन भी है।[1]

संयोगनिरूपण

चक्षुरादि इन्द्रियों का घटादि द्रव्यों के साथ संयोग बतलाया है, क्योंकि द्रव्यों को युतसिद्धि के कारण संयोग सम्बन्ध है। इसी प्रसंग में सर्वद्रव्यानुगत संयोग का लक्षण बतलाया जा रहा है।

भासर्वज्ञ ने 'युतसिद्धयोः संश्लेषः संयोगः'[2] यह संयोग का लक्षण किया है तथा 'द्रव्ययोः पारम्पर्येण अवयवावयविभावरहितत्वं युतसिद्धिः'[3] यह युतसिद्धि का स्वरूप बतलाया है। यह युतसिद्धि नित्य तथा अनित्य दोनों प्रकार के द्रव्यों में घटित हो जाती है, क्योंकि नित्य द्रव्यों में अवयवावयविभाव होता ही नहीं और अनित्य द्रव्यों में जहां युतसिद्धि है, वहां अवयवावयविभाव का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वे दोनों स्वतन्त्र द्रव्य हैं। प्रशस्तपादाचार्य ने अनित्य द्रव्यों में पृथक्

1. न्यायभूषण, पृ. १६८

2. न्यायभूषण, पृ. १७०

3. वही

आश्रय में आश्रयित्वरूप युतसिद्धि मानी है तथा नित्य द्रव्यों में पृथग्गतिमत्तारूप युतसिद्धि। दोनों में से एक भी युतसिद्धि विभु नित्य द्रव्यों में घटित नहीं होती, क्योंकि वे विभु हैं, उनका कोई आश्रय नहीं है और विभु होने से ही उनमें गति का प्रश्न पैदा नहीं होता। अतः प्रशस्तपाद ने विभु द्रव्यों का संयोग स्वीकार नहीं किया है।[1]

भासर्वज्ञ द्वारा परिभाषित युतसिद्धि विभु द्रव्यों में भी घटित हो जाती है, क्योंकि विभु द्रव्यों में न तो परस्पर और न स्वयं में अवयवावयविभाव है। अत उनका संयोग होता है। इस प्रकार उन्होंने विभुओं का संयोग न मानने वाले प्रशस्तपादाचार्य के मत का खण्डन किया है।[2] शरीर से संयुक्त होने के कारण आत्मा आकाश से संयुक्त है, क्योंकि शरीर पांचभौतिक है। "आकाशेन संयुक्त आत्मा शरीरसंयुक्तत्वात्, भूतलादिवत्"[3] इस अनुमान प्रमाण से विभु द्रव्य आत्मा और आकाश का संयोग सिद्ध है। संयोगादिजनक कर्मादि की विभु द्रव्यों में सत्ता न होने से विभुओं का संयोग नित्य होता है।

न्यायवार्तिककार उद्द्योतकर ने ईश्वरसिद्धिप्रसङ्ग में—सम्बन्धाभाव के कारण ईश्वर आत्मान्तर (जीव) के धर्माधर्म का अधिष्ठाता नहीं हो सकता है—इस 'पूर्वपक्षशङ्का' का निराकरण करते हुए कहा है कि कतिपय दार्शनिक (एके) जीवात्मा का ईश्वर के साथ अजसंयोग मानते हैं और उन्होंने (वार्तिककार ने) उपर्युक्त शङ्का के निराकरण के लिये प्रतिषिद्ध न होने के कारण अजसंयोग का उपादान किया है।[4] अजसंयोग के प्रतिपादन के लिये उनके द्वारा उपन्यस्त प्रमाण को भी वार्तिककार ने उद्धृत किया है—"व्यापकैराकाशादिभिः सम्बद्ध ईश्वरः मूर्तिमद्द्रव्यसम्बन्धित्वाद् घटवदिति।"[5] वार्तिककार ने आगे यह भी सङ्केत किया है कि जिनको अजसंयोग अभीष्ट नहीं है, उनके मत में अणुमनःसंयोग की उपपत्ति होने से ईश्वर और जीवात्माओं का परम्परया सम्बन्ध हो जाता है और तद्द्वारा ईश्वर का अधिष्ठातृत्व भी उपपन्न हो जाता है।[6] आचार्य वाचस्पति मिश्र ने भी "संयुक्तसमवायो वा क्षेत्रज्ञेनेश्वरस्य संयोगात् अजसंयोगस्याप्युपपादितत्वात्"[7] यह कह कर अजसंयोग की

1. विभुनां तु परस्परतः संयोगो नास्ति युतसिद्ध्यभावात्। सा पुनर्द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्त्वं पृथगाश्रयाश्रयित्वं चेति। —प्रशस्तपादभाष्य, पृ. १०४
2. 'एवं युतसिद्ध्यभावान्नास्ति विभुनां संयोग' इत्ययुक्तं, हेतोरसिद्धत्वात्। प्रमाणसिद्धश्च विभुनां संयोगः। —न्यायभूषण, पृ. १७०
3. न्यायभूषण, पृ. १७०। तुलना— 'आकाशमात्मसंयोगि, मूर्तद्रव्यसंयोगित्वात्, घटवदित्यनुमानम्।'— भामती, २.२.१७.
4. न्यायवार्तिक, ४/१/२१
5. तत्रैव।
6. तत्रैव।
7. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, ४/१/२१.

उपपत्ति स्वीकार की है। भासर्वज्ञ के पूर्ववर्ती जयन्त भट्ट ने विभु द्रव्यों का अज-संयोग स्वीकार न करते हुए कहा है—"विभूनामपि सम्बन्धः परस्परमसम्भवादेव नेष्यते न परिभाषणात्, न संयोगस्तेषामप्राप्तेरभावादप्राप्तिपूर्विका हि प्राप्तिः संयोगः"।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि न्याय सम्प्रदाय में अजसंयोग को स्वीकार करने वाले नैयायिकों में भासर्वज्ञाचार्य प्रथम नहीं थे, अपि तु उनसे पहिले कतिपय नैयायिकों ने इसका प्रतिपादन कर दिया था। यह भी स्पष्ट है कि अजसंयोग न्यायसम्प्रदाय मे सर्व-सम्मत नहीं है। भासर्वज्ञाचार्य ने तो पूर्ववर्ती एकदेशीय नैयायिकों के द्वारा प्रति-पादित अजसंयोग का समर्थन किया है। प्रोफेसर कार्ल एच्. पाटर ने उल्लेख किया है कि अजसंयोग के प्रशस्तपादकृत प्रतिषेध का प्रायः सभी नैयायिकों और वैशेषिकों ने अनुसरण किया है, परन्तु अपरार्कदेव ने विभु द्रव्यों में संयोग को स्वीकार करते हुए विलक्षणतापूर्वक असहमति व्यक्त की है।[2] प्रोफेसर पॉटर ने अजसंयोग के बारे में भासर्वज्ञ के मत का उल्लेख नहीं किया है। वस्तुस्थिति यह है कि अपरार्क ने तो अपने गुरु भासर्वज्ञ के मत का समर्थन किया है।

न्यायलीलावतीकार श्रीवल्लभाचार्य ने भासर्वज्ञकृत युतिसिद्धिलक्षण का खण्डन किया है। उनके मतानुसार यदि अवयवावयविभाव के अभाव की युतसिद्धि माना जायेगा, तो गुणादि में भी असमवायिता की आपत्ति हो जायेगी, जो कि सर्वथा अनिष्ट है।[3]

समवायप्रत्यक्ष

महर्षि कणाद ने समवाय का 'इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः'[4] यह लक्षण बतलाया है। प्रशस्तपाद के अनुसार समवाय सम्बन्ध कार्यकारणभूत पदार्थों का ही नहीं, अपि तु अकार्यकारणभूत पदार्थों का भी होता है, जैसाकि उनके द्वारा दी गई परिभाषा से स्पष्ट है—'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणां कार्यकारणभूतानाम् अकार्यकारणभूतानां वाऽयुतसिद्धानाम् आधार्याधारभावेन अवस्थितानामिहेदमिति बुद्धिर्यतो भवति यतश्चासर्वगतानामधिगतान्यत्वानामविष्वग्भावः स समवायाख्यः सम्बन्धः।'[5] भासर्वज्ञ ने समवाय की परिभाषा 'अयुतसिद्धयोः संश्लेषः समवायः'[6] यह की है। इससे यह स्पष्ट है कि उन्हें भी कार्यकारणभूत तथा अकार्यकारणभूत दोनों पदार्थों का समवाय अभीष्ट है।

1. न्यायमञ्जरी, प्रथम भाग, पृ. २८५
2. He is followed in this by most of our philosophers Characteristically, however, Aparārkadeva disagrees, allowing contact between two ubiquitous substances such as ākaśa and time. —Karl H. Potter, The Encyclopedia of Indian Philosophies, Vol. II, p. 122.
3. अवयवावयविभावाभाव एव युतसिद्धिरिति चेन्न। गुणादेरसमवायित्वापत्तेः। एषां स्वातन्त्र्येणाश्रयान्तरासमवायित्वमयुतसिद्धिरिति चेन्न। तुल्यत्वात्।— न्यायलीलावती, पृ १२५
4. वैशेषिकसूत्र, ७/२/२६
5. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. २८९
6. न्यायभूषण, पृ. १७०

समवाय का प्रत्यक्ष होता है या वह अनुमेय है, यह विचारणीय विषय है। वैशेषिक मतानुसार योगियों को समवाय का प्रत्यक्ष होता है, परन्तु अस्मदादि जनों के लिये वह अनुमेय है। प्रशस्तदेव ने प्रतिपादन किया है कि सत्ता आदि जातियों का प्रत्यक्ष घटादि विषयों में उनके समवाय सम्बन्ध से रहने के कारण संयुक्तसमवाय सम्बन्ध द्वारा होता है परन्तु समवाय का प्रत्यक्षविषयभूत घटादि द्रव्य तथा रूपादि विषयों के साथ सम्बन्ध अन्य किसी सम्बन्ध से नहीं है। यदि समवाय के भी समवायियों के साथ सम्बन्ध के लिये सम्बन्धान्तर की कल्पना की जायेगी, तो अनवस्था दोष की प्रसक्ति होगी। अतः समवाय समवायियों में स्वरूपतः ही रहता है, सम्बन्धान्तर से नहीं। अर्थात् इन्द्रिय जब किसी भाव पदार्थ का प्रत्यक्ष करती है, तब इन्द्रिय का उस भाव पदार्थ से संयोग या समवाय सम्बन्ध आवश्यक है और वह सम्बन्ध सम्बन्धियों से भिन्न होना चाहिए। जैसे—चक्षु द्वारा घटादि द्रव्यों के प्रत्यक्ष में गृह्यमाण घट के साथ इन्द्रिय का संयोग सम्बन्ध है, वह घट तथा चक्षुरिन्द्रिय दोनों से भिन्न है। यही स्थिति अन्य सम्बन्धों में है। किन्तु इन्द्रिय द्वारा समवाय का ग्रहण करते समय गृह्यमाण समवाय के साथ इन्द्रिय का न तो संयोग है और न समवाय। अतः ग्राहक संनिकर्ष के अभाव के कारण समवाय का प्रत्यक्ष नहीं होता। स्वात्मवृत्तित्व और वृत्त्यन्तराभाव के कारण ही वह अतीन्द्रिय कहलाता है।[1] इसी विषय का स्पष्टीकरण करते हुए श्रीधराचार्य ने भी कहा है—'संयोगसमवायापेक्षस्यैव इन्द्रियस्य भावग्रहणसामर्थ्यमुपलभ्यते। यथा इन्द्रियेण संयोगप्रतिभासो नैवं समवायप्रतिभासो भवति, संबन्धिनोः पिण्डीभावेन उपलम्भात्'।[2] अतः वैशेषिक-मतानुसार सामान्यजनों के लिये समवाय 'इहेति' बुद्धि से अनुमेय है, प्रत्यक्ष नहीं। व्योमशिवाचार्य के अनुसार सविकल्पकज्ञान में ही समवाय अनुमेय होता है, अवयव-अवयवी के निर्विकल्पक संश्लेषज्ञान में समवाय का प्रत्यक्ष होता है।[3]

किन्तु नैयायिक अभाव की तरह समवाय की भी विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध से साक्षात्कारिणी प्रमा मानते हैं। इन्द्रियजन्य प्रमा साक्षात्कारिणी प्रमा कहलाती है।[4] इन्द्रियजन्य प्रमा विषयग्रहण के लिये न केवल इन्द्रिय, अपितु इन्द्रियार्थसंनिकर्ष की

1. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. २९३
2. न्यायकन्दली, पृ. ७८७–७८६
3. निर्विकल्पके त्ववयवावयविनोः संश्लेषज्ञाने समवायः प्रत्यक्ष एव।—व्योमवती, पृ. ६९९.
4. वेदान्त शब्दजन्य प्रत्यक्ष भी मानता है, अनुपलब्धिजन्य प्रत्यक्ष भी मानता है और अर्थापत्तिजन्य प्रत्यक्ष भी। अतः इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है, ऐसा नियम उनके अनुसार नहीं हो सकता। तथापि अपनी-अपनी परिभाषाओं की व्यूहरचना प्रत्येक दार्शनिक ने की है। एक के अनुसार दूसरे पर दोषारोपण नहीं किया जा सकता। दोनों के मतों में प्रत्यक्ष का स्वरूप भी कुछ भिन्नभिन्न हो जाता है। अतः नैयायिकों की अपनी परिभाषा के अनुसार कहा जा सकता है कि अयोगिप्रत्यक्ष (अनीश्वर ज्ञान) इन्द्रियजन्य होता है।

भी अपेक्षा रखती है। क्योंकि नैयायिकों ने समवाय का भी प्रत्यक्ष स्वीकार किया है, अतः वहां भी इन्द्रियार्थसंनिकर्ष आवश्यक है और वह है—पंचविधसम्बन्ध-सम्बद्धविशेषणविशेष्यभाव। 'येनेन्द्रियेण यद्गृह्यते तेनेन्द्रियेण तद्गतं सामान्यं, तद्गतः समवायः, तद्गतोऽभावश्च गृह्यते' इस न्याय से भी न्यायशास्त्र में समवाय की प्रत्यक्षत्वस्वीकृति का ज्ञान होता है। आचार्य भासर्वज्ञ ने भी समवाय के प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में 'न्यायसार' में 'एतत्पंचविधसम्बन्धसंबद्धविशेषणविशेष्यभावाद् दृश्याभावसमवाययोर्ग्रहणम्। तद्यथा घटशून्यं भूतलम्, इह भूतले घटो नास्ति। एवं सर्वत्रोदाहरणीयम्। समवायस्य तु क्वचिदेव ग्रहणम्। यथा—रूपसमवायवान् घटः, घटे रूपसमवाय इति'[1] यह कहा है। इसका आशय भासर्वज्ञ ने 'न्यायसार' की स्वोपज्ञवृत्ति 'न्यायभूषण' में स्पष्ट किया है। उनका आशय है कि समवाय का प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि जैसे 'दण्डी पुरुषः' यह ज्ञान दण्ड और पुरुष के संयोग का प्रत्यक्ष होने पर होता है, इसी प्रकार 'शुक्लः पटः' इस रूप से शुक्लगुणविशिष्ट पट की प्रतीति भी शुक्ल गुण तथा गुणी पट के समवाय सम्बन्ध के प्रत्यक्ष के बिना अनुपपन्न है। इस प्रकार भासर्वज्ञ समवाय का प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं, परन्तु उसका प्रत्यक्ष अभावप्रत्यक्ष की तरह विशेषणत्वेन या विशेष्यत्वेन अक्षजन्य नहीं होता, क्योंकि विशेषणत्वेन या विशेष्यत्वेन समवाय का इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष मानने पर उसके विशिष्ट ज्ञान होने से और विशिष्ट ज्ञान में विशेषण, विशेष्य व सम्बन्ध तीनों के ज्ञान की अपेक्षा होने से समवाय तथा समवायी के सम्बन्ध का ज्ञान भी मानना होगा और सम्बन्ध समवाय से भिन्न मानना होगा, क्योंकि सम्बन्ध सम्बन्धियों से भिन्न होता है। जैसे दण्ड तथा पुरुष का संयोग दण्ड तथा पुरुष से भिन्न है और समवाय से भिन्न सम्बन्ध मानने पर अनवस्थादोष की प्रसक्ति होगी। तथा जैसे 'दण्डपुरुषयोः संयोगः' या 'पुरुषो दण्डसंयुक्तः' यह प्रतीति संयोग तथा दण्ड व पुरुषरूप संयोगी के सम्बन्धज्ञान का आक्षेपक है क्योंकि संयोग तथा संयोगियों के सम्बन्धज्ञान के बिना उपर्युक्त विशिष्ट प्रतीति नहीं हो सकती। उसी प्रकार यदि प्रत्यक्ष से 'घटरूपयोः समवायः' या 'रूपं घटे समवेतम्' इत्याकारक विशिष्ट प्रतीति होती, तो उस प्रतीति के आपादक समवाय तथा समवायियों के परस्पर सम्बन्ध का भी आक्षेप होता है, परन्तु ऐसी प्रतीति प्रत्यक्षतः नहीं है। अतः समवाय के प्रत्यक्ष न होने से उसके उपपादक सम्बन्धान्तर का आक्षेप भी नहीं होता।[2]

यद्यपि 'घटरूपयोः समवायः' इत्याकारक प्रत्यक्षज्ञान न होने पर भी घट तथा घटरूप का समवाय सम्बन्ध है, ऐसा यौक्तिक ज्ञान तो होता ही है और 'घटः रूपसमवायवान्' इस विशिष्ट ज्ञान की उपपत्ति के लिये भी घटरूप, समवाय तथा

---

1. न्यायसार, पृ. ३.
2. समवायस्य सम्बन्धग्रहणाक्षेपकत्वेनाप्रतिभासनात्। न हि प्रत्यक्षादनयोः समवाय इति, इदमत्र समवेतमिति वा, समवाय्येतदिति वा कस्यचित् प्रतीतिरस्ति, यथा भूतले घटो नास्ति इति सर्वेषामस्ति प्रतीतिः।—न्यायभूषण, पृ. १६९.

इनसे भिन्न सम्बन्ध इन तीनों के ज्ञान की अपेक्षा है, क्योंकि विशिष्ट ज्ञान विशेषण, विशेष्य तथा सम्बन्ध तीनों के ज्ञान के बिना अनुपपन्न है। ऐसी स्थिति में घटरूप तथा समवाय से भिन्न सम्बन्ध की सत्ता मानने पर यौक्तिक प्रत्यक्ष में भी अनवस्था दोष की प्रसक्ति बनी रहेगी और यदि यौक्तिक विशिष्ट ज्ञान में सम्बन्धज्ञान की अपेक्षा नहीं मानी जाती है, तो विशिष्टज्ञान विशेषण-विशेष्यतत्सम्बन्धज्ञानपूर्वक होता है, इस नियम का व्यभिचार होता है।

भासर्वज्ञ का कथन है कि जिस विशिष्ट ज्ञान का इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष होता है, वह विशेष्य, विशेषण तथा उनके सम्बन्ध के ज्ञान के बिना नहीं हो सकता, किन्तु परोक्ष प्रतिभासरूप यौक्तिक प्रत्यक्ष सम्बन्धानुभव का व्याप्य नहीं होता, वह सम्बन्धज्ञान के बिना भी हो जाता है और समवाय का यौक्तिक प्रत्यक्ष माना गया है, अतः यौक्तिक प्रत्यक्ष में विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धपूर्वकत्वरूप साध्य के व्यभिचार का प्रश्न उपस्थित नहीं हो सकता।[1] यद्यपि 'दण्डपुरुषयोः संयोगः' इत्याकारक विशिष्ट ज्ञान जैसे संयोग तथा संयोगियों के सम्बन्धज्ञान के बिना अनुपपन्न है, उसी प्रकार 'घटरूपयोः समवायः' या 'घटे रूपं समवेतम्' इत्याकारक यौक्तिक विशिष्ट ज्ञान भी समवाय तथा समवायियों के सम्बन्धज्ञान के बिना अनुपपन्न है। अतः उनके सम्बन्ध का आक्षेप मानना ही होगा और समवायभिन्न सम्बन्ध मानने पर अनवस्थादोष की प्रसक्ति पूर्ववत् विद्यमान है, तथापि समवाय तथा समवायियों का सम्बन्धज्ञान समवाय के स्वरूपभेद को मानकर हो सकता है, इसके लिये सम्बन्धान्तर-कल्पना की आवश्यकता नहीं। जैसे एक ही सत्ता में स्वरूपभेदकल्पना से द्रव्यादि में सद्व्यवहार सती सत्ता अर्थात् समवाय सम्बन्ध से सत्ता जाति की स्थिति से और सामान्य में सद्व्यवहार असती सत्ता अर्थात् स्वरूपतः सत्ता जाति की स्थिति से माना जाता है,[2] उसी प्रकार 'दण्डपुरुषयोः संयोगः' इस विशिष्ट ज्ञान में संयोग तथा संयोगियों के सम्बन्धज्ञान के लिये उससे भिन्न समवाय सम्बन्ध की अपेक्षा है, किन्तु 'घटरूपयो समवायः' इत्याकारक विशिष्ट ज्ञान में समवाय को अपने समवायियों से सम्बन्ध के लिये समवाय से भिन्न सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं, अपितु समवाय स्वयं ही स्वरूप से अपने समवायियों से सम्बद्ध है। अर्थात् अदृष्टादिसहित प्रत्यक्षयोग्य घट तथा रूप इन दोनों से सम्बन्धित इन्द्रियसंनिकर्ष द्वारा ही समवाय सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है, उसके लिये किसी पृथक् संनिकर्षरूप सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं है।[3]

1. न्यायभूषण, पृ. १६९

2. सत्ता के दो भेद कल्पित किये गये है—(१) स्वरूपतः सत्ता और (२) सत्त्वेन सत्ता।
जैसे — ब्रह्म सत्ता से सत् नहीं, अपितु स्वरूपतः अर्थात् सद्रूप होने से सत् है।

प्रकृत्यर्थातिरेकेण प्रत्ययार्थो न गम्यते।
सत्तेत्यत्र ततः स्वार्थस्तद्धितोऽत्र भवन्भवेत्॥

—बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, का. १६८८, पृ. १६७८

3. न्यायभूषण, पृ. १६९

तात्पर्य यह है कि 'दण्डपुरुषयोः संयोगः', 'पुरुषो दण्डसंयुक्तः' इत्याकारक संयोग-प्रत्यक्ष के समान 'घटरूपयोः समवायः', 'रूपं घटसमवेतम्' इत्यायारक प्रत्यक्षज्ञान नहीं है। अतः समवाय की विशेषणतया व विशेष्यतया प्रतीति न होने से उनका विशेष्य-विशेषणभाव से प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु घट तथा रूप के समवाय सम्बन्ध का ज्ञान अनुमान से होता है। उसीको भासर्वज्ञ ने यौक्तिक प्रत्यक्ष माना है। समवाय का विशेषणविशेष्यभाव से अक्षज प्रत्यक्ष उनको मान्य नहीं है। ऐसी स्थिति में 'समवायस्य क्वचिदेव ग्रहणम्। यथा-रूपसमवायवान् घटः, घटे रूपसमवायः' इस उक्ति द्वारा न्यायसार में विशेषणविशेष्यभाव द्वारा उसका जो प्रत्यक्ष बतलाया है, वह अविचारित अभिधान ही है।[1] अर्थात् 'भूतले घटो नास्ति' की तरह प्रत्येक को विशेषणतया या विशेष्यतया उसका ज्ञान नहीं होता, अपि तु असदुपदेश से विपर्यस्त बुद्धि वालों को ही ऐसा होता है।[2] अतः समवाय का विशेषणविशेष्य-भाव से अक्षज प्रत्यक्ष न होकर यौक्तिगत प्रत्यक्ष ही होता है[3] और वह युक्ति 'शुक्लः पट इत्यादि प्रत्यक्षप्रत्ययः प्रत्यक्षेण ज्ञायमानसम्बन्धपूर्वकः, प्रत्यक्षात्मकविशिष्ट-प्रत्ययत्वाद् दण्डीतिप्रत्ययवत्'[4] इत्याकारक अनुमान है, जिससे समवाय के प्रत्यक्ष का अनुमान होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि न्यायसार की रचना के समय समवाय का विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध से प्रत्यक्ष भासर्वज्ञ को क्वचित् अर्थात् कतिपय स्थलों (स्थानत्रय) में अभिमत था, परन्तु बाद में चिन्तासन्तति के फलस्वरूप उनको मान्यता परिवर्तित हो गई और न्यायभूषण में यह प्रतिपादित किया कि समवाय का यौक्तिक प्रत्यक्ष होता है न कि विशेष्यतया व विशेषणतया अक्षज प्रत्यक्ष।

योगिप्रत्यक्ष

देश की दृष्टि से विप्रकृष्ट सत्यलोकादि, अतिदूरस्थ और व्यवहित नागभुवनादि, काल की दृष्टि से विप्रकृष्ट अतीत और अनागत, स्वभावविप्रकृष्ट परमाणु आकाशादि—इन तीन प्रकार के विप्रकृष्टों में समस्त अथवा व्यस्त का ग्राहक प्रत्यक्ष योगिप्रत्यक्ष कहलाता है।[5]

1. क) ममैव वा स्खलितमेतद्, अपर्यालोचितग्रन्थकरणात्।—न्यायभूषण, पृ. १६९
   ख) आचार्यः पुनरत्रैव स्खलितं वास्तिवदं ममेत्यवोचत्। —न्यायमुक्तावली (प्रथम भाग), पृ. १७६
   ग) भासर्वज्ञस्तु केनाभिप्रायेण ममैव वाक्स्खलितमेतदिति व्याख्यातमिति चिन्त्यम्।
   —न्यायसारविचार, पृ. २१
2. समवायस्य बुद्धौ तथाग्रहणं क्वचिदेव भवति। अर्थात् असदुपदेशविपर्यासित-बुद्धावेव समवायस्तथा गृह्यते, न तु अभाववत् लौकिकबुद्धौ सर्वव्यवहर्तृबुद्धौ वा।
   —न्यायभूषण, पृ. १६९
3. तस्माद् यौक्तिकमेव समवायस्य प्रत्यक्षत्वम्।—न्यायभूषण, पृ. १६९
4. न्यायसारपदपंचिका, पृ. १६
5. (अ) न्यायसार, पृ. ३ (ब) न्यायभूषण, पृ. १७०

उसकी दो अवस्थाएं हैं—(१) युक्तावस्था और (२) वियुक्तावस्था। युक्तावस्था में धर्मादिसहित आत्मा और अन्तःकरणादि के संयोग से ही समस्त विषयों का ग्रहण होता है। अशेषार्थग्रहण परमयोगी की दृष्टि से बतलाया गया है, क्योंकि योगिसामान्य को अशेष अर्थों का ग्रहण नहीं होता है।[1] आत्मा और अन्तःकरण के संयोग से ही होता है, यह अवधारण अर्थसन्निकर्ष के निषेध के लिये है। इससे सहकारिमात्र का निषेध नहीं किया गया है, क्योंकि 'धर्मादिसहितात्' के द्वारा उसका कथन कर दिया गया है। वियुक्तावस्था में अर्थसंनिकर्ष होता है।

भासर्वज्ञ ने आर्षज्ञान का योगिप्रत्यक्ष में ही अन्तर्भाव माना है। अतः यहां आर्षज्ञान के योगिप्रत्यक्ष में अन्तर्भाव का विवेचन किया जा रहा है।

आर्षज्ञान का योगिप्रत्यक्ष में अन्तर्भाव

प्रशस्तदेव तथा उनके अनुयायी वैशेषिक आचार्यों ने प्रत्यक्ष, लैंगिक, स्मृति और आर्षज्ञान भेदभिन्न चतुर्विध विद्या में आर्षज्ञान को माना है।[2] वैशेषिक इस आर्षज्ञान को योगिप्रत्यक्ष से भिन्न मानते हैं। वे प्रातिभापरपर्याय आर्षज्ञान की सत्ता मानते हैं। सर्वप्रथम 'पदार्थधर्मसंग्रह' में श्री प्रशस्तपाद ने इसका प्रतिपादन किया है। उनका कथन है कि वेद-निर्माता त्रिकालदर्शी ऋषियों को अतीन्द्रिय, अतीत, अनागत, वर्तमान विषयों का ज्ञान धर्मविशेष के साहाय्य से आत्ममनः-संयोग से होता है, उसे ही आर्षज्ञान कहते हैं।[3] इस ज्ञान को स्मृतिज्ञान की तरह अप्रमारूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह यथार्थानुभवरूप है। प्रमारूप ज्ञान मानकर भी उसे धूमदर्शनजन्य वह्निज्ञान की तरह परोक्ष भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह ज्ञान लिंगानुसन्धान के बिना होता है। अपरोक्ष इसलिये नहीं माना जा सकता कि अतीन्द्रिय तथा अतीत, अनागत वस्तुओं के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं है और अपरोक्षज्ञान विषयेन्द्रियसन्निकर्षजन्य होता है। आत्ममनःसंयोगजन्य इसलिये नहीं हो सकता कि बाह्य विषय में अन्तःकरण की प्रवृत्ति नहीं होती। प्रमाणान्तर मानने पर प्रत्यक्ष, अनुमान दो ही प्रमाण हैं, इस वैशेषिकसिद्धान्त का व्याघात होता है। अतः इस आर्षज्ञान को उन्होंने धर्मविशेषसहकृत आत्ममनः-संयोग से जन्य प्रत्यक्ष माना है। धर्मविशेषसंस्कृत अन्तःकरण की प्रवृत्ति उसी प्रकार बाह्य विषय में संभव है, जैसे योगजधर्मसहकृत अन्तःकरण की। योगिप्रत्यक्ष में योगजधर्मानुगृहीत अन्तःकरण की बाह्य अतीन्द्रिय, अतीत अनागत विषयों में

---

1. एतच्च परमयोगिविवक्षयोक्तम्, न तु योगिमात्रस्याशेषार्थग्रहणं भवति।
—न्यायभूषण, पृ. १७०

2. विद्यापि चतुर्विधा। प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा।—प्रशस्तपादभाष्य, पृ. १५३

3. आम्नायविधातृणामृषीणामतीतानागतवर्तमानेष्वतीन्द्रियेषु धर्मादिषु ग्रन्थोपनिबद्धेषु अनुपनिबद्धेषु चात्ममनसोः संयोगाद् धर्मविशेषाच्च यत्प्रातिभं यथात्मनिवेदनं ज्ञानमुत्पद्यते तद् 'आर्षम्' इत्याचक्षते। —प्रशस्तपादभाष्य, पृ. २०८,२०९

प्रवृत्ति सभी मानते हैं, उसी प्रकार आर्षज्ञान में भी तपःसमाधिजन्य-धर्मानुगृहीत अन्तःकरण की बाह्य विषय में प्रवृत्ति संभव है और इस प्रकार धर्मविशेषानुगृहीत आत्मनः संयोग से अतीत, अनागत, आदि विषयों का प्रत्यक्ष होने से आर्षज्ञान प्रत्यक्ष ही है। यह ज्ञान बाहुल्येन देवता, ऋषि आदि को होता है, किन्तु कभी कभी लौकिक व्यक्तियों को भी होता है। जैसे, कोई कन्या कहती है—कल मेरा भाई आयेगा, ऐसा मेरा मन बतलाता है और कन्या का यह ज्ञान यथार्थ निकलता है।[1] यहां कन्या के इस ज्ञान में इस जन्म के किसी तपःसमाधिजन्य धर्म के अनुग्राहक तथा अनागत विषय के साथ इन्द्रियसम्बन्ध तथा किसी लिंगादि का प्रतिसन्धान न होने पर भी उस ज्ञान की यथार्थता को देखकर जन्मान्तरीय तपः-प्रभाव-प्रभावित धर्मविशेष द्वारा अनुगृहीत मन के द्वारा ही उसको ज्ञान हुआ है, यह बात माननी पड़ती है। अतः वह भी तप आदि प्रभावप्रभावित धर्मविशेष से जन्य होने से आर्षज्ञान ही है। इसी ज्ञान को प्रतिभाजन्य होने से प्रातिभ कहा जाता है।

यह आर्षज्ञान योगिप्रत्यक्ष से भिन्न है, ऐसा प्रशस्तदेव को अभिमत है। इसीलिये उन्होने पहिले प्रत्यक्षनिरूपण में योगज धर्म से होने वाले योगिप्रत्यक्ष का निरूपण करने के पश्चात् पृथक् रूप से आर्षज्ञान का प्रतिपादन किया है। किन्तु भासर्वज्ञ इसका योगिप्रत्यक्ष में अन्तर्भाव करते हैं। उनकी मान्यता है कि योगिप्रत्यक्ष की तरह आर्षज्ञान भी प्रकृष्टधर्मजन्य है, प्रकृष्टधर्मजन्यत्व दोनों में समान धर्म है। अतः दोनों एक हैं, पृथक् नहीं। आर्षज्ञान को भी धर्मविशेषजन्य माना ही जाता है, इस प्रकार योगिप्रत्यक्ष से आर्षज्ञान संगृहीत हो जाता है।[2] भासर्वज्ञ ने योगि-प्रत्यक्ष का लक्षण 'योगिप्रत्यक्षन्तु देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थग्राहकम्'[3] यह किया है। 'न्यायभूषण' में इसका विशदीकरण करते हुए कहा है 'देशादिविप्रकृष्टेष्वर्थेषु सम्यग-परोक्षानुभवो हि योगिप्रत्यक्षस्य लक्षणम्'।[4] व्यास आदि आर्ष पुरुषों को प्रकृष्ट धर्म से आर्षज्ञानरूप योगिप्रत्यक्ष होता है। अतः योगिप्रत्यक्ष और आर्षज्ञान में प्रकृष्ट धर्म साधन है, वह प्रकृष्ट धर्म चाहे योगांगानुष्ठान से हो अथवा तपःप्रकर्ष से अथवा यज्ञादि साधनों के प्रकर्ष से। इन अवान्तर कारणभेदों से प्रमाणभेद सिद्ध नहीं होता।[5] जैसे पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रतिभा को अनुपहसनीय काव्य का कारण मानकर त्रिलक्षण व्युत्पत्ति, काव्यव्याकरणाभ्यासादि में काव्यकारणता का निराकरण किया है अर्थात् प्रतिभा चाहे देवता-महापुरुष-प्रसादादिजन्य हों,

---

1. प्रशस्तपादभाष्य पृ २०९
2. न्यायसार, पृ. ३
3. वही
4. न्यायभूषण, पृ. १७१
5. न्यायभूषण, पृ. १७१

चाहे विलक्षण व्युत्पत्ति से या काव्यव्याकरणाभ्यासादि कारण से जन्य हो, किन्तु काव्य के प्रति कारण प्रतिभा ही है,[1] उसी प्रकार अलौकिक योगि-प्रत्यक्ष तथा आर्ष प्रत्यक्ष का कारण प्रकृष्ट धर्म है, वह धर्म चाहे योगज हो या तपोजन्य, विद्याजन्य हो या समाधिजन्य। इसलिये अपरार्क ने न्यायमुक्तावली में कहा है 'साधनं तु धर्मः समाधिसाध्यो वा, तपःप्रभृतिसाधनीयो वाऽस्तु। नैतावता प्रमाणभेदः ! कारणानामान्तर्गणिकभेदेन प्रमाणानन्त्यप्रसक्तेः।[2]

योगिप्रत्यक्ष में अनेक आगमवचन प्रमाण हैं। योगिसद्भाव की आशंका का निराकरण करते हुए आचार्य भासर्वज्ञ ने बतलाया है कि वे श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास तथा अनेक योगशास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। उनका अपलाप पापातिशय ही है, जो नरकादि अनन्त यातनाओं को उत्पन्न करता है। योगिसद्भाव का ज्ञापक अनुमान इस प्रकार है—'धर्मादि केषांचित्प्रत्यक्षं प्रमेयत्वात् करतलवदिति।'[3]

भासर्वज्ञ के परवर्ती उदयनाचार्य ने आर्षज्ञान के योगिप्रत्यक्षान्तर्भाव का खण्डन किया है।[4] उदयनाचार्य का तर्क यह है कि योगिप्रत्यक्ष के कारण योगजन्य धर्म तथा आर्षज्ञान के कारण तपोजन्य धर्म दोनों के प्रकृष्टधर्मशब्दवाच्य होने से प्रकृष्टधर्मशब्दवाच्यत्वरूप से समानता होने पर भी उन दोनों धर्मों में प्रकर्ष की प्रवृत्तिनिमित्तता में भेद है। योगिप्रत्यक्ष के कारणभूत धर्म में उस प्रकर्ष का प्रवृत्तिनिमित्त योग है तथा आर्षज्ञान के कारणभूत धर्म में प्रकर्ष का प्रवृत्तिनिमित्त तप या विद्या या समाधि आदि हैं। अतः दोनों के कारणभूत धर्मों के भिन्न होने से तज्जन्य योगिप्रत्यक्ष व आर्षज्ञान में भी भेद है। योगिप्रत्यक्ष में भी आर्षज्ञान की तरह धर्मविशेष को कारण माना नहीं जा सकता, क्योंकि वहां धर्मविशेष की उपलब्धि नहीं। कन्या के ज्ञान में अनागत भ्राता के साथ इन्द्रियसम्बन्ध न होने से तथा उस ज्ञान के यथार्थ होने से अनुपलभ्यमान जन्मान्तरीय धर्मविशेष की कल्पना समुचित है, किन्तु योगिप्रत्यक्ष में योगज धर्म के द्वारा अतीत, अनागत, व्यवहित, विप्रकृष्ट वस्तुओं का ज्ञान संभव होने से धर्मविशेष की कल्पना नहीं मानी जा सकती। अतः धर्मविशेषरूप सामान्यकारणजन्यता को लेकर भी योगिप्रत्यक्ष व आर्ष प्रत्यक्ष को एक नहीं माना जा सकता। अतः दोनों प्रत्यक्ष भिन्न हैं। आर्षज्ञान धर्मविशेषजन्य है, जबकि योगिप्रत्यक्ष योगजधर्मजन्य है।[5] किन्तु किरणावलीकार उदयन का यह भेदप्रतिपादन समीचीन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि योगि-प्रत्यक्ष व आर्ष प्रत्यक्ष में प्रकृष्ट धर्मरूप कारण के समान होने से उनका कार्य प्रत्यक्ष भी समान ही होगा। प्रकृष्ट धर्मरूप कारण में विशेषणीभूत प्रकर्ष के कारणों के भिन्न

---

1. तस्य च कारण कविगता केवला प्रतिमा। .... न तु त्रयमेव। —रसगंगाधर, पृ. ८
2. न्यायमुक्तावली, प्रथम भाग, १७९
3. वही
4. किरणावली, पृ. २४६
5. किरणावली, पृ. २४६

भिन्न होने पर भी तज्जन्य प्रकृष्ट धर्म में किसी प्रकार का भेद नहीं माना जा सकता। तथा जैसे तपोजन्य, विद्याजन्य, समाधिजन्य धर्म सभी धर्मविशेष-पदवाच्य हैं, उसी प्रकार योगजन्य धर्म भी धर्मविशेष ही है। अतः योगिप्रत्यक्ष व आर्ष प्रत्यक्ष दोनों में धर्मविशेषजन्यत्वरूप समानता होने से दोनों प्रत्यक्ष अभिन्न हैं।[1] सूत्रकार कणाद ने भी आर्षज्ञान का योगिप्रत्यक्ष में अन्तर्भाव अभीष्ट होने के कारण उसका पृथक् कथन नहीं किया है, जैसाकि 'वैशेषिकसूत्रोपस्कार' में शंकर मिश्र ने कहा है, 'आर्षं ज्ञानं सूत्रकृता पृथङ् न लक्षितं योगिप्रत्यक्षान्तर्भावितम्'।[2] प्रशस्तपादाचार्य ने आर्षज्ञान को प्रातिभज्ञान अर्थात् प्रतिभाजन्य ज्ञान माना है और प्रातिभज्ञान योगिप्रत्यक्षज्ञान ही है, जैसा कि 'प्रातिभाद्वा'[3] 'ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते'[4] इन योगसूत्रों से स्पष्ट है।

भासर्वज्ञ के परवर्ती मानमनोहरकार वादिवागीश्वराचार्य ने भी धर्मविशेष से प्रसूत होने के कारण आर्षज्ञान का योगिप्रत्यक्ष में अन्तर्भाव क्यों नहीं हो सकता-इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि आर्षज्ञान सर्वत्र धर्मविशेष से जनित नहीं होता। यदि किसी एक आर्षज्ञान में धर्मविशेषजन्यता होने से उसका अन्तर्भाव धर्मविशेषजन्यत्व के आधार पर योगिप्रत्यक्ष में भी मान लें, तब भी आर्षज्ञान में सर्वत्र धर्मविशेषजन्यता न होने से आर्षज्ञान को योगिप्रत्यक्षान्तर्भूत न मानकर पृथक् ही मानना पड़ता है।[5]

प्रशस्तपाद ने स्पष्टतया धर्मविशेष को आर्षज्ञान के प्रति कारण बतलाया है।[6] कदाचित् लौकिकों को होने वाले (यथा कन्यका ब्रवीति-श्वो मे भ्राता आगन्ता) आर्षज्ञान के प्रति भी धर्मविशेष ही कारणत्वेन माना गया है।[7] ऐसी परिस्थिति में मानमनोहरकार का यह कथन कि आर्षज्ञान कहीं धर्मविशेषजन्य होता है, सर्वत्र नहीं, विचारणीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मविशेषजत्वरूप साम्य से आर्षज्ञान का योगिप्रत्यक्ष में अन्तर्भाव करने वाले भासर्वज्ञाचार्य के मत का खण्डन करने का उनका आग्रह है और उपर्युक्त रीति से धर्मविशेषजन्यत्व के कारण उसका निराकरण हो नहीं सकता। अतः उन्होंने आर्षज्ञान का स्वकल्पित नया ही लक्षण प्रस्तुत किया

1. न्यायभूषण, पृ. १७१
2. वैशेषिकसूत्रोपस्कार, पृ. ५१३
3. योगसूत्र, ३/३३
4. वही, ३/३६
5. धर्मविशेषजत्वाद् योगिप्रत्यक्षान्तर्भूतमिति चेत्, न धर्मविशेषजत्वासिद्धेः। धर्मविशेषमात्रजन्यत्वस्य व्यभिचारात्।
   अविनाभावनिरपेक्षः सम्यक् परोक्षानुभव आर्षः। —मानमनोहर, पृ. ९०
6. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. २०८-२०९
7. कन्यायाश्च ज्ञानसन्दर्शनेन कारणान्तरानुपलम्भेन जन्मान्तरीयतपःप्रभावप्रभावितधर्मविशेषानुस्मरणं न्याय्यम्। —किरणावली, पृ. २४६

है—'अविनाभावनिरपेक्षः सम्यक् परोक्षानुभवः आर्षः'[1] जिससे कि उसका योगि-प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव न हो सके।

योगिप्रत्यक्ष और अयोगिप्रत्यक्ष दोनों सविकल्पक-निर्विकल्पक भेद से दो प्रकार के होते हैं। यहां प्रथम सविकल्पक प्रत्यक्ष का निरूपण किया जा रहा है—

सविकल्पक प्रत्यक्ष

भारतीय दर्शन की दो मुख्य धाराएं हैं—वैदिक और अवैदिक। अन्य विषयों की तरह प्रत्यक्ष प्रमाण, उसके भेदों, स्वरूप तथा लक्षण के विषय में भी उनमें पर्याप्त मतभेद प्राप्त होता है। वैदिक दर्शन परम्परा में न्यायवैशेषिक आदि दर्शनों में प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद माने गये हैं—निर्विकल्पक और सविकल्पक। नैयायिक होने के नाते आचार्य भासर्वज्ञ ने भी प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेदों का निर्देश किया है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के सम्बन्ध में बौद्धों का अपना विशिष्ट मत है। वे केवल निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानते हैं। आचार्य दिङ्नाग ने 'प्रमाणसमुच्चय' में कहा है—'प्रत्यक्षं' कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्।[2] दिङ्नाग की तरह धर्मकीर्ति[3] आदि आचार्यों ने भी केवल निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष माना है। बौद्धमत में अर्थजन्य ज्ञान ही प्रमाण होता है। यहां अर्थ से उनको परमार्थसत् अर्थ अभिप्रेत है। स्वलक्षण (वस्तुमात्र) ही परमार्थसत् है। इस प्रकार स्वलक्षणविषयक होने से निर्विकल्पक ही एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण है। निर्विकल्पक कल्पनापोढ अर्थात् कल्पनास्वभाव से रहित होता है। कल्पना का स्वरूप यहां विचारणीय है, क्योंकि सविकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण की यही आधारभित्ति है। नामजात्यादियोजना अथवा नामादिसंसर्ग को कल्पना कहते हैं। कल्पना की पाँच विधाएं सोदाहरण प्रस्तुत हैं—

१ देवदत्तः — नामयोजना
२ गौः — जातियोजना
३ गच्छति — क्रियायोजना
४ शुक्लः — गुणयोजना
५ दण्डी — द्रव्ययोजना

कल्पना की यह पंचविधता नैयायिकों की दृष्टि से है। बौद्धमतानुसार तो यह सब शब्द (नाम) कल्पना ही है, जैसाकि शान्तरक्षित तथा धर्मकीर्ति ने कहा है—

'........................ अभिलापिनी।
प्रतीतिः कल्पना क्लृप्तिहेतुत्वाद्यात्मिका॥[4]
'अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना।[5]

1. मानमनोहर, पृ. ९०
2. प्रमाणसमुच्चय, प्रथमाध्याय, पृ ८
3. न्यायबिन्दु, पृ. १
4. तत्त्वसंग्रह, कारिका १२१३
5. न्यायबिन्दु, पृ १

बौद्ध मत में शब्दसंसर्ग कि योग्यता से रहित निर्विकल्पकज्ञान ही वास्तव में प्रमाण है। सविकल्पक प्रत्यक्ष निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा उपस्थापित वस्तु को नाम-जात्यादिकल्पित पदार्थों से संसृष्ट करता है, वह सत्य स्वलक्षण वस्तु को असत्य पदार्थों से संवृत कर ग्रहण करता है। इसीलिये उसे संवृतिसत्य कहते हैं। सविकल्पक अर्थजन्य न होने के कारण अप्रमाण है।

वैदिक दार्शनिक

सविकल्पक शब्द के द्वारा प्रमाण और प्रमा दोनों का अभिधान होता है। जैसे इन्द्रिय को प्रत्यक्ष प्रमाण और इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमा कहा जाता है, उसी प्रकार सविकल्पक अर्थ को सविकल्पक प्रमाण और उससे जनित ज्ञान को सविकल्पक प्रमा माना जाता है। सविकल्पक प्रमा को प्रायः वैदिक मतावलम्बी दार्शनिक एकमत से प्रत्यक्ष ही मानते हैं।

ऐतिहासिक क्रम की दृष्टि से सर्वप्रथम सविकल्पक के विषय में कुमारिल भट्ट के मत का दिग्दर्शन किया जा रहा है। आचार्य कुमारिल ने सविकल्पक को निर्विकल्पक से उत्पत्ति मानते हुए परम्परया उसके अक्षजत्व की स्थापना की है।[1] 'वस्तु' पद के द्वारा निर्विकल्पक की तरह सविकल्पक की अर्थोत्पन्नता स्वीकार की है। सविकल्पक प्रत्यक्ष में जात्यादि धर्मों से विशिष्ट अर्थ का बुद्धि के द्वारा निश्चय होता है। सविकल्पक ज्ञान के प्रामाण्य में उसका बोधकत्व हेतु है और यह सविकल्पक ज्ञान के प्रामाण्य में उसका बोधकत्व हेतु है। और यह सविकल्पक ज्ञान भी प्रत्यक्ष है, इस बात को कुमारिल ने 'सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता' इस वचन से स्पष्ट कहा है।

'देवदत्तोऽयम्', 'स एवायम्' इत्यादि सविकल्पक प्रत्यक्षज्ञानों में स्मरण की अपेक्षा होती है और इन्द्रिय का स्मरण में सामर्थ्य नहीं होता, इस आशंका का निवारण करते हुऐ वार्तिककार ने आत्मा में स्मरणसामर्थ्य बतलाकर समाधान किया है। इसी प्रसंग में एक शंका उठ खड़ी होती है कि आत्मा की स्मरणादि में सामर्थ्य मानकर विकल्पसहित वस्तु की प्रत्यक्षता मानने पर निवृत्तेन्द्रियव्यापार वाले पुरुष को भी शब्दस्मरण से 'गौरयम्' इत्याकारक जो ज्ञान होता है, वह भी प्रत्यक्ष प्रमाण हो जायेगा। कुमारिल ने यहाँ स्पष्ट कर दिया है कि इसीलिये तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष बतलाया है। निवृत्तेन्द्रियव्यापारवाले पुरुष में इन्द्रिय का गोपिण्ड से सम्बन्ध नहीं है, अतः शब्दस्मरणोत्पन्न 'गौरयम्' इत्याकारक ज्ञान में प्रत्यक्षत्वप्रसक्ति नहीं है।[2]

---

1 ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया।
बुद्ध्यावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता॥ – मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ. १७३ (सू. ४, का. १२०)

2 तेनेन्द्रियार्थसम्बन्धे विद्यमाने स्मरन्नपि।
विकल्पयन् स्वधर्मेण वस्तुप्रत्यक्षवान् नरः॥ – प्रत्यक्षसूत्र, का. १२३
तच्चैतदिन्द्रियाधीनमिति तैर्व्यपदिश्यते।
तदसम्बन्धजातं तु नैव प्रत्यक्षमिष्यते॥—प्रत्यक्षसूत्र का. १२४, मीमांसाश्लोकवार्तिक, १७३

आचार्य कुमारिल ने बौद्धों के आक्षेपों का खण्डन करते हुए सविकल्पक की प्रत्यक्षता स्थापित की है। सामग्र्यन्तर से उत्पन्न होने पर भी अर्थ की असाधारण-कारणता के कारण जिस प्रकार निर्विकल्पक अक्षजन्य ही होता है, उसी प्रकार सविकल्पक भी अक्षजन्य है। सविकल्पक के लिये प्रयुक्त प्रत्यक्ष शब्द चाहे यौगिक हो अथवा रूढ (अव्युत्पन्न), प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग तो निःसन्दिग्ध है, इसलिये उसकी प्रत्यक्षता भी निःशंका है।[1]

प्रभाकरमतानुयायी शालिकनाथ ने साक्षात् प्रतीत को प्रत्यक्ष कहा है।[2] निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष की इन दो विधाओं का निर्देश करते हुए उन्होंने बतलाया है कि सविकल्पक बुद्धि का विषय विशिष्ट पदार्थ होता है और निर्विकल्पक बुद्धि का विषय स्वरूपमात्र।[3] द्रव्य, जाति तथा गुण में सर्वप्रथम इन्द्रिय-संनिकर्षजन्य वस्तुमात्र का ग्राहक विकल्पावस्था से पूर्ववर्ती निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है, वह स्वानुभवसिद्ध है। विषयान्तर के अनुसंधान से शून्य और समाहित चित्त वाला व्यक्ति इन्द्रियसंयुक्त वस्तु का साक्षात् ज्ञान करता है। इस प्रकार स्वानुभव ही निर्विकल्पकज्ञान की सत्ता में प्रमाण है। मीमांसाश्लोकवार्तिक में इस प्रसंग में लिखा है—

'अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्॥'[4]

अपि च

'आलोच्यते वस्तुमात्रं ज्ञानेनापातजन्मना।
अचेत्यमानो भेदोऽपि चकास्तीत्यतिसाहसम्॥'[5]

निर्विकल्पक से अनन्तरवर्ती सविकल्पकज्ञान सामान्य को सामान्य रूप से और विशेष को विशेष रूप से विषय करता है। निर्विकल्पक द्वारा सामान्य और विशेष की प्रतिपत्ति होने पर भी उनके भेद का ग्रहण नहीं होता। वस्तुभेदमात्र से भेदबुद्धि नहीं होती, अपि तु पटत्वादि धर्मान्तर का ग्रहण भी भेदबुद्धि में सहकारी होता है।

---

1. सर्वथा प्रत्यक्षशब्दप्रयोगादस्ति प्रत्यक्षत्वं सविकल्पकस्य।
—तात्पर्यटीका (श्लोकवार्तिकव्याख्या), पृ. १२३

2. साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षम्।— प्रकरणपंचिका, पृ. ५१

3. आद्या विशिष्टविषया स्वरूपविषयेतरा।—वही, पृ. ५४

4. मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ १६८ (प्रत्यक्षसूत्र, का. ११२)

5. ब्रह्मसिद्धि, २/२७, पृ. ७०

सामान्य व विशेष में भेद होने पर भी अनुवृत्ति और व्यावृत्ति[1] का ग्रहण न होने के कारण निर्विकल्पकज्ञानदशा में भेदबुद्धि उदित नहीं होती है। सामान्य तथा विशेष वस्तु से भिन्न अनुवृत्ति व व्यावृत्ति के ग्रहण में इन्द्रियों का सामर्थ्य न होने के कारण सामान्य और विशेष के अनुवृत्ति तथा व्यावृत्ति अंश प्रत्यक्षविषय कैसे हो सकते हैं,[2] इस आशंका का अपाकरण करते हुए शालिनाथ ने बतलाया है कि इन्द्रियां अथवा ज्ञान ही यदि चेतन होते, तो यह आपत्ति उपस्थित होती, किन्तु ऐसी बात नहीं। अतः समस्त अनुभवितव्य का अनुभविता आत्मा संस्कार द्वारा अन्य वस्तु का अनुसंधान करता हुआ इन्द्रिय के द्वारा सामान्य विशेष रूप से वस्तु की प्रतीति कर ही सकता है।[3] पटादि अन्य वस्तु के अनुसन्धान के पश्चात् ही भिन्नता का निश्चय होता है। यह सविकल्पदशा में ही संभव हो सकता है,[4] निर्विकल्पक में नहीं। सविकल्पक प्रत्यक्ष की ऐन्द्रियकता का स्पष्टतया समर्थन करते हुए शालिकनाथ ने कहा है 'न चेदमनिन्द्रियजं ज्ञानम्, इन्द्रियाधीनप्रवृत्तित्वात्। अपरोक्षावभासो ह्ययं सविकल्पकप्रत्ययः। तादृशो नेन्द्रियव्यापारमन्तरेणास्ति।[5]

---

1 अनुवृत्ति और व्यावृत्ति से अन्वय और व्यतिरेक अभिमत हैं। अन्वयव्यतिरेक दो प्रकार का होता है—एक तार्किकसम्मत और दूसरा मीमांसकाभिमत। तार्किकसम्मत अन्वयव्यतिरेक कार्यकारणभावग्रहण में उपयोगी होता है, क्योंकि 'यत्सत्त्वे यत् सत्त्वम्' यह अन्वय का स्वरूप माना जाता है और 'यदभावे यदभावः' यह व्यतिरेक का स्वरूप। 'दण्डसत्त्वे घटसत्त्वम्' 'दण्डाभावे घटाभावः' इस प्रकार अन्वयव्यतिरेक दण्ड और घट के कार्यकारणभावग्रहण का उपयोगी है। मीमांसकाभिमत, विशेषतः अद्वैतवेदान्तियों ने जिसका उपयोग किया है, अन्वय व्यतिरेक भेदग्रह का उपयोगी माना जाता है। 'यस्य अन्वये यस्य व्यतिरेकः, स ततो भिन्नः' इस पद्धति के आधार पर घटत्वजाति का सभी घटों में अन्वय और घटव्यक्तियों का परस्पर व्यतिरेक या भेद देखकर यह निश्चित होता है कि घटत्वजाति और घटव्यक्ति दोनों परस्पर भिन्न हैं। इसी प्रकार घटपटादिज्ञान सर्वानुगत होने से अनुवृत्ति का विषय है और घटपटादि विषय परस्पर व्यावृत्त होने के कारण व्यावृत्ति के विषय हैं। अनुवृत्त व्यावृत्त से भिन्न होता है, अतः ज्ञान और विषय का भेद, आत्मा और अनात्मा का भेद स्थिर किया जाता है। एवं अन्वित वस्तु में एकता और व्यतिरिक्त वस्तु में अनेकता भी अन्वय व्यतिरेक से सिद्ध की जाती है।

2. ननु वस्त्वन्तरानुसन्धाने नेन्द्रियं समर्थम्। इन्द्रियसामर्थ्यसमुत्थञ्च प्रत्यक्षमिति कथं सामान्यविशेषात्मकं प्रत्यक्षस्य विषयः।—प्रकरणपंचिका, पृ. १६४.

3. भवेदेतदेवं यदिन्द्रियाण्येव चेतनानि स्युः, ज्ञानानि वा। आत्मा त्वेकः सर्वानुभवितव्यानुभविता संस्कारवशेन वस्त्वन्तरमनुसन्दधदिन्द्रियेण सामान्यविशेषात्मना वस्तु शक्नोत्येव प्रत्येतुम्। —प्रकरणपंचिका, पृ. १६४–१६५.

4. सविकल्पकन्तु विशेषणविशेष्यभावमनुगच्छति। —वही, पृ. ५५.

5. प्रकरणपंचिका, पृ. ५६.

न्यायमंजरीकार जयन्त

जिस पंचविध-कल्पनात्मक सविकल्पक को बौद्धों ने प्रत्यक्ष प्रमाण कोटि से बहिष्कृत किया है, वही न्याय-वैशेषिक में सविकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में स्वीकृत है। जयन्तभट्ट ने सविकल्पकज्ञान की प्रत्यक्षता को स्थापित करते हुए कहा है कि समयस्मरण की अपेक्षा होने पर भी सविकल्पविज्ञान सन्निकर्षजन्य न होने के कारण अप्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। विशेषण विशेष्यज्ञानादि सामग्री की अपेक्षा होने से अधिक आयाससाध्यत्व को सविकल्पक के अप्रामाण्य का प्रयोजक नहीं माना जा सकता। जयन्त ने इस दूषण को भूषण बतलाने के लिए एक सुन्दर तर्क दिया है कि गिरिशिखर पर चढ़कर जो वस्तु का ग्रहण किया जाता है, वह अप्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता।[1]

वाचस्पति मिश्र

सर्वदर्शनकाननपञ्चानन वाचस्पति मिश्र ने भी सविकल्पक ज्ञान की प्रत्यक्षता की सुरक्षा के लिये युक्तियाँ दी हैं। उनका कथन है कि स्मरणसहकृत इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से उत्पन्न होने के कारण उनकी इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यता का विलोप नहीं होता। इसकी मानसत्वसिद्धि की अपेक्षा इन्द्रियजत्व में ही प्रयास उचित होगा। सविकल्पक ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान की अपेक्षा पश्चात् उत्पन्न होने पर भी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष-जन्य होने के कारण प्रत्यक्ष तो होता ही है।[2]

भासर्वज्ञ

सविकल्पक प्रमा के प्रत्यक्षत्व के विषय में भासर्वज्ञ भी सभी के साथ है। इसीलिये सविकल्पक को प्रत्यक्ष के विभागों में स्थान दिया है। सविकल्पक की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

> 'तत्र संज्ञादिसंबन्धोल्लेखेन ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं
> सविकल्पकम्। यथा देवदत्तोऽयं दण्डीत्यादि।[3]

---

1 तदेवं समयस्मरणसापेक्षत्वेऽपि नेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नतामतिवर्तते सविकल्पकं विज्ञानमिति कथमप्रत्यक्षम्? ..न हि बहुक्लेशसाध्यत्वं नाम प्रामाण्यमुपहन्ति, उक्तं च न हि गिरिशृंगमारुह्य यद् गृह्यते तदप्रत्यक्षम्। —न्यायमञ्जरी, पूर्वभाग, पृ. ८९.

2 न च यत्स्मरणसहकारिणेन्द्रियार्थसन्निकर्षेणोपजनितं तदिन्द्रियार्थसन्निकर्षेणोत्पन्नं न भवति। यस्तु भवतामस्य मानसत्वे प्रयासः स वरमिन्द्रियजत्व एव भवतु। तथा सति दर्शनव्यापारत्वमस्य साक्षात्समर्थितं भवति।...पश्चाज्जायमानमपि इन्द्रियार्थसन्निकर्षप्रभवतया प्रत्यक्षं भवत्येव।—न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १.१.४.

3. न्यायसार, पृ. ३-४.

एक ही निर्विकल्पक वस्तु नाम आदि विकल्पों से सम्बन्धित होकर वैसे ही सविकल्पक बन जाती है, जैसे शुक्ति रजतकल्पना से सम्बद्ध होकर रजततादात्म्यापन्न हो जाती है। रजतसम्बन्धरहित शुक्ति निर्विकल्पक और रजतसम्बन्धविशिष्ट सविकल्पक मानी जा सकती है। विकल्प, विशेषण या प्रकार कभी वस्तु का स्वाभाविक अर्थात् अनारोपित धर्म होता है और कभी औपाधिक अर्थात् आरोपित। जैसे 'रक्तः पटः' इत्यादि स्थानों पर पटगत रक्तिमा अनारोपित धर्म है, किन्तु 'रक्तः स्फटिकः,' 'इदं रजतम्' इत्यादि प्रतीतियों में रक्तिमा आदि धर्म आरोपित ही होता है। आरोपित-वस्तुविषयक प्रतीति को भ्रम माना जाता है। भ्रम प्रत्यक्षज्ञान का ही एक प्रकार माना जाता है। रक्त स्फटिक प्रत्यक्षात्मक भ्रम का विषय होने के कारण आरोपित या मिथ्या कहलाता है। इस दृष्टि से सविकल्पक पदार्थ के विषय में विचार करने पर यह तथ्य सामने आता है कि सत् और असत् दो भागों में पदार्थों का वर्गीकरण करने वाले विज्ञानवादियों ने स्वलक्षण को सत् तथा सामान्यलक्षण या सविकल्पक को असत् माना है। वह्नित्व धूमसहचरितत्व आदि विकल्पकों से संवलित वह्निरूप सविकल्पक से जनित अनुमान ज्ञान को भ्रमात्मक इसीलिये माना जाता है कि वह तदभाववति तत्प्रकारक रूप है अर्थात् नाम, जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया इन पाँच कल्पनाओं से रहित अग्नि में नामादिवैशिष्ट्यावगाही होने के कारण अनुमान ज्ञान वैसे ही भ्रम है, जैसे कि अरजतभूत शुक्ति में रजतावगाही ज्ञान। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि सविकल्पकवस्तुविषयकनकज्ञान और सविकल्पकवस्तुजन्य ज्ञान ये दो पदार्थ हैं। जैसे शुक्तिरजतविषयक 'इदं रजतम्' इत्याकारक ज्ञान तथा 'इदं रजतम्' इत्याकारक शुक्तिरजतज्ञान से जनित 'इदं मदिष्टसाधनम्' इत्याकारक इष्टसाधनत्वादिज्ञान। सविकल्पकवस्तुजनित ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष है, यह सभी दार्शनिक मानते हैं। अन्तर केवल इतना है कि कुछ लोग उसे प्रमात्मक मानते हैं और कुछ लोग भ्रमात्मक, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है।

सविकल्पक पदार्थ भ्रमात्मक प्रत्यक्ष का विषय होने के कारण आरोपित माना जाता है, बौद्धों की इस उद्घोषणा के तल में प्रविष्ट होकर आचार्य भासर्वज्ञ सविकल्पक प्रमाण को अतीन्द्रिय कह देते हैं--

'तच्चातीन्द्रियत्वात्साक्षाद् उदाहर्तुं न शक्यते,
तत्फलमेव उदाह्रियते – यथा देवदत्तः।[1]

उनका सीधा प्रहार बौद्धसिद्धान्त पर है। उनका कहना है कि किसी अतीन्द्रिय वस्तु को प्रत्यक्ष भ्रम का विषय मानकर आरोपित कहना कैसे संभव हो सकता है? घटादि वस्तु का प्रत्यक्ष करता हुआ कोई भी व्यक्ति उसमें शब्दसम्बन्ध का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। अतः उसे अतीन्द्रिय कहा जा सकता है न कि आरोपित।

1. न्यायभूषण, पृ. १७३.

यहाँ एक अवान्तर विचार अनिवार्य-सा उठ खड़ा होता है कि शब्दार्थसम्बन्ध का प्रमात्मक प्रत्यक्ष कौन लोग मानते थे, जिनको ध्यान में रखकर बौद्धों ने उसके प्रत्यक्ष को भ्रमात्मक माना है। विचार करने पर स्पष्ट है कि शब्दार्थ-सम्बन्ध को प्रमा माननेवालों में जैमिनिदर्शन और वाक्यपदीयकार का विशिष्ट स्थान है। जैमिनि ने 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्'[1] इस सूत्र में कहा है कि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध औत्पत्तिक होता है। औत्पत्तिक शब्द का अर्थ करते हुए शबरस्वामी ने लिखा है—'औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूमः'।[2] वे शब्दार्थसम्बन्ध के ज्ञान को अव्यतिरेक या अव्यभिचारी बताते हुए प्रमात्मक मानते हैं, क्योंकि वह इतरप्रमाण की अपेक्षा के बिना ही अपने अर्थ का बोध कराता है। बादरायण की साक्षी देकर यह भी सिद्ध कर दिया है कि ब्रह्मसूत्र के रचयिता महर्षि व्यास को भी यह सम्मत है। यद्यपि वह सूत्र धर्मप्रमाणपरक है, तथापि उसके पदविन्यास से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि वह शब्दार्थसम्बन्धज्ञान को प्रमा भी बतला रहा है।

जाति और आकृति दोनों मीमांसकमत में पर्याय माने जाते हैं, जबकि जाति और आकृति को तार्किक भिन्न-भिन्न मानते हैं। जैसा कि—

'जातिमेवाकृतिं प्राहुः व्यक्तिराक्रियते यया।'[3]

इस वचन से स्पष्ट हो रहा है। गो में सास्नादिमत्व आकार सभीको प्रत्यक्षसिद्ध है और शब्द का सम्बन्ध उसकी जाति से माना जाता है। क्रिया का योग 'व्रीहीन् अवहन्ति' और गुण का सम्बन्ध 'अरुणया पिंगाक्ष्या एकहायन्या...' इत्यादि स्थलों पर स्पष्ट किया गया है। ये ही वे विकल्प हैं, जिनके विषय में बौद्धों का कहना है कि ये स्वलक्षण में काल्पनिक हैं, किन्तु मीमांसकों ने उन्हें वास्तविक और प्रत्यक्ष-प्रमाण का विषय माना है। कुमारिल भट्ट ने स्पष्ट लिखा है—

'ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया।
बुद्ध्यावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता।'[4]

इस प्रकार मीमांसकों ने शब्दसम्बन्ध को प्रत्यक्ष माना है। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने भी—

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥'[5]

1. जैमिनिसूत्र, १/१/५.
2. शाबरभाष्य, १/१/५.
3. मीमांसाश्लोकवार्तिक, आकृतिवाद, का० ३.
4. मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ. १७३ (सूत्र ४, का. १२०)
5. वाक्यपदीय (ब्रह्मकाण्ड), कारिका १२३, पृ. १०२,

ऐसा कहकर प्रत्येक पदार्थ का भान शब्दसंसृष्ट माना हैं । अतः प्रदार्थ का प्रत्यक्ष होने के साथ-साथ शब्दसंसर्ग का भान भी प्रत्यक्ष से ही होता है । मण्डन मिश्र ने ब्रह्मसिद्धि में 'सर्वप्रत्ययवेद्येऽस्मिन् ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते' ऐसा कहकर प्रत्येक ज्ञान को ब्रह्मसंसृष्ट पदार्थविषयक माना है । उनका (मण्डन का) भी ब्रह्म शब्दात्मक ही माना गया हैं। शब्दब्रह्म और परब्रह्म का तादात्म्य मानते हुए उन्होंने कहा है—

'सर्वप्रत्ययवेद्ये वो ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते ॥
प्रपंचस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते ॥[1]
'अक्षरमिति शब्दात्मतामाह ।'[2]

इस सम्बन्ध में भासर्वज्ञ का स्पष्ट मतभेद झलक रहा है । उनकी मान्यता है कि शब्दादिविकल्पजाल का सम्बन्ध यद्यपि उपर्युक्त रीति से प्रत्यक्षग्राह्य है, किन्तु वस्तुतः उन विकल्पों की सत्ता अपने में वैसे ही नहीं है, जैसे कि शुक्ति को रजत में । अतः सविकल्पज्ञान भ्रममात्र है, बौद्धों की इस व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए आचार्य भासर्वज्ञ ने उसे अतीन्द्रिय माना है । सविकल्पकज्ञान जिन शब्दादि विकल्पों को अपने में समेटे हुए प्रतीत होता है, उनका सम्बन्ध अतीन्द्रिय इसलिये है कि वे अन्य इन्द्रियग्राह्य हैं और धर्मी अन्य इन्द्रिय से ग्राह्म है । अतः वैशिष्ट्य का ग्रहण इन्द्रिय से संभव न होने के कारण अतीन्द्रिय कहा गया है । उनका कहना है कि घटादि वस्तु को देखकर जैसे चक्षु घट एवं घटगत रूपादि पदार्थों का ग्रहण करती है, वैसे शब्दसम्बन्ध का भान पदार्थग्राहक इन्द्रिय से नहीं होता ।

निर्विकल्पकज्ञान

निर्विकल्पक का 'वस्तुमात्रावभासकं निर्विकल्पकम्'[3] यह लक्षण किया है । अर्थात् वस्तुमात्र का अवभासक निर्विकल्पक ज्ञान होता है । जैसे, जो प्रथम नेत्रसंनिपात से ज्ञान उत्पन्न होता है, वह निर्विकल्पक कहलाता है । युक्तावस्था में योगिज्ञान भी निर्विकल्पक ज्ञान होता है । योग से समाधि (एकाग्रता) अभिप्रेत है उसमें स्थित योगी को निर्विकल्पक ही प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है, क्योंकि विकल्पता में एकाग्रता की उपपत्ति नहीं हो सकती ।

⊕

1. ब्रह्मसिद्धि, चतुर्थकाण्डः कारिका ३, पृ. १५७.
2. ब्रह्मसिद्धि, प्रथम काण्ड, पृ. १६.
3. न्यायसार, पृ. ४

चतुर्थ विमर्श

अनुमान प्रमाण

अनुमानादि प्रमाणों के उपजीव्यत्वेन तथा ज्येष्ठत्वेन प्रत्यक्ष निरूपणानन्तर उद्देशक्रमप्राप्त अनुमान का निरूपण किया जा रहा है। सूत्रकार के 'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च'[1] इस अनुमानसूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार, वार्तिककार तथा जयन्त आदि ने सूत्रस्थ 'तत्पूर्वकम्' को अनुमान क लक्षण तथा शेष भाग को अनुमान का विभाग माना है।[2] 'तत्पूर्वकम्' में 'तत्' पद केवल प्रत्यक्ष का ही बोधक नहीं, अपितु 'ते च तानि चेति तानि' इस एकशेष द्वारा 'ते' अविनाभाव-सम्बन्धदर्शन तथा लिंगदर्शन का बोधक है और 'तानि' प्रत्यक्ष, अनुमान आदि सभी प्रमाणों का बोधक है। अतः प्रत्यक्षजनित संस्कार व संशयादि ज्ञान में अनुमान-लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं, क्योंकि वे अविनाभावदर्शन तथा लिंगदर्शन से जन्य नहीं हैं। 'तानि' पद से सभी प्रत्यक्षादि प्रमाओं के संग्रह से अनुमानमूलक अनुमान में लक्षण की अव्याप्ति भी नहीं है।

देश, काल, जाति आदि के भेद से अनन्त होने पर भी वह (अनुमान) तीन भेदों में ही विभक्त है, यह नियम बतलाने के लिये सूत्र में त्रिविध पद दिया गया है। अनुमान के तीन प्रकार अन्य नहीं, किन्तु पूर्ववत्, शेषवत् व सामान्यतोदृष्ट हैं, इसके लिये पूर्ववत् आदि पद दिये गये हैं।[3]

कारण से कार्य की अनुमिति पूर्ववत्, कार्य से कारण की अनुमिति शेषवत् तथा कार्यकारण से अन्य अविनाभूत लिंग से अर्थान्तर की अनुमिति सामान्यतोदृष्ट है अथवा पूर्ववत् पद से केवलान्वयी अनुमान का, शेषवत् से केवल व्यतिरेकी और सामान्यतोदृष्ट पद से अन्वयव्यतिरेकी अनुमान का ग्रहण है।[4]

भासर्वज्ञ ने अनुमानसूत्र की पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त व्याख्या का उल्लेख कर कहा है कि केवल 'तत्पूर्वकम्' अनुमान का लक्षण नहीं हो सकता,

---

1 न्यायसूत्र, १/१/५

2. (अ) न्यायभाष्य, १/१/५

(ब) तत्पूर्वकमनुमानमित्यनेन समानासमानजातीयेभ्योऽनुमानं व्यवच्छिद्यते इति।... तस्माद् व्यवस्थितमेतत् तत्पूर्वकमनुमानमिति। —न्यायवार्तिक, १/१/५

(स) अनुमानमिति लक्ष्यनिर्देशः, तत्पूर्वकमिति लक्षणम्। —न्यायमंजरी, पूर्वभाग, पृ. १३३

3. न्यायभूषण, पृ. १६०

4. न्यायभूषण, पृ. १६०

क्योंकि प्रत्यक्षजन्य संस्कार और संशयादिज्ञान में लक्षण की अतिव्याप्ति है। इसके परिहार के लिये 'ते च तानि च' इस एकशेष का आलम्बन कर अविनाभावसम्बन्धदर्शन तथा लिंगदर्शन का जो ग्रहण किया गया है, वह उचित नहीं है, क्योंकि सर्वनाम प्रकान्त के परामर्शक होते हैं और अविनाभावसम्बन्ध तथा लिंग पूर्वप्रकान्त नहीं हैं। अतः उन्होंने 'तत्पूर्वकम्' को अनुमान का लक्षण न मानकर सूत्रस्थ 'अनुमानम्' पद को ही 'अनुमीयतेऽनेन' इस करणव्युत्पत्ति से अनुमितिकरण मानकर लक्षण माना है। अर्थात् अनुमितिज्ञान में जो भी साधन हों, वे सब अनुमान हैं।[1] इसी अभिप्राय से 'न्यायसार' में उन्होंने 'सम्यगविनाभावेन परोक्षानुभवसाधनं अनुमानम्[2] यह अनुमान का लक्षण किया है। इस लक्षण में 'अविनाभावेन' में साधकतम अर्थ में तृतीया मानकर तथा अविनाभावरूप विषय से विषयी व्याप्तिस्मरण का ग्रहणकर समीचीन व्याप्तिस्मरण रूप असाधारण कारण से जन्य जो परोक्षानुभव है, उसका साधन अनुमान है, यह अनुमान लक्षण निष्पन्न होता है।[3] इससे परोक्षानुभव-कारणभूत सभी साधनों का संग्रह हो जाता है। यहाँ 'सम्यक्' पद अविनाभाव का विशेषण है।[4] 'सम्यक् चासौ अविनाभावश्च' इस रीति से कर्मधारयसमास मानते हुए न्यायसार के व्याख्याकार जयसिंहसूरि तथा रामभट्ट ने भी इसी तथ्य को स्वीकृत किया है।[5] अतः जिस व्यक्ति को अविनभावस्मृति के बाद भी यदि किसी कारण से उसमें संशय या भ्रान्ति हो जाती है, तो उस संशय अथवा भ्रांतिरूप अविनाभावस्मृति से जन्य परोक्षानुभव न अनुमिति कहला सकता है और न उसका साधन अनुमान कहलाता है, एतदर्थ सम्यक् पद दिया है। अर्थात् परोक्षानुभव का असाधारण कारण अविनाभावरूप व्याप्तिस्मरण समीचीन होना चाहिये, संशयात्मक नहीं। अथवा बौद्ध अनुमितिज्ञान को भ्रान्त मानते हैं, क्योंकि वह ज्ञान अर्थभिन्न स्वप्रतिभासरूप ज्ञान में अर्थ के आरोप द्वारा होता है।[6] भ्रान्तज्ञान होने पर भी वह्निज्ञानरूप अर्थ के अविसंवादी होने से वे अनुमान को प्रमाण मानते हैं। बौद्धाभिमत अनुमान में प्रमाणता के निरास के लिये लक्षण में 'सम्यक्' पद दिया है।[7] बौद्धसम्मत अनुमान भ्रान्तज्ञान होने से प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह समीचीन नहीं है।

---

1. अनुमानपदमेव सव्युत्पत्तिकं लक्षणार्थम्... । तथाऽनुमीयतेऽनेनेति अनुमितिः क्रियते येन तदनुमानमिति लभ्यते। —न्या.भू., पृ. १६४
2. न्यायसार, पृ. ५
3. न्यायभूषण, पृ. १६४, १६५
4. वही, पृ. १६५
5. (क) सम्यग् भिन्नाधिकरणत्वप्रतीतिरहितः। स चासावविनाभावश्च तेन। —न्यायतात्पर्यदीपिका, पृ. ८७

   (ख) रामभट्टप्रभृतयः व्यवहितान्वयमसहमानाः सम्यक्चासावविनाभावश्चेति व्याख्यातवन्तः।
6. भ्रान्तं ह्यनुमानम्। स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तत्वात्। —न्यायबिन्दुटीका, पृ. ८
7. अथवा अनुमेयज्ञानं भ्रान्तमेवेत्याहुः शाक्याः। तदुक्तम्– 'भ्रान्तिरप्यर्थसम्बन्धादिति' तस्य निषेधार्थं सम्यग्ग्रहणम्। —न्यायभूषण, पृ. १६५

अविनाभाव

अनुमानलक्षण में अविनाभाव का स्वरूप बतलाते हुए भासर्वज्ञ ने साध्य के साथ साधन की स्वभावतः व्याप्ति अर्थात् साध्य और साधन में साध्य व्यापक होता है और साधन व्याप्य इत्याकारक स्वाभाविक (अनौपाधिक) नियम को अविनाभाव कहा है।[1] जैसे वह्नि तथा धूम में वह्नि व्यापक है और धूम वह्नि का व्याप्य है, यह स्वाभाविक नियम धूम और वह्नि का अविनाभाव शब्द भी 'न विना भवतीति अविनाभावः' इस व्युत्पत्ति से व्याप्य का व्यापक के बिना न रहनारूप साध्यसाधन के अनौपाधिक सम्बन्ध को ही बतला रहा है। यह अविनाभावरूप व्याप्ति अन्वय-व्यतिरेक भेद से अर्थात् विधि-प्रतिषेध भेद से दो प्रकार की है। विधिमुख से या भावमुख से प्रतीयमान व्याप्ति अन्वयव्याप्ति तथा प्रतिषेधमुख से अर्थात् अभावमुख से प्रतीयमान व्याप्ति व्यतिरेकव्याप्ति है। अर्थात् भावरूप साध्य-साधन की व्याप्ति अन्वयव्याप्ति तथा अभावरूप साध्याभाव व साधनाभाव की व्याप्ति व्यतिरेकव्याप्ति है। इसी का स्पष्टीकरण करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि साध्य सामान्य से साधन-सामान्य की व्याप्ति अन्वयव्याप्ति है। जैसे 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः' इस रूप से अग्निसामान्य के साथ धूमसामान्य का अव्यभिचारी सम्बन्ध अन्वय-व्याप्ति है। इसी प्रकार साधनसामान्याभाव के साथ साध्य-सामान्याभाव का अव्यभिचारी सम्बन्ध व्यतिरेक-व्याप्ति है। जैसे 'यत्र यत्र वह्न्यभावस्तत्र तत्र धूमाभावः' इस रूप से धूमाभावसामान्य के साथ वह्न्यभावसामान्य का अव्यभिचारी सम्बन्ध व्यतिरेकव्याप्ति है।

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, भासर्वज्ञ ने अविनाभाव का लक्षण 'स्वभावतः साध्येन साधनस्य व्याप्तिरविनाभावः'[2] यह किया है। वाचस्पति तथा अन्य नैयायिकों को 'स्वाभाविकः सम्बन्धो व्याप्तिः' यह व्याप्तिलक्षण अभिप्रेत है।[3] वस्तुतः उन दोनों में कोई भेद नहीं है। खण्डनकार ने स्वाभाविक शब्द के अर्थ के विषय में अनेक विकल्प प्रस्तुत करते हुए उन सभी का क्रमशः युक्तिपुरःसर खण्डन प्रस्तुत कर स्वाभाविक सम्बन्धरूप व्याप्ति के लक्षण का खण्डन किया है।[4] जैसे—

प्रथम पक्ष :

'स्वाभाविक' का सम्बन्धिस्वभाव पर आश्रित अर्थ मानने पर सम्बन्धिस्वरूप के आश्रित सम्बन्ध व्याप्ति कहलायेगा तथा व्याप्तिरूप सम्बन्ध के साध्य और साधन दो सम्बन्धी होने से साध्य और साधन उभयाश्रित सम्बन्ध व्याप्ति होगी। ऐसी

1. स्वभावतः साध्येन साधनस्य व्याप्तिरविनाभावः।—न्यायसार, पृ. ५
2. न्यायसार, पृ. ५
3. स्वाभाविकस्तु धूमादीनां वह्न्यादिसम्बन्धः। —न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १/१/५
4. खण्डनखण्डखाद्य, पृ. ३६५–३६७

स्थिति में साध्य और साधन के अव्यभिचारी सम्बन्ध की तरह उनके व्यभिचारी सम्बन्ध के भी उभयाश्रित होने से वह भी व्याप्ति माना जायेगा और जैसे धूम को अग्नि का व्याप्य माना जाता है, वैसे अग्नि को भी धूम का व्याप्य मानना पड़ेगा। हीरकादि में व्यभिचरित पार्थिवत्व के होने पर लोहलेख्यत्व के न होने से पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व के व्यभिचारीसम्बन्ध में व्याप्तिलक्षण की अतिव्याप्ति होगी।

द्वितीय पक्ष :

स्वाभाविक शब्द का सम्बन्धिस्वभावजन्य अर्थ मानने पर सम्बन्धिस्वभाव से जनित कुछ व्यभिचारी सम्बन्धों में लक्षण की अतिव्याप्ति और सम्बन्धिस्वभाव से अजनित नित्य सम्बन्धरूप व्याप्ति में अव्याप्ति होगी।

तृतीय पक्ष :

स्वाभाविक पद का सम्बन्धित्वेन विवक्षित पदार्थों के आश्रित अर्थ मानने पर भी साध्य-साधन के व्यभिचारी सम्बन्धों में लक्षण की अतिव्याप्ति और सम्बन्धिस्वभाव के अनाश्रित अव्यभिचारी सम्बन्ध में अव्याप्ति होगी।

चतुर्थ पक्ष :

सम्बन्धिस्वभावव्याप्त को व्याप्ति मानने पर आत्माश्रय दोष की प्रसक्ति है, क्योंकि व्याप्य का अर्थ व्याप्ति का आश्रय है और इस प्रकार व्याप्ति के निरूपण में व्याप्ति की ही अपेक्षा हो जाती है। साध्य और साधन के सम्बन्ध को व्याप्य मानने पर साध्य और साधन के व्याप्यभूत सम्बन्ध की अपेक्षा व्यापक अधिकदेश-वृत्ति होने से वहां एक सम्बन्धी धूम के ज्ञान से अपर सम्बन्धी वह्नि की अनुमिति नहीं होगी क्योंकि व्याप्य के ज्ञान से व्यापक अनुमिति होती है और इस पक्ष में धूम तथा वह्नि में परस्पर व्याप्यव्यापकभाव नहीं है।

पंचम पक्ष :

स्वाभाविक का यदि 'सर्वे शब्दाः सावधारणाः' इस न्याय के अनुसार 'स्वाभाविक एव न तु अस्वाभाविकः' अर्थात् सम्बन्धिस्वरूप भिन्न पदार्थ के द्वारा जो प्रयुक्त न हो, उस सम्बन्ध को व्याप्ति कहा जाता है।

इस पक्ष में अभिमत अकृतक मानने पर अकृतक सम्बन्ध के किसी से भी जनित न होने के कारण अन्येन न प्रयुक्तः यह कहना निरर्थक है तथा अभिमत सम्बन्ध को कृतक मानने पर असंभव दोष आता है। क्योंकि किसी भी सम्बन्ध के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि वह अपने संबंधिस्वरूप से भिन्न और किसी से प्रयुक्त नहीं है, क्योंकि अदृष्टादि के कार्यमात्र के प्रति कारण होने से सम्बन्धिस्वरूप से भिन्न अदृष्टादि के द्वारा प्रयुक्त ही है।

यदि इन विकल्पों से अतिरिक्त कोई और विकल्प माना जाता है, तो उनका निर्वचन न हो सकने पर उनका बोध ही नहीं होगा। व्याप्ति के लक्षण में स्वाभाविक पद का प्रयोग करने पर उपर्युक्त रीति से व्याप्ति के लक्षण को अनुपपत्ति होती है, इस बात को आचार्य भासर्वज्ञ ने जान लिया था। अतः उन्होंने व्याप्ति के लक्षण में स्वाभाविक शब्द का प्रयोग न कर स्वभावतः पद का प्रयोग किया, जिससे वह उपर्युक्त विकल्प दोषों से बच सके।

अविनाभावनिश्चय की सामग्री

साध्यसाधन के अविनाभाव का ज्ञान किससे होता है इस पर विचार करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि केवल अनुमान से अविनाभाव का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि अविनाभावज्ञापक अनुमान में अविनाभावरूप व्याप्तिज्ञान की आवश्यकता होगी, उनका ज्ञान दूसरे अनुमान से, दूसरे अनुमान में भी अविनाभावरूप व्याप्ति ज्ञान के लिये तीसरा अनुमान मानना होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष होगा।[1] केवल बार बार अनेक स्थानों पर अग्नि के साथ साथ धूमदर्शनरूप भूयोदर्शन प्रत्यक्ष से भी धूम और अग्नि की अविनाभावरूप व्याप्ति का ज्ञान सम्भव नहीं। क्योंकि भूयोदर्शन का अर्थ यदि धूमाग्निविषयक अनेक दर्शन है, तो वे अनेकदर्शन दृष्ट धूमाग्निविषयक ही हैं अथवा अशेष अग्निधूमविषयक? अशेषविषयक मानने पर देशकालभेद से धूम व अग्नि व्यक्तियों की अनन्तता के कारण सहस्र कल्पों में भी समस्त धूमाग्निविषयक दर्शन संभव नहीं होगा तथा अशेष धूमाग्नि व्यक्तियों के सम्बन्ध का ग्रहण न होने पर किसी धूम का अग्नि से विनाभाव भी हो सकता है, इस व्यभिचाराशंका की निवृत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि पार्थिव वस्तु में हजारों बार लोहच्छेद्यता देखने पर भी कोई पार्थिव वस्तु लोहच्छेद्य नहीं है, इत्याकारक व्यभिचाराशंका की निवृत्ति नहीं होती और उसके अभाव में 'यत्र यत्र पार्थिवं वस्तु तत्र तत्र लोहच्छेद्यत्वम्' इत्याकारक व्याप्ति बन सकती। यदि प्रत्येक धूम तथा अग्नि के साहचर्य का दर्शन अग्नि-धूमविषयक है, तो एक दर्शन से ही अशेष धूमाग्निविषयक व्याप्तिज्ञान हो जाने से दर्शनों की सार्थकता नहीं रहेगी।[2]

व्याप्तिग्रहण के विषय में भासर्वज्ञाचार्य का स्वमत

अन्य दार्शनिकों के व्याप्तिग्रहण सम्बन्धी मतों का निराकरण करते हुए आचार्य भासर्वज्ञ ने कहा है कि प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण होता है। 'यत्र धूमस्तत्राग्निः, यत्र अग्न्यभावस्तत्र धूमाभावः, यह अविनाभाव कहलाता है और इस अविनाभाव का ग्रहण अग्निसहित (महानसादि) और अग्निरहित (महानदादि) देशों से सम्बद्ध, विस्फारित चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा प्रथम बार ही हो जाता है।[3]

1. न्यायभूषण, पृ. २१६
2. वही, पृ. २१६–२१७
3. वही, पृ. २१८

किसी विषय के ज्ञान से जन्य संस्कारों की पटुता के लिये आदरप्रत्यय, अभ्यास प्रत्यय तथा पटु प्रत्यय-इन तीनों[1] में से किसी एक की अपेक्षा होती है। जिस प्रकार पर, मध्यम तथा अल्प बुद्धि वाले पुरुषों को संस्कारपाटव के लिए ग्रन्थादि के अभ्यास की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार व्याप्तिज्ञान के संस्कारों की दृढ़ता के लिये भूयोदर्शन की अपेक्षा होती है।

धूम और अग्नि के व्याप्यव्यापकभाव को अविनाभाव कहते हैं और वह सकल धूम तथा अग्नि व्यक्तियों में विद्यमान एक ही है। समस्त धूम तथा अग्नि व्यक्तियों का ग्रहण न होने पर भी तन्निष्ठ व्याप्ति (अविनाभाव) का ग्रहण एक-दो धूमाग्नि व्यक्तियों में अविनाभावदर्शन से भी उसी प्रकार हो जाता है जैसे अनन्त व्यक्तियों में समवेत सामान्य और समवाय का एक दो सम्बन्धियों का ग्रहण होने पर भी ग्रहण हो जाता है। यहाँ अन्तर यही है कि अनुमान का व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध होता है, समवाय सम्बन्ध नहीं। दोनों के सम्बन्धात्मक होने पर भी स्वभाव की विचित्रता के कारण ऐसा होता है।[2]

अविनाभाव निखिल धूम तथा अग्नि व्यक्तियों में विद्यमान है। भासर्वज्ञ ने यह माना है कि उसके ग्रहण के लिये निखिल व्यक्तियों का ग्रहण अपेक्षित नहीं, अपितु एक, दो या तीन व्यक्तियों के ग्रहण से भी उसका ग्रहण हो जाता है। अविनाभाव को एक समझ कर यह कहा गया है, तभी तो अदृष्ट, अतीत, अनागत धूमदर्शन से भी व्याप्तिस्मरण होता है, क्योंकि व्यक्तियों में तो अतीत और अनागत भी आ जाते हैं। परन्तु जैसा कि कहा गया है 'सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना'[3] चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा बाह्य प्रत्यक्ष तो इन्द्रियसम्बद्ध और वर्तमान विषय का होता है। संभवतः इस वस्तुस्थिति के कारण भासर्वज्ञ सकल धूमाग्निव्यक्तिनिष्ठ अविनाभाव के ग्रहण में प्रत्यक्ष की असमर्थता पर विचार कर अनुमान प्रमाण पर आ जाते हैं अर्थात् सर्वोपसंहारवती व्याप्ति का ग्रहण अनुमान प्रमाण से हो जाता है।[4] अनुमानवाक्य निम्नलिखित हैं-

१. सर्वे धूमाः अग्निव्याप्ताः, धूमत्वादुपलब्धधूमवत्।

२. धूमवन्तः प्रदेशा वाग्निमन्तः, धूमवत्त्वात्, तथोपलब्धप्रदेशवत्।'[5]

प्रथम अनुमान में धूम पक्ष है तथा द्वितीय में धूमविशिष्ट प्रदेश। इस रीति से सर्वोपसंहारवती व्याप्तिस्मृति भी अनुमानपूर्वक सम्पन्न होती है। किन्तु सर्वोपसंहारवती व्याप्ति के साधक अनुमान में 'उपलब्धधूमवत्' इस दृष्टान्त के सिद्ध होने पर सर्वोपसंहारवती व्याप्ति की सिद्धि होती है और सर्वोपसंहारवती व्याप्ति

1. प्रशस्तपादभाष्य, पृ २२२-२२३
2. न्यायभूषण, पृ. २१८
3. श्लोकवार्तिक, पृ० १६०, (प्रत्यक्षसूत्र, का० ८४)
4. सर्वव्याप्यव्यापकाग्रहे कथं सर्वोपसंहारेण प्रतीतिरिति चेत्, न अनुमानतस्तत्संभवात्। —न्यायभूषण, पृ. २१६
5. न्यायभूषण, पृ. २१६

की सिद्धि होने पर 'उपलब्धधूमवत्' दृष्टान्त की सिद्धि होती है इस प्रकार अन्योन्याश्रयदोष की प्रसक्ति होने से व्याप्तिग्रहण मानस प्रत्यक्ष से होता है, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भासर्वज्ञ ने किया है।[1]

लिङ्गद्वैविध्य

साध्यज्ञापक अर्थात् साध्यानुमापक साधन को लिङ्ग कहते हैं। वह दृष्ट तथा सामान्यतोदृष्ट भेद से दो प्रकार का है। भासर्वज्ञ के अनुसार अनुमानसूत्र में 'च' शब्द इन दोनों भेदों का सूचक है।[2] उनमें प्रत्यक्षयोग्य अर्थ का अनुमापक लिङ्ग दृष्ट कहलाता है।[3] जैसे धूम प्रत्यक्षयोग्य वह्निरूप अर्थ का अनुमान कराता है, अतः वह दृष्ट है तथा स्वभावतः विप्रकृष्ट अर्थात् अदृष्ट अर्थ का अनुमापक लिङ्ग सामान्यतोदृष्ट कहलाता है।[4] जैसे, रूपादिज्ञान स्वभावतः अदृष्ट चक्षुरादि इन्द्रिय रूप अर्थ का अनुमापक है, क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियां स्वभावतः प्रत्यक्ष के अयोग्य हैं। किन्तु रूपादिज्ञानरूप क्रिया करण के बिना असंभव है। जैसे, काष्ठ की छेदनक्रिया कुठार आदि साधनों के बिना अनुपपन्न है। अतः रूपादिज्ञानरूप क्रिया द्वारा उसके साधनभूत अदृष्ट चक्षुरादि इन्द्रियों का अनुमान होता है।

स्वार्थ-परार्थ भेद

भासर्वज्ञ के पूर्ववर्ती 'न्यायसूत्र', 'न्यायभाष्य', 'न्यायवार्तिक', 'न्यायमंजरी' आदि न्यायग्रन्थों में स्वार्थ-परार्थ भेद स्पष्टतया प्राप्त नहीं होता। अनुमान के दृष्ट तथा सामान्यतो दृष्ट भेद की तरह इन दो भेदों को भी भासर्वज्ञ ने प्रशस्तपाद[5] से प्रभावित होकर माना है।[6] परोपदेशरूप पंचावयव वाक्य की अपेक्षा न रखने वाले अनुमान को स्वार्थानुमान कहते हैं और परोपदेशापेक्षी अनुमान को परार्थ कहते हैं।[7] स्वार्थ तथा परार्थ शब्द भी व्युत्पत्ति से इसी अर्थ का बोधन कर रहे हैं। अनुमान के इस द्वैविध्य से अनुमिति भी दो प्रकार की होती है।

---

1. वही, पृ. २२०
2. सूत्रे तु दृष्टादिप्रकारेण द्वैविध्यं चशब्दसूचितं द्रष्टव्यम्। —न्यायभूषण, पृ. २२६
3. न्यायसार, पृ. ५
4. न्यायसार, पृ. ५
5. पंचावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानम्। पंचावयवेनैव वाक्येन संशयित-विपर्यस्ताव्युत्पन्नानां परेषां स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानं विज्ञेयम्। —प्रशस्तपादभाष्य, पृ. १८४
6. तत् पुनः द्विविधम्। स्वार्थं परार्थं चेति। —न्यायसार, पृ. ५
7. न्यायसार, पृ. ५

अवयवनिरूपण

परार्थानुमान में प्रतिज्ञादि अवयवों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य भासर्वज्ञ ने न्यायसूत्रानुसार प्रतिज्ञादि पांच अवयव माने हैं। मीमांसकों को केवल तीन अवयव ही स्वीकार्य हैं और वेदान्तियों ने प्रायः केवल दो अवयवों का प्रयोग किया है। मानमनोहरकार वादिवागीश्वराचार्यने उपनय तथा उदाहरण-इन दो अवयवों को ही स्वीकार किया है।[1] वेदान्ती चित्सुखाचार्यने अपने प्रबल प्रतिद्वन्द्वी के इस सुझाव को ही अपने सिद्धान्त का आधार मानकर कहा है—'अंगं द्वयमेव-व्याप्तिः पक्षधर्मता चेति तच्चोभयमुदाहरणोपनयाभ्यामेवाभिहितमिति किमपरमवशिष्यते यदर्थमुपाददीत'[2]। न्यायभाष्यकार ने प्रतिज्ञादि अवयवों की व्याख्या करते हुए उनसे भिन्न पांच और अवयवों का उल्लेख किया है।[3] इससे प्रतीत होता है कि उनके पूर्ववर्ती कतिपय नैयायिक दश अवयव मानते थे। वार्तिककार ने भी दशावयववादि-मत का निर्देश किया है। भाष्यकार ने यह स्पष्ट किया है कि तत्त्वार्थसाधन के कारण प्रतिज्ञादि पांच अवयव साधक वाक्य के अंगभूत हैं, जिज्ञासादि नहीं। जिज्ञासादि कथाप्रवृत्ति में अवधारणीय अर्थ के उपकारक होते हैं। भाष्यकार से सहमति व्यक्त करते हुए उद्योतकर ने भी कहा है कि जिज्ञासादि प्रकरण के उत्थापक हैं, अवयव नहीं[5]।

भासर्वज्ञ ने भी जिज्ञासादि के अवयवत्व का खण्डन किया है। जिस शब्द की महावाक्य के साथ एकवाक्यता होती है, वही वाक्य का अवयव हो सकता है। अवयव वाक्य के एकदेश होते हैं, जिज्ञासादि की यह स्थिति नहीं है। अर्थात् प्रतिज्ञादि शब्दात्मक हैं और जिज्ञासादि ज्ञानात्मक। किसी विषय को विशेषतया जानने की इच्छा जिज्ञासा कहलाती है, विरुद्ध धर्मों का उपस्थापक ज्ञान संशय कहा जाता है। अभीष्ट प्रमाण का संभव शक्यप्राप्ति कहलाती है और अभिप्रेत अर्थ का निश्चय प्रयोजन होता है। परपक्ष का प्रतिषेध संशयव्युदास कहलाता है। ये जिज्ञासादि अवयव वाक्यात्मक (वचनात्मक) नहीं है, अतः दशावयप्रसंग नहीं है।[6]

---

1. अंगे च द्वे एव व्याप्तिपक्षधर्मत्वे। न हि ततोऽधिकं प्रवृत्यंगम्। —मानमनोहर, पृ. ८५
2. चित्सुखी, पृ. ४०१
3. न्यायभाष्य, १।१।३२
4. एके तावद् ब्रुवते दशावयवं वाक्यम्...। —न्यायवार्तिक, १।१।३२
5. न्यायवार्तिक, १।१।३२
6. न चैते वचनात्मकास्तन्न दशावयवप्रसङ्गः। — न्यायभूषण, पृ. २८७

प्रतिज्ञा–निरूपण

पंचावयववाक्य परोपदेश है। अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादक पदसमूह यहाँ परोपदेश के रूप में विवक्षित है। उन पदसमूहात्मक वाक्य के एकदेशभूत पद अवयवत्वेन अभीष्ट नहीं हैं, अपितु प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमनरूप पदसमूह यहाँ अवयवत्वेन अभिप्रेत हैं। हस्तपादादि अवयवों में अतिव्याप्ति का निवारण करने हेतु अवयवों के पहिले 'प्रतिज्ञादि' का प्रयोग किया है। यद्यपि साधनांग के अभिव्यंजक प्रतिज्ञादि पदकदम्बात्मक होने से अवान्तर वाक्य हैं, तथापि पंचावयव महावाक्य की अपेक्षा से अवयव कहलाते हैं।

पंचावयव महावाक्य में प्रतिज्ञा प्रथम अवयव है। आचार्य भासर्वज्ञ ने 'प्रतिपिपादयिषया पक्षवचनं प्रतिज्ञा'[1] यह प्रतिज्ञा का लक्षण किया है। यद्यपि जिज्ञासु व्यक्ति भी साधन की जिज्ञासा से पक्षवचन का उच्चारण करता है, तथापि उसमें 'प्रतिपिपादयिषा' का अभाव होने के कारण प्रतिज्ञालक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। 'धातूनामनेकार्थत्वात्' इस नियम के अनुसार 'प्रतिपिपादयिषा' का यहां अर्थ 'सिसाधयिषा' अभिप्रेत है। ऐसा न करने पर हेत्वादि में भी प्रतिज्ञात्व की आपत्ति हो जायेगी, क्योंकि उनका कथन भी प्रतिपिपादयिषापूर्वक होता है। 'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा' इस सूत्र में भी साध्यनिर्देश के विशेषण रूप से 'प्रतिपिपादयिषा' पद की आवश्यकता है। अन्यथा 'अनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वात्', 'नित्यः शब्दः अस्पर्शवत्त्वात् बुद्धिवत्' इन अनुमानों में क्रमशः चाक्षुषत्व हेतु यथा बुद्धिरूप दृष्टान्त असिद्ध हैं और असिद्ध होने से साध्य हैं तथा उनका उपर्युक्त अनुमानों में निर्देश भी है। अतः इनमें भी 'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा' इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। 'प्रतिपिपादयिषा' यह विशेषण देने पर उनमें अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि असिद्धत्वेन उनके साध्य होने पर भी किसी साधन के द्वारा उनकी सिद्धि नहीं की जा रही है, अतः 'प्रतिपिपादयिषा' से साध्य का निर्देश वहाँ नहीं है। श्री वी. पी. वैद्य ने यह निर्देश किया है कि प्रतिज्ञा की गौतमोक्त परिभाषा 'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा' अत्यन्त संक्षिप्त है और 'पक्षे प्रतिपिपादयिषा' पद के बिना अस्पष्ट है।[2] वस्तुतः सूत्रकार पर यह दोषारोपण उचित नहीं, क्योंकि संक्षिप्त होना सूत्र का दूषण न होकर भूषण है। तथा प्रतिज्ञादि पंचावयववाक्यसमूहरूप परार्थानुमान में साध्यनिर्देश पक्ष में उसकी प्रतिपिपादयिषा के लिये ही होता है, अतः साध्य शब्द से ही पक्षाश्रित प्रतिपिपादयिषा द्योतित हो जाती है।

'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा'-इस सूत्रकारोक्त प्रतिज्ञालक्षण में 'सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति' इस न्याय के अनुसार 'साध्यनिर्देश एव प्रतिज्ञा' इत्याकारक अवधारण मानने पर 'यत एवकारस्ततोऽन्यत्र नियमः' इस न्याय के अनुसार प्रतिज्ञा का नियमन होगा

1. न्यायसार, पृ. ५
2. न्यायसार, नोट्स, पृ. १६

अर्थात् प्रतिज्ञा साध्यनिर्देश ही है, उससे भिन्न प्रतिज्ञा नहीं है इस रूप से प्रतिज्ञा का क्षेत्र नियमित होगा। ऐसी स्थिति में साध्यनिर्देश अनवधारित व अनियमित रहेगा अर्थात् प्रतिज्ञावाक्यरहित अन्य प्रकार के साध्यनिर्देश में प्रतिज्ञारूप लक्ष्य के न होने पर भी साध्यनिर्देशरूप लक्षण की सत्ता होने से प्रतिज्ञालक्षण की अतिव्याप्ति होगी तथा 'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञैव' इस रूप से अवधारण माना जायेगा, तो उक्त रीति से यह नियमन या अवधारण साध्यनिर्देश का होगा न कि प्रतिज्ञारूप लक्ष्य का। ऐसी स्थिति में प्रतिज्ञा के अनिर्धारित होने से लौकिक प्रतिज्ञा में प्रतिज्ञारूप लक्ष्य की सत्ता होने पर भी साध्यनिर्देशरूप लक्षण के अभाव से लक्षण में अव्याप्ति दोष होगा। इसलिये उपर्युक्त दोषपरिहारार्थ उद्योतकार ने 'सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति' इस न्याय को सार्वत्रिक नहीं माना है।[1] अतः प्रतिज्ञालक्षण में अनावश्यक होने से किसी प्रकार का अवधारण नहीं है। यथा—'एष पन्थाः स्रुघ्नं गच्छति' इस वाक्य में किसी प्रकार का अवधारण नहीं है। हाँ, यदि कहीं लक्षण की अतिप्रसक्ति आदि हो, तो तन्निवारणार्थ अवधारण माना जा सकता है।

उद्योतकराचार्य की तरह भासर्वज्ञ की भी यही मान्यता है कि यहां अवधारणा की आवश्यकता नहीं है। 'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा'—इस सौत्रलक्षण में शब्द के सामर्थ्य से ही यह सिद्ध होता है कि साध्यनिर्देश ही प्रतिज्ञा है, असाध्य का निर्देश नहीं, क्योंकि शब्दसामर्थ्य या मीमांसकाभिमत लिंगप्रमाण[2] से ही यह ज्ञात हो जाता है। यदि असाध्यनिर्देश को प्रतिज्ञा कहना अभीष्ट होता है, तब 'निर्देशः प्रतिज्ञा' यह लक्षण किया जाता।

आचार्य भासर्वज्ञ ने 'प्रतिपिपादयिषया पक्षवचनं प्रतिज्ञा' इस स्वोक्त प्रतिज्ञालक्षण तथा 'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा'-'इस सूत्रकारोक्त प्रतिज्ञालक्षण की समानार्थकता का प्रदर्शन करते हुए कहा है कि साध्यधर्मविशिष्ट धर्मी हो सूत्र में साध्य शब्द से अभिप्रेत है, अतः साध्यनिर्देश और पक्षवचन दोनों समानार्थक हैं। यहाँ भासर्वज्ञ ने यह संकेत किया है कि वात्स्यायन तथा उद्योतकर को धर्मिविशिष्ट धर्मनिर्देश प्रतिज्ञा के रूप में अभीष्ट नहीं है।[3] परन्तु भासर्वज्ञ का कथन है कि धर्मिविशिष्ट धर्म भी सूत्र में साध्य शब्द

1. सर्वस्मिन् वाक्येऽवधारणमिति न बुध्यामहे। तद्यथा गोपालकेन मार्गेऽपदिष्टे 'एष पन्थाः स्रुघ्नं गच्छतीति' नावधारणस्य विषयं पश्यामः।...सर्वत्र च सावधारणं कुर्वाणो लोकं बाधते इति। यत्र च विशेषणस्यावकाशस्तत्रावधारणस्यापीति। —न्यायवार्तिक, १।१।३३

2. मीमांसादर्शन के द्वितीय अध्याय में श्रुति–लिंग–वाक्य–प्रकरण–स्थान–समाख्या इन ६ प्रमाणों में लिंगप्रमाण का लक्षण दिया है—'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते'। लौगाक्षिभास्कर ने भी कहा है—'शब्दसामर्थ्यं लिङ्गम् (अर्थसंग्रह, पृ. ८६)।

3. (अ) प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य परिग्रहवचनं प्रतिज्ञा साध्यनिर्देशः।
—न्यायभाष्य, १।१।३३

(ब) न ब्रूमो धर्मिमात्रं साध्यम्, अपि तु प्रज्ञापनीयधर्मविशिष्टो धर्मी साध्यः।
—न्यायवार्तिक, १।१।३३

से गृहीत है और 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारक साध्यधर्मविशिष्ट धर्मी के निर्देश की तरह 'अत्राग्निः' इत्याकारक धर्मिविशिष्ट साध्यधर्मनिर्देश भी प्रतिज्ञा है। क्योंकि 'अत्राग्निः' यह कहने पर अग्निमान् प्रदेश की प्रतीति नहीं होती, ऐसा नहीं माना जा सकता।[1]

हेतुनिरूपण

साधनत्व के बोधक लिङ्गवचन को हेतु कहते हैं।[2] अर्थात् साधनत्व के प्रकाशक पञ्चम्यन्त या तृतीयान्त हेतुवचन को हेतु कहते हैं। जैसे 'अनित्यः शब्दः तीव्रादिधर्मोपेतत्वात्[3]' इस अनुमान में तीव्रादिधर्मोपेतत्व वचन। मुख्यतया तो लिङ्ग ही हेतु होता है, न कि हेतुवचन, क्योंकि लिङ्ग ही पक्षधर्मत्वादि रूपों के सद्भाव से साध्य का प्रतिपादक होता है।[4] हेतु के तीन भेद हैं—

(१) अन्वयव्यतिरेकी, (२) केवलान्वयी और (३) केवलव्यतिरेकी।

अन्वयव्यतिरेकी हेतु

अन्वयव्यतिरेकी हेतु पंचरूपोपपन्न होता है। वे पाँच रूप इस प्रकार हैं— (१) पक्षधर्मत्व, (२) सपक्षसत्त्व, (३) विपक्षव्यावृत्ति, (४) अबाधितविषयत्व और (५) असत्प्रतिपक्षत्व। यहाँ इन पांच रूपों का स्वरूप स्पष्ट किया जा रहा है—

१. पक्षधर्मत्व :

साध्यधर्मविशिष्ट धर्मी को पक्ष कहते हैं। उसमें हेतु का व्याप्यवृत्तित्व पक्षधर्मत्व कहलाता है।

२. सपक्षसत्त्व :

साध्य (पक्ष) के समान धर्म वाला धर्मी सपक्ष कहलाता है। उसके समस्त देश अथवा एकदेश में हेतु की सत्ता सपक्षसत्त्व कहलाता है।

३. विपक्षव्यावृत्ति :

साध्य से व्यावृत्त धर्म वाला धर्मी विपक्ष कहलाता है। समस्त विपक्ष से अथवा उसके एकदेश से हेतु की व्यावृत्ति विपक्षव्यावृत्ति कहलाती है।

---

1. न्यायभूषण, पृ. २८४
2. न्यायसार, पृ. ५
3. वही
4. न्यायभूषण, पृ. २८७–२८८

४. अबाधितविषयत्व :

प्रमाणाविरुद्ध साध्यविशिष्ट पक्ष में हेतु की वृत्ति अबाधितविषयत्व है।

५. असत्प्रतिपक्षत्व :

साध्य और तद्विपरीत के साधन में जो अत्रिरूपत्व अर्थात् पक्षधर्मत्वादि रूपत्रय का अभाव होता है, वह असत्प्रतिपक्षत्व कहलाता है।

द्विविध सपक्षवृत्तिता के कारण इसके दो भेद हैं-(१) सपक्षव्यापक और (२) सपक्षैकदेशवृत्ति।

१. सपक्षव्यापक :

जैसे, 'अनित्यः शब्दः कार्यत्वात्'। कार्यत्व हेतु समस्त सपक्ष घटादि में विद्यमान है, इसे सपक्षव्यापक अन्वयव्यतिरेकी हेतु कहते हैं।

२. सपक्षैकदेशवृत्ति :

जैसे, 'अनित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्'। 'सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्व' हेतु सपक्ष के एकदेश अनित्य घटादि में विद्यमान हैं, बुद्ध्यादि में नहीं, क्योंकि बुद्ध्यादि सामान्यवान् होने पर भी अस्मदादि-बाह्य इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं होते।

केवलान्वयी हेतु

केवलान्वयी हेतु का लक्षण भासर्वज्ञ ने 'पक्षव्यापकः सपक्षवृत्तिरविद्यमानविपक्षः केवलान्वयी'[1] यह किया है। जो हेतु पक्ष में व्याप्त हो, सपक्षवृत्ति हो और जिसका विपक्ष न हो, वह केवलान्वयी हेतु कहलाता है। केवलान्वयी हेतु के लक्षण में यद्यपि 'अबाधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वे सति' यह विशेषण नहीं दिया गया है, तथापि उसकी अर्थतः प्राप्ति हो जाती है। उक्त हेतु के लक्षण का सरल शब्दों में यह निर्वचन किया जा सकता है कि जहां हेतु केवल अन्वयव्याप्ति से युक्त होता है अर्थात् जहां व्यतिरेकव्याप्ति का अभाव है, उसे केवलान्वयी हेतु कहते हैं। अन्वयव्यतिरेकी हेतु की तरह इसकी भी सपक्षव्यापकत्व तथा सपक्षैकदेशवृत्तित्व के भेद से दो विधाएं हैं।

१. सपक्षव्यापक :

'विवादास्पदीभूतान्यदृष्टादीनि कस्यचित् प्रत्यक्षाणि प्रमेयत्वात् करतलामलकवत्'[2] अर्थात् विवादास्पद अदृष्टादि किसी के प्रत्यक्ष के विषय हैं, प्रमेय होने के कारण, हस्तामलक की तरह। मीमांसक पुण्य, पाप, स्वर्ग, ईश्वरादि अदृष्ट तत्त्वों का प्रत्यक्ष

1. न्यायसार, पृ. ६
2. न्यायसार, पृ. ६

नहीं मानते। उनके प्रति नैयायिक उपर्युक्त अनुमान प्रस्तुत करते हैं। उपर्युक्त अनुमान में प्रमेयत्वरूप केवलान्वयी हेतु सपक्षव्यापक है, क्योंकि वह समस्त वस्तुओं के प्रमेय होने से किसी के अर्थात् योगी आदि के प्रत्यक्षविषयीभूत समस्त सपक्षों में रहता है।

२. सपक्षैकदेशवृत्ति :

'विवादास्पदीभूतान्यदृष्टादीनि कस्यचित् प्रत्यक्षाणि मीमांसकानामप्रत्यक्षत्वात् अस्मत्सुखादिवत्'।[1] विवादास्पद अदृष्टादि का किसी को प्रत्यक्ष होता है, मीमांसकों को अप्रत्यक्ष होने से हमारे सुखादि की तरह। अर्थात् जैसे हमारे सुखादि का हमें ही प्रत्यक्ष होता है, सब को नहीं, क्योंकि सुखादि का आत्ममनःसंयोग के द्वारा प्रत्यक्ष होता है और हमारे सुखादि का हमारे मन से सम्बन्ध है न कि दूसरों के मन से। अतः उनको हमारे सुखादि का प्रत्यक्ष नहीं होता। उसी तरह विवादास्पद अदृष्टादि का किसी योगी आदि को प्रत्यक्ष होता है। इस अनुमान में 'मीमांसकानामप्रत्यक्षत्वम्' हेतु मीमांसकों को अदृष्टादि के प्रत्यक्ष न होने से वहाँ हेतु के रहने पर भी घटादि का मीमांसकों को भी प्रत्यक्ष होने से वहाँ हेतु की वृत्तिता न होने से सपक्षैकदेशवृत्ति केवलान्वयी है। 'कस्यचित् प्रत्यक्षत्व' साध्य के सर्वत्र विद्यमान होने से इस हेतु का विपक्ष विद्यमान नहीं है।

केवलान्वयी के नास्तित्व की आशंका और उसका परिहार

बौद्धों की मान्यता है कि साध्य और साधन के अविनाभाव का नाम व्याप्ति है और हेतु साध्यव्याप्तिमान् होता है। अतः केवलान्वयी हेतु में भी साध्य के साथ उसका अविनाभाव आवश्यक है। अविनाभाव का स्वरूप व्युत्पत्ति द्वारा 'तेन विना न भवति' इत्याकारक है अर्थात् साध्याभाव में साधन का न होना है। साध्याभावरूप ही विपक्ष है और उसके न होने से साध्याभाव व साधनाभावरूप व्यतिरेक के न होने के कारण हेतु को केवलान्वयी कहना असंगत है।[2]

भासर्वज्ञ उक्त पक्ष का खण्डन करते हुए कहते हैं कि व्यतिरेक के अभाव में अविनाभाव का अभाव मानना उचित नहीं। व्याप्यव्यापकभाव ही अविनाभाव का लक्षण है और साध्य तथा साधन का व्याप्यव्यापकभावरूप अविनाभाव साध्याभावरूप विपक्ष से रहित केवलान्वयी में भी है। अविनाभाव शब्द का 'तेन विना न भवति' इत्याकारक व्युत्पत्त्यर्थ मानने पर अविनाभाव में व्यतिरेकसापेक्षता आती है, परन्तु तत्त्व का विनिश्चय व्युत्पत्त्यर्थ से न होकर लक्षण से होता है। व्युत्पत्त्यर्थ को तत्त्वव्यवस्थापक मानने पर स्थित गौ में 'गच्छतीति गौः' इस व्युत्पत्त्यर्थ का समन्वय

---

1. न्यायसार, निर्णयसागर संस्करण, १९१०, पृ. ५
2. न्यायभूषण, पृ. ३०२

न होने से गोव्यवहार नहीं होगा। अतः लक्षण का सद्भाव होने पर भी शब्द-व्युत्पत्ति के असंभव होने मात्र से अविनाभाव का प्रतिषेध उचित नहीं है।[1] स्वयं बौद्धों के पक्ष में भी ऐसा मानना उचित नहीं होगा। अन्यथा मनोविज्ञान, आत्मसंवेदन और योगिज्ञान–इन बौद्धसम्मत मानसादित्रय में 'प्रतिगतमक्षम्' इस व्युत्पत्त्यर्थ के संभव न होने से वे प्रत्यक्ष नहीं कहे जा सकेंगे।

साध्याभाव होने पर साधन का अभाव ही व्यतिरेक है। साध्याभावरहित केवलान्वयी में उस व्यतिरेक की प्रसिद्धि न होने से हेतु में संदिग्धानैकान्तिकत्व की तो शंका भी निरर्थक है, क्योंकि केवलान्वयी हेतु में साध्याभावरूप विपक्ष के असम्भव होने से विपक्ष में हेतु की सत्ता है या नहीं इत्याकारक सन्दिग्धानैकान्तिकत्व की शंका अनुपपन्न है। काल्पनिक नरविषाणादि की प्रतीत्यभाव के कारण सत्ता न होने से उनमें साध्याभावत्वरूप विपक्षत्व अनुपपन्न है। इसी लिये विपक्ष के लक्षण में 'साध्यव्यावृत्तधर्मा धर्मी विपक्षः' इस रूप में धर्मी पद का प्रयोग किया है। अपि च, प्रमाणसिद्ध वस्तु ही विपक्ष होता है और उसी में हेतु की सत्ता व असत्ता का विचार किया जाता है और नरविषाणादि प्रमाणसिद्ध नहीं हैं, अतः उनको विपक्ष मानना तथा उनमें हेतु के सत्त्व या असत्त्व का विचार ही अनुपपन्न है।

प्रमाणासिद्ध आकाश-कुसुमादि को विपक्ष मानकर उनमें हेतु के अभाव से केवलान्वयी हेतु को भले ही व्यतिरेकी कहा जाय, परन्तु 'साध्यव्यावृत्तधर्मा धर्मी विपक्षः' इस लक्षण वाले विपक्ष का अभाव होने से प्रमेयत्व हेतु केवलान्वयी ही माना जाता है।

केवलव्यतिरेकी हेतु का निरूपण

केवलव्यतिरेकी का लक्षण—'पक्षव्यापको विद्यमानसपक्षो विपक्षाद्व्यावृत्तः केवलव्यतिरेकी'[2] है। अर्थात् सपक्ष रहित, पक्षव्यापक तथा विपक्षव्यावृत्त हेतु केवलव्यतिरेकी कहलाता है। जैसे, 'सर्वं कार्यं सर्ववित्कर्तृपूर्वकं, कादाचित्कत्वात्। अर्थात् समस्त कार्य सर्ववित्कर्तृपूर्वक हैं, कादाचित्क होने से। जो सर्ववित्कर्तृपूर्वक नहीं होता, वह कादाचित्क भी नहीं होता, जैसे—आकाशादि। इसी प्रकार जीवित शरीर सात्मक है, प्राणादिमान् होने से। जो सात्मक नहीं होता, वह प्राणादिमान् भी नहीं होता, जैसे—लोष्टादि। प्रकारभेद से अर्थात् प्रसक्ति द्वारा भी प्रयोग किया जा सकता है। जैसे—यह जीवित शरीर निरात्मक नहीं है, अप्राणादिमत्त्व-प्रसक्ति के कारण, लोष्ट की तरह।

1. न्यायभूषण, पृ. ३०३.

2. न्यायसार, पृ. ५.

यहां जीवित शरीर के निरात्मक होने पर अप्राणादिमत्व की प्रसक्ति द्वारा प्रसंगविपर्ययरूप प्राणादिमत्व हेतु अभिप्रेत है। अतः प्रसंग (तर्क) को द्वार बनाना निरर्थक है। जैसे—यदि जीवित शरीर निरात्मक हो, तब अप्राणादिमत्त्व की प्रसक्ति हो जायेगी। इसके विपरीत जीवित शरीर का प्राणादिमत्त्व अनुभूतिसिद्ध है। अतः जीवित शरीर निरात्मक नहीं, अपितु सात्मक ही है—इस प्रकार प्रसंगवाक्य के अर्थ का उसके विपर्यय में पर्यवसान का निश्चय किया जाता है। निष्कर्ष यह है कि समस्त प्रसंग प्रसंगविपर्यय में पर्यवसित होकर प्रमिति में उपादेय होते हैं। प्रसंग-विपर्यय का अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—जीवित शरीर सात्मक हैं, प्राणादिमान् होने के कारण। जो सात्मक नहीं होता, वह प्राणादिमान् नहीं होता। जैसे—लोष्टादि। यह अप्राणादिमान् नहीं है, अतः सात्मक है।

हेत्वाभासनिरूपण

न्यायशास्त्राभिमत षोडश पदार्थों में हेत्वाभासों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि हेत्वाभास निग्रहस्थान नामक पदार्थ में अन्तर्भूत हैं, तथापि प्रयोजनवश उनका पृथक् निर्देश किया गया है। न्यायभाष्कारने निग्रहस्थानों से हेत्वाभासों के पृथक् कथन का प्रयोजन वादकथा में उनकी स्वीकृति बतलाया है।[1] भासर्वज्ञ ने विशेष लक्षण निरूपण द्वारा हेत्वाभास के भेदप्रपंच का परिज्ञान प्रयोजन बतलाया है,[2] हेत्वाभासों के भेदप्रपंच का ज्ञान अनुमाता में नैपुण्य का जनक है।

गंगेशोपाध्याय ने हेत्वाभाससामान्य का निर्वचन करते हुए हेत्वाभास शब्द की दो प्रकार से व्युत्पत्ति की है—'हेतोराभासः' तथा 'हेतुवद् आभासते इति हेत्वाभासः', जैसाकि तार्किकशिरोमणि गदाधर भट्टाचार्य ने गादाधरी में कहा है—'ननु हेतुवदा-भासन्ते इति व्युत्पत्त्या हेत्वाभासपदस्य दुष्टहेतुपरत्वाद्,... अन्यविधव्युत्पत्त्या हेत्वा-भासपदस्य हेतुदोषपरत्वम्...।[3] प्रथम व्युत्पत्ति से हेत्वाभास हेतु दोष का तथा द्वितीय व्युत्पत्ति से दुष्ट हेतु का बोधक है। धर्मकीर्ति आदि बौद्धों के अनुसार हेत्वाभास का सामान्य लक्षण 'असाधनांगवचनत्वम्' है अर्थात् जो साध्यसाधन के उपयोगी न हो, ऐसे हेतु का कथन हेत्वाभास है।

न्यायभाष्यकार के अनुसार भासर्वज्ञ ने हेत्वाभाससामान्य को असद्धेतुपरक मानकर 'हेतुलक्षणरहिताः हेतुवदाभासमानाः हेत्वाभासाः'[4] यह लक्षण किया है। हेत्वा-भाससामान्य का यह लक्षण प्राचीन तथा मध्यकालिक न्यायशास्त्रीय अन्य ग्रन्थों में भी प्रायः इसी रूप में मिलता है।

---

1. निग्रहस्थानेभ्यः पृथगुपदिष्टा हेत्वाभासाः वादे चोदनीया भविष्यन्तीति।—न्यायभाष्य, १।१।१.
2. विशेषलक्षणप्रपंचद्वारेण हेत्वाभासानां भेदप्रपंचप्रतिपत्त्यर्थं निग्रहस्थानेभ्यः पृथगुपदेश इति मतं मे। —न्यायभूषण, पृ. ७१
3. गादाधरी, द्वितीय भाग, पृ. १५८०-१५८१
4. न्यायसार, पृ. ७.

अहेतु होने पर भी हेतुसाम्य के कारण जो हेतु की तरह आभासित होते हैं, वे हेत्वाभास कहलाते हैं। हेत्वाभासों में हेतु की तरह प्रतिज्ञा के पश्चात् प्रयोग तथा पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व व विपक्षासत्त्व इन हेतुरूपों में किसी एक का होना ही उनमें हेतुसाम्य है अर्थात् जिस प्रकार हेतु प्रतिज्ञा के पश्चात् प्रयुक्त होते हैं, उसी प्रकार हेत्वाभास भी। तथा हेत्वाभासों में भी पक्षसत्त्वादि में से किसी न किसी हेतुरूप की सत्ता रहती है। छल, जाति आदि में हेत्वाभासों की तरह दूषणतासाम्य होने पर भी पक्षसत्त्वादिरूप हेतु के किसी भी रूप की सत्ता न होने से उनमें हेत्वाभास-लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। उद्योतकर ने सद्धेतु और असद्धेतु का अन्तर बताते हुए कहा है—'साधकासाधकत्वे तु विशेषः। हेतोः साधकत्वं धर्मः, असाधकत्वं हेत्वाभासस्य। किं पुनस्तत्? समस्तलक्षणोपपत्तिः असमस्तलक्षणोपपत्तिश्च।[1] अर्थात् हेतु साध्य का साधक होता है और हेत्वाभास साध्य का असाधक, यही इन दोनों में भेद है। हेतु में साध्यसाधकता हेतु का पक्षसत्त्वादि पांच धर्मों से युक्त होता है तथा हेत्वाभास का उन पांच धर्मों में से किसी न किसी से अयुक्त होना है। वार्तिककार का आशय यह है कि साध्यसाधनक्षम हेतु में पांच रूपों का होना आवश्यक है। वे पांच रूप (१) पक्षसत्त्व (२) सपक्षसत्त्व (३) विपक्षासत्त्व (४) असत्प्रतिपक्षत्व और (५) अबाधितविषयत्व हैं। इनमें से किसी एक धर्म का अभाव होने से हेत्वाभासता घटित होती है।

सूत्रकारसरणि से कुछ अलग होकर भासर्वज्ञ ने ६ हेत्वाभास स्वीकार किये हैं। उन्होंने 'सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीताः'[2] इस न्यायसूत्र का अन्यथा विन्यास करते हुए ६ हेत्वाभासों का उल्लेख किया है—'असिद्धविरुद्धानैकान्तिकानध्यवसितकालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाः'।[3] सूत्र का अन्यथा विन्यास सूत्रार्थसंग्रह द्वारा अध्येता की व्युत्पत्ति के लिये है। तात्पर्य यह है कि अक्षरशः सूत्रानुसरण करने पर न्याय का विद्यार्थी भी छान्दस छात्र की तरह बन जायेगा[4]। उसमें तार्किक-प्रज्ञा का उदय न होकर केवल श्रद्धापरकता रह जायेगी। अर्थात् जिस प्रकार शब्दप्रधान वेद का श्रोता वेद के शब्दों में तथा क्रम में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता, अतः वेद आदेशप्रधान बन जायेगा और व्युत्पत्ति उसका प्रयोजन नहीं रहेगी। अर्थात् वेदों में जो जैसा कहा गया है, वैसा ही छान्दस छात्र मान लेता है, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं करता, उसी प्रकार नैयायिक अध्येता भी बन जायेगा। अतः क्रम का परिवर्तन किया गया है। अपि च, सूत्रोक्त पांच हेत्वाभासों से अतिरिक्त अनध्यवसित हेत्वाभास की उपयोगिता बतलाना भी उनका प्रयोजन है। अनध्यवसित हेत्वाभास के निरूपण में प्रसंगतः उन्होंने यह स्पष्ट उल्लेख कर दिया है कि न्यायसूत्र हेत्वाभासों की पंचत्व संख्या के अवधारण के लिये नहीं है, अपितु दिग्दर्शन के लिये।[5] अतः सूत्रकार से विरोध नहीं है।

1. न्यायवार्तिक, १।२।४
2. न्यायसूत्र, १।२।४
3. न्यायसार, पृ. ७
4. न्यायभूषण, पृ. ३०८
5. न्यायभूषण पृ. ३०९

असिद्ध

सूत्रकार ने असिद्ध हेत्वाभास को साध्यसम शब्द से व्यपदिष्ट किया है तथा 'साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः'[1] यह उसका लक्षण किया है। अर्थात् जिस हेतु की पक्ष में साध्य की तरह सिद्धि अपेक्षित होती है, वह हेतु साध्य से अविशिष्ट (समान) होता है, अत एव उसे साध्यसम हेत्वाभास कहते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि जिस हेतु का पक्ष में रहना सन्दिग्ध या अनिश्चित हो वही साध्यसम है। भाष्यकार ने इसका उदाहरण—'छाया द्रव्यं गतिमत्त्वात्' यह दिया है। इस अनुमान में गतिमत्त्व हेतु साध्यसम है, क्योंकि छाया में गतिमत्त्व सिद्ध नहीं होने से साधनीय है! इसीलिये वार्तिककार ने भी कहा है कि जैसे छाया में द्रव्यत्व साध्य है, उसी प्रकार उसमें गतिमत्त्व भी साध्य है। वार्तिककार ने प्रज्ञापनीयधर्म-समान, आश्रयासिद्ध तथा अन्यथासिद्ध भेद से असिद्ध तीन प्रकार का बतलाया है।[2] इनमें प्रज्ञापनीयधर्मसमान असिद्धभेद ही भाष्यकार का स्वरूपासिद्ध है। वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका में इस तथ्य की ओर संकेत किया है।[3] भाष्यकार ने स्वरूपा-सिद्ध आश्रयासिद्ध तथा अन्यथासिद्ध—तीनों असिद्धों का 'छाया द्रव्यं गतिमत्त्वात्' यह एक ही उदाहरण उपन्यस्त किया है। इस उदाहरण में छाया में गतिमत्त्व हेतु के स्वरूपतः असिद्ध होने से स्वरूपासिद्ध है। छाया में कुम्भादि की तरह देशान्तर-दर्शन के द्वारा गतिमत्ता सिद्ध होने पर स्वरूपासिद्ध का उदाहरण न मानने पर यह आश्रयासिद्ध का उदाहरण है, क्योंकि छाया के प्रकाशाभावरूप होने के कारण उसकी सत्ता न होने से यहां आश्रय असिद्ध है तथा छाया के भावाभावरूप होने से चाहे भावरूप नहीं है, तथापि देशान्तरदर्शनरूप गतिमत्त्व छाया में विद्यमान है, क्योंकि देशान्तरदर्शन का आश्रय भाव व अभाव दोनों होते हैं, ऐसा मानने पर छायारूप आश्रय के असिद्ध होने से यह आश्रयासिद्ध नहीं है, ऐसा मानने पर यही अन्यथा-सिद्ध का उदाहरण बन जाता है, क्योंकि छाया का देशान्तरदर्शन स्वभावतः नहीं है, अपितु तेज के आवरक द्रव्य की गति के द्वारा औपाधिक है, क्योंकि आवरक द्रव्य के तेज का असंनिधान होने पर ही तेज के असंनिधान से युक्त द्रव्य ही छाया कहलाती है। अतः देशान्तरदर्शनरूप गतिमत्त्व हेतु का द्रव्यत्वरूप साध्य के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है, अपि तु आवरक द्रव्यरूप उपाधिकृत होने से औपाधिक है। औपाधिक सम्बन्ध को ही अन्यथासिद्ध कहते हैं। इसी औपाधिक सम्बन्ध के कारण ही उदयनाचार्य ने इसे व्याप्यत्वासिद्ध संज्ञा से व्यवहृत किया है। उत्तरकालिक न्यायग्रन्थों में असिद्ध के ये तीनों भेद स्वरूपासिद्ध, आश्रयासिद्ध तथा व्याप्यत्वासिद्ध नामों से व्यपदिष्ट किये गये हैं।

---

1. न्यायसूत्र, १/२/८ 2. न्यायवार्तिक १/२/८

3. अत्र भाष्यकारेण स्वरूपासिद्धाश्रयासिद्धान्यथासिद्धानां साधारणमुदाहरणमुक्तम्।
—न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १/२/८

जयन्तभट्ट ने सौत्र लक्षण में परिष्कार करते हुए कहा है कि 'साध्यत्वात्' इस पद से रहित 'साध्याविशिष्टः' इतना ही असिद्ध का लक्षण उचित है। साध्यत्व तो एकमात्र अन्यतरासिद्ध में व्याप्त है, समस्त है, असिद्धभेदों में नहीं। असिद्धत्व ही समस्त असिद्धभेदों में अनुगत है, अतः असिद्धत्व ही लक्षणत्वेन प्राप्त होता है। अतः उन्होंने असिद्ध का लक्षण देते हुए कहा है कि जो हेतु पक्ष में अर्थात् साध्यविशिष्ट धर्मी में नहीं रहता, वह असिद्ध कहलाता है।[1] जयन्त भट्ट का अनुसरण करते हुए भासर्वज्ञ ने भी असिद्ध का 'तत्रानिश्चितपक्षवृत्तिरसिद्धिः'[2] यह लक्षण किया है। अर्थात् पक्ष में जिसकी सत्ता सन्दिग्ध हो या हेतु पक्ष में नहीं रहता इस प्रकार से निश्चित हो, वह हेतु असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। जयन्त भट्ट के अनुसार भासर्वज्ञ ने भी 'न्यायभूषण' में असिद्ध के सौत्र लक्षण को अव्यापक बतलाते हुए कहा है कि साध्यत्व अन्यतरासिद्ध में ही घटित होता है। अतः सम्प्रतिपत्त्यविषयत्वरूप साध्याविशिष्टत्व ही असिद्ध का व्यापक लक्षण है जो कि सभी असिद्धभेदों में घटित होता है।[3] 'साध्यत्व' केवल अन्यतरासिद्धि में ही घटित होता है, अन्यथासिद्ध आदि भेदों में नहीं। अतः 'साध्यत्व' को अन्यतरासिद्ध का लक्षण मानना चाहिए। अथवा इसका अर्थ असिद्धत्व करना चाहिए, जिससे वह सब असिद्धभेदों को व्याप्त कर सके। भासर्वज्ञ ने कहा है कि यद्यपि देशकालभेद तथा स्वरूपभेद से हेत्वाभासों के सूक्ष्म भेद अनन्त हैं तथापि उन्होंने स्थूलदृष्ट्या व्युत्पत्ति के लिये कतिपय भेद प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने असिद्ध के स्वरूपासिद्ध, व्याकरणासिद्ध, विशेष्यासिद्ध, विशेषणासिद्ध आदि १२ भेद माने हैं, जिनका संक्षेप में निरूपण प्रस्तुत किया जा रहा है :

१. स्वरूपासिद्ध :

जिस हेतु का स्वरूप असिद्ध हो या जो हेतु स्वरूप से असिद्ध हो उसे स्वरूपासिद्ध कहते हैं।[4] जैसे-'शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वात्'। यहां चाक्षुषत्व हेतु में स्वरूप पक्षसत्त्व का अभाव है, अतः यह स्वरूपासिद्ध है। तात्पर्य यह है कि प्रकृत में स्वरूशब्द से हेतुगत पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व—इन तीन धर्मों का ग्रहण होता है। इन तीनों धर्मों की असिद्धि एकत्र विवक्षित होती, तो कथित चाक्षुषत्व हेतु में ही स्वरूपासिद्धि संभव नहीं होती, क्योंकि उसमें केवल पक्षसत्त्व का अभाव है, सपक्षसत्त्व या विपक्षासत्त्व का नहीं। अतः स्वरूपासिद्ध पद से हेतु का

1. पक्षधर्मत्वं यस्य नास्ति धर्मिणि यो न वर्तते हेतुः सोऽसिद्धः।
—न्यायमंजरी, उत्तर भाग, पृ. १६२

2. न्यायसार, पृ. ७

3. सम्प्रतिपत्त्यविषयत्वं साध्याविशिष्टत्वं व्यापकं लक्षणं साध्यत्वादित्यन्यतरासिद्धस्य लक्षण-प्रमादपाठो वाऽसिद्धत्वादित्यर्थो वेति।—न्यायभूषण, पृ ३०९

4. स्वरूपेण असिद्धः, स्वरूपं वा असिद्धं यस्य सोऽयं स्वरूपासिद्धः।—वही, पृ. ३११

के उपर्युक्त तीनों रूपों में किसी एक रूप की असिद्धि अभिप्रेत है और प्रकृत में चाक्षुषत्व हेतु की शब्दरूप पक्ष में सत्ता नहीं है। चाक्षुषत्व हेतु की पक्षभूत शब्द में वृत्तिता न होने के कारण उसे स्वरूपासिद्ध कहा गया है। नवीनों ने भी केवल पक्षावृत्ति को स्वरूपासिद्ध कहा है, जैसा कि गादाधरी में कहा है—'स्यादेतद् व्याप्ति-पक्षधर्मताभ्यां निश्चयः सिद्धिस्तदभावोऽसिद्धिः'[1] अर्थात् व्याप्ति तथा पक्षधर्मता रूप से निश्चित हेतु सिद्ध कहलाता है तथा उसका अभाव असिद्ध हेत्वाभास है। इनमें व्याप्ति का अभाव जिस हेतु में हो, उसे व्याप्यत्वासिद्ध कहते हैं तथा जिस हेतु में पक्षधर्मता का अभाव हो उसे स्वरूपासिद्ध कहते हैं। तर्कभाषाकार ने भी स्वरूपासिद्ध यही स्वरूप माना है।[2] आचार्य प्रशस्तपाद ने स्वरूपासिद्ध को उभयासिद्ध शब्द से व्यवहृत किया है। जैसे—'उभयासिद्धः—अनित्यः शब्दः सावयवत्त्वात् इति'।[3] दिङ्नाग को भी स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास उभयासिद्ध के रूप में मान्य है, जैसा कि न्यायप्रवेश में उन्होंने कहा है—'तत्र शब्दानित्यत्वे साध्ये चाक्षुषत्वादित्युभयासिद्धः।'[4] जयन्त भट्ट ने भी इसे उभयासिद्ध की कोटि में समाविष्ट किया है।[5] किरणावलीकार उदयनाचार्यने भासर्वज्ञ के असिद्धलक्षण[6] से प्रभावित 'अनिश्चितपक्षधर्मताकोऽसिद्धः'[7] यह असिद्ध का लक्षण बतलाया है।

चाक्षुषत्व हेतु की शब्दरूप अधिकरण से भिन्न रूपादि में सत्ता होने से इसे व्यधिकरणासिद्ध मानना चाहिए न कि स्वरूपासिद्ध। इस शंका का समाधान करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि चाक्षुषत्व हेतु यहाँ रूपादिकरण में प्रतिपादित नहीं है, अपि तु शब्दरूप धर्मी में प्रतिपादित है और उसमें यह हेतु स्वरूपतः अविद्यमान है, अतः स्वरूपासिद्ध कहना ही उचित है। अथवा यह जन्मान्ध के प्रति स्वरूपासिद्ध है।[8] उसके लिये रूपादि अदृष्ट होने से व्यधिकरणासिद्धत्व की आशंका नहीं होगी।

२. व्यधिकरणासिद्ध –

'व्यधिकरणश्चासौ असिद्धश्च' इस व्युत्पत्ति से स्पष्ट है कि भिन्न अधिकरण में रहने वाले तथा पक्ष में रहने वाले तथा पक्ष में न रहने वाले असिद्ध हेतु को व्यधिकरणासिद्ध कहते हैं। जैसे—'अनित्यः शब्दः पटस्य कृतकत्वात्।' यहाँ कृतकत्व

---

1. गादाधरी (वि.), पृ, १८४५
2. स्वरूपासिद्धस्तु स उच्यते यो हेतुराश्रये नावगम्यते। — तर्कभाषा, पृ. ३८२
3. प्रशस्तपादभाष्य, पृ, १९०
4. न्यायप्रवेश, भाग १, पृ. ३
5. न चाक्षुषत्वादेरुभयासिद्धस्य, न हि तस्य साध्यत्वं संभवतीत्यर्थः।
— न्यायमंजरी, उत्तरभाग, पृ. १६२
6. तत्रानिश्चितपक्षवृत्तिरसिद्धः। — न्यायसार, पृ. ७
7. किरणावली, पृ. २२९
8. न्यायभूषण, पृ. ३११

हेतु पक्ष-भिन्न पटरूप अधिकरण में रहता है न कि शब्द में। अतः यह व्यधिकरणासिद्ध है। यद्यपि शब्द में भी कृतकत्व है, तथापि 'पटस्य कृतकत्वात्' हेतु द्वारा कृतकता पट में प्रतिपादित है, न कि शब्द में और पट के कृतक होने से शब्द में अनित्यता सिद्ध नहीं हो सकती। यद्यपि 'चैत्रोऽयं ब्राह्मणः तत्पित्रोर्ब्राह्मणत्वात्' इस अनुमान में 'तत्पित्रोर्ब्राह्मणत्वात्' यह हेतु चैत्रभिन्न माता-पिता में ब्राह्मणत्व का प्रतिपादन कर रहा है न कि पुत्र चैत्र में, तथापि यह हेतु पुत्रगत ब्राह्मणत्व का साधक है, उसी प्रकार 'पटस्य कृतकत्वात्' हेतु भी शब्दगत अनित्यता का साधक बन जयेगा, इस आशंका का समाधान यह है कि व्यधिकरण हेतु को अन्यत्र साध्य का साधक मानने पर 'नटो ब्राह्मणः, चैत्रस्य ब्राह्मणत्वात्' यह हेतु भी नट में ब्राह्मणत्व का साधक होने लगेगा। अतः व्यधिकरण हेतु को साध्यसाधक नहीं माना जा सकता। 'अयं चैत्रः ब्राह्मणः तत्पित्रोर्ब्राह्मणत्वात्' इस अनुमान में तत्पित्रोर्ब्राह्मणत्वात् से 'ब्राह्मणजन्यत्व' हेतु विवक्षित है और वह हेतु पक्ष में रहता है, वे भिन्न अधिकरण में नहीं। अतः उसमें ब्राह्मणत्व का साधक है तथा नट में ब्राह्मणजन्यत्व न होने के कारण वह उसमें ब्राह्मणत्व की सिद्धि नहीं कर सकता। अतः साधारण व्यक्ति के 'पित्रोर्ब्राह्मणत्वात्' ऐसा प्रयोग कर देने पर भी विद्वान् प्रतिभा या ऊह-शक्ति के द्वारा यही समझता है कि यह हेतु पक्षसम्बन्धी है, पक्षासम्बद्ध नहीं। हेतु का पक्ष से सम्बन्ध साक्षात् हो या परम्परया, वह साध्य का साधक होता है। प्रकृत में माता-पिता का साक्षात् ब्राह्मण्य से सम्बन्ध है, और माता-पिता द्वारा परम्परया पुत्र से भी उसका सम्बन्ध है, अतः वह हेतु पक्षरूप पुत्र से सम्बद्ध ही है, असम्बन्द्ध नहीं। अतः असिद्ध हेत्वाभास नहीं।

३. विशेष्यासिद्ध—

जिस हेतु का विशेष्यभाग असिद्ध हो, उसे विशेष्यासिद्ध कहते हैं। अनित्यः शब्दः सामान्यत्वे सति चाक्षुषत्वात्' इस अनुमान में हेतु विशिष्टरूप है। उसके दो अंश हैं—विशेषणांश और विशेष्यांश। प्रकृत उदाहण में हेतु का विशेष्यांश 'चाक्षुषत्व' असिद्ध है। अतः हेतु का विशेष्यरूप असिद्ध होने से यह विशेष्यासिद्धिप्रयुक्त असिद्ध हेत्वाभास है।

४. विशेषणासिद्ध—

जिस विशिष्ट हेतु का विशेषण अंश असिद्ध हो, उसे विशेषणासिद्ध कहते हैं। जैसे—'शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वे सति सामान्यवत्त्वात्'। यह हेतु विशिष्टात्मक है। इस विशिष्ट हेतु का विशेषणांश 'चाक्षुषत्व' शब्द में असिद्ध है, अतः यह विशेषणासिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। श्री वी. पी. वैद्य का कथन है कि चारों उदाहरण स्वरूपासिद्ध के ही विभिन्न प्रतिरूप हैं।[1]

1. These first four instances are mere different shades of one and the same fallacy called स्वरूपासिद्ध — Nyāyasāra, Notes, P. 27

५. भागासिद्ध :

यथा 'शब्दोऽनित्यः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्' शब्द दो प्रकार का होता है—(१) प्रयत्नसाध्य और (२) अप्रयत्नसाध्य। अकारादि वर्णात्मक शब्द प्रयत्नसाध्य होता है और वायूवादि शब्द अप्रयत्नसाध्य। शब्द के अनित्यत्व की सिद्धि के लिये प्रयुक्त 'प्रयत्नसाध्यत्व' हेतु वायूवादि-शब्दों में नहीं है। अतः पक्ष शब्द के एकदेश वायूवादिशब्द में न रहने के कारण प्रयत्नानन्तरीयकत्व भागासिद्ध है।

यद्यपि वायूवादि शब्द भी ईश्वरप्रयत्नसाध्य हैं, अतः भागासिद्धि की उपपत्ति नहीं होती, तथापि प्रयत्न के तीव्रत्व, मन्दत्व के अनुसार शब्द की तीव्रता और मन्दतादि होते हैं। अतः यहाँ 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' से तीव्रत्वमन्दत्वादियुक्त प्रयत्नसाध्यत्व विवक्षित है। ईश्वरप्रयत्न नित्य है, उसमें तीव्रत्वादि धर्म के न होने से वायूवादिशब्द में तीव्रत्वादिधर्मयुक्त प्रयत्नसाध्य हेतु भागासिद्ध ही है।[1] इसी अभिप्राय से 'प्रयत्नसाध्यत्व' से 'जीवप्रयत्नसाध्यत्व'[2] अभिप्रेत है, ऐसा अपरार्क ने कहा है। अथवा ईश्वर का स्वीकार न करने वालों के प्रति यह भागासिद्ध है, क्योंकि उनके मत में वायूवादि शब्द में ईश्वरीयप्रयत्नसाध्यता भी नहीं है।[3]

जयसिंह सूरि ने 'न्यायतात्पर्यदीपिका' में वैशेषिकसम्मत शब्दोत्पत्तिक्रिया का निरूपण करते हुए वर्णात्मक तथा अवर्णात्मक दोनों प्रकार के शब्दों की प्रयत्न से उत्पत्ति बतलाई है। प्रयत्नानन्तरीयकत्व का स्पष्टीकरण करते हुए जयसिंह सूरि ने यह प्रतिपादित किया है कि यह आद्य शब्द में ही होता है; द्वितीय, तृतीय शब्द में नहीं, क्योंकि द्वितीय, तृतीय शब्द शब्दजन्य होते हैं। शब्दधारा का प्रथम शब्द ही प्रयत्नजन्य होता है, द्वितीयादि नहीं। इस प्रकार 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' की समस्त पक्ष में सत्ता न होकर पक्षैकदेश में ही है।[4]

उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि शब्द के प्रयत्नानन्तरीयकत्व के सम्बन्ध में दो मान्यताएं हैं। एक तो वे लोग जो यह मानते हैं कि वर्णात्मक शब्द ही प्रयत्नजन्य होता है, वायु आदि से जनित ध्वन्यात्मक शब्द नहीं। दूसरे लोगों का कहना है कि वायु आदि शब्द भी प्रयत्न से निष्पादित होते हैं, किन्तु शब्द-धारा का प्रथम शब्द ही प्रयत्नसाध्य होता है, द्वितीय, तृतीयादि नहीं। अतः प्रयत्नानन्तरीयकत्व शब्दरूप पक्ष के एकदेश में ही है।

---

1. न्यायभूषण, पृ, ३११
2. अस्यास्मदादिप्रयत्नापेक्षत्वात्।— न्यायमुक्तावली, प्रथम भाग, पृ. २१८
3. न्यायभूषण, पृ. ३११
4. न्यायतात्पर्यदीपिका, पृ. ११५

६ आश्रयासिद्ध

(१) 'आश्रयेणासिद्धः', आश्रयासिद्धः[1] (२) 'आश्रयोऽसिद्धोऽस्येति सः तथोक्तः'[2] अर्थात् जिस हेतु का आश्रय असिद्ध हो, उसे आश्रयासिद्ध कहते हैं। जैसे 'प्रधानमस्ति, विश्वपरिणामित्वात्' अर्थात् प्रधान का अस्तित्व है, विश्वपरिणामित्व के कारण। सांख्यमतानुसार यह विश्व प्रधानात्मक है। सुख, दुःख, मोह स्वभाववाले सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था ही प्रधान अथवा प्रकृति कहलाती है। यहाँ विश्वं परिणामोऽस्य विश्वपरिणामि, तद्भावस्तत्त्वं[3] इस व्युत्पत्ति के द्वारा 'विश्वपरिणामित्व' का समस्त विश्व प्रकृति का परिणाम है यह अर्थ है। 'विश्वपरिणामित्व' हेतु से सांख्य दार्शनिक प्रधान का अस्तित्व सिद्ध करना चाहते हैं। क्योंकि नैयायिकमतानुसार विश्व प्रधान का परिणाम नहीं है, प्रधान और विश्व का सम्बन्ध यथार्थ नहीं है, अतः यह हेतु प्रधान का अस्तित्व सिद्ध नहीं कर सकता। प्रधान के असिद्ध होने से तन्निष्ठ हेतु 'विश्वपरिणामित्व' आश्रयासिद्ध हो जाता है। भासर्वज्ञ ने सांख्यदर्शन से सम्बद्ध अत एव विशेष उदाहरण आश्रयासिद्ध का दिया है। किन्तु इस उदाहरण में 'विश्वपरिणामित्व' साधन की तरह प्रधानास्तित्वरूप साध्य भी अनिश्चित है, अतः एकान्ततः आश्रयासिद्ध का उदाहरण नहीं है। अतः उत्तरवर्ती नैयायिकों ने 'गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात्'[4] यह उदाहरण दिया है।

७. आश्रयैकदेशासिद्ध :

जिस हेतु के आश्रय का एकदेश असिद्ध हो, उसे आश्रयैकदेशासिद्ध कहते हैं। 'नित्याः प्रधानपुरुषेश्वराः, अकृतकत्वात्' इस उदाहरण में पक्षीकृत प्रधानादि का एकदेशभूत प्रधान नैयायिकमतानुसार असिद्ध है, अतः हेतु आश्रयैकदेशासिद्ध है।

८. व्यर्थविशेष्यासिद्ध :

जिस हेतु का विशेष्य भाग व्यर्थ अर्थात् साध्यसाधन में उपयुक्त न हो, उसे व्यर्थविशेष्यासिद्ध कहते हैं। जैसे 'अनित्यः शब्दः, कृतकत्वे सति सामान्यवत्त्वात्।' यहाँ कृतकत्व हेतु से ही शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि है। 'सामान्यवत्त्व' विशेष्य का साध्यसिद्धि में कोई उपयोग नहीं है, अतः वह व्यर्थ है।

९. व्यर्थविशेषणासिद्धि :

यदा 'अनित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सति कृतकत्वात्' यहाँ भी पूर्ववत् सामान्यवत्त्व विशेषण व्यर्थ है, क्योंकि कृतकत्व से ही शब्द की अनित्यता सिद्ध हो जाती है।

1. न्यायतात्पर्यदीपिका, पृ. ११६
2. न्यायमुक्तावली, प्रथम भाग, पृ. २१८
3 न्यायतात्पर्यदीपिका, पृ. ११६
4. तर्कभाषा, पृ. १२५

यद्यपि इन दोनों असिद्धों में असिद्धलक्षण का अभाव होने से यह असिद्ध नहीं है, क्योंकि इनमें विशेष्य व विशेषण का व्यर्थत्व ही दूषण है, न कि हेतु का।[1] तथापि मीमांसक वैयाकरणादि के मत में शब्द में कृतकत्व असिद्ध है, उनकी दृष्टि से इसे असिद्ध कहा गया है।[2] इसलिये अपरार्क ने कहा है 'गुरुमते तु वैयर्थ्य-मेवात्र दूषणम्। अत्रासिद्धित्वं तु नास्ति निश्चितपक्षवृत्तित्वात्। यस्य तु यच्छब्दे कृतकत्वमसिद्धं तं प्रत्यसिद्धत्वमुच्यते'।[3]

१०. सन्दिग्धासिद्ध :

यह एक महत्त्वपूर्ण हेत्वाभास है। धूम व बाष्प के भेद की अनिश्चयदशा में कोई व्यक्ति कहता है 'अग्निमानयं प्रदेशो धूमत्वात्' इति। अर्थात् यह धूम है या भाप—इस प्रकार साधन की अनिश्चयदशा में प्रयुक्त धूमत्त्व हेतु सन्दिग्धासिद्ध कहलाता है। इससे यह अवगत होता है कि निश्चित साधन का ही साध्यसिद्धि के लिये प्रयोग करना चाहिये, अन्य का नहीं। अवयवप्रयोग की दृष्टि से यह दूषित प्रतीत नहीं होता, परन्तु दोष की उत्पत्ति साधनविषयक सन्देह से होती है। वाष्पादि में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से मशकावर्त[1] का ग्रहण होता है।

११. सन्दिग्धविशेष्यासिद्ध :

जिस विशिष्ट हेतु का विशेष्य अंश सन्दिग्ध हो, उसे सन्दिग्धविशेष्यासिद्ध कहते हैं। जैसे 'अद्यापि रागादियुक्तः कपिलः, पुरुषत्वे सति अद्याप्यनुत्पन्नतत्त्व-ज्ञानत्वात्' इति। यहाँ कपिल में 'रागादियुक्तत्व' साध्य है। कपिल में भी कदाचित् रागादिसम्बन्ध संभव है अतः सिद्धसाध्यता के परिहारार्थ प्रतिज्ञावाक्य में 'अद्यापि' पद दिया गया है। पाषाणादि में हेतु की व्यभिचारनिवृत्त्यर्थ 'पुरुषत्वे सति' पद दिया गया है। 'अनुत्पन्नतत्त्वज्ञानात्' यह कहने पर महायोगियों में 'अनुत्पन्नतत्त्व-ज्ञानत्व' के होने पर भी उनकी नीरागता के कारण व्यभिचार हो जायेगा। अतः व्यभिचारनिवृत्ति के लिये हेतु में 'अद्यापि' पद दिया गया है। यहाँ हेतु में अनुत्पन्न-तत्त्वज्ञानत्व' विशेष्य अंश संदिग्ध है, क्योंकि कपिल को तत्त्वज्ञान उत्पन्न हुआ या नहीं, इस संशय के कारण हेतु सन्दिग्धविशेष्यासिद्ध है।

१२. सन्दिग्धविशेषणासिद्ध :

'अद्यापि रागादियुक्तः कपिलः सर्वदा तत्त्वज्ञानरहितत्वे सति पुरुषत्वात्'। तत्त्वज्ञानरहितत्व के कदाचित् रहने पर रागादियुक्तत्व की सिद्धि नहीं होगी, अतः

---

1. न्यायभूषण, पृ. ४११,३१२
2 असिद्धत्वं तु कृतकत्वस्य मीमांसकाभिप्रायेण। - न्यायसारपदपंचिका, पृ. ३८
3. न्यायमुक्तावली, प्रथम भाग, पृ. २१८–२१९
4. वाष्पादीत्यादिशब्देन मशकावर्तस्वीकारः।—न्यायसारपदपंचिका, पृ. ३८.

सर्वदा पद दिया गया है । यहां हेतु का 'सर्वदा तत्त्वज्ञानरहितत्व' विशेषण अंश सन्दिग्ध है, क्योंकि कौन जानता है कपिल सर्वदा तत्त्वज्ञानरहित है अथवा नहीं ?

ये बारह असिद्धभेद जब 'अनित्यः-शब्दः चाक्षुषत्वात्' इत्यादि की तरह वादी-प्रतिवादी दोनों की दृष्टि से असिद्ध हों, तब उभयासिद्ध कहलाते हैं । जब वादी-प्रतिवादी में से एक की दृष्टि से असिद्ध हों, तब अन्यतरासिद्ध कहलाते हैं ।

अन्यतरासिद्ध हेत्वाभास को न मानने वालों का खण्डन

कतिपय दार्शनिक यह मानते हैं कि अन्यतरासिद्ध हेत्वाभास संभव नहीं है । उनका तर्क यह कि प्रतिवादी द्वारा हेतु में असिद्धि की उद्भावना करने पर यदि वादी उसके साधक प्रमाण को नहीं बतलाता है, तब प्रमाणाभाव के कारण उभया-सिद्धि होगी । यदि प्रमाण प्रस्तुत करता है, तब प्रमाण के होने से उभयपक्ष में हेतु सिद्ध होगा । अन्यथा अन्यतरासिद्ध साध्य की कदापि सिद्धि न होने से उसके लिये प्रमाणोपन्यास व्यर्थ हो जायेगा । यदि प्रतिवादी के प्रति प्रमाण द्वारा सिद्ध न बतलाने तक असिद्ध माना जाय, तब असिद्ध गौण हो जायेगा, मुख्य नहीं ।

अपि च, हेत्वाभास निग्रहस्थान है और अन्यतरासिद्ध भी हेत्वाभास होने से निग्रहस्थान है । अन्यतरासिद्ध हेत्वाभासरूप निग्रहस्थान से वादी यदि एकबार निगृहीत हो जाता है, तो निगृहीत का बाद में अनिग्रह समीचीन प्रतीत नहीं होता । निगृहीत होने के पश्चात् तो हेतु का समर्थन ही उचित नहीं, क्योंकि वाद तभी तक चलता है, जब तक कि दोनों में से एक निगृहीत न हो । निग्रहानन्तर वाद ही समाप्त हो जाता है, अतः पश्चात् हेतु-समर्थन का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता ।

समाधान

यदि वादी सम्यक् हेतुत्व को स्वीकार करता हुआ भी उसकी समर्थनपद्धति के विस्मरणादि अथवा प्राश्निकों को प्रतिबोधित करने में समर्थ नहीं होता है और असिद्धता को भी नहीं मानता, तब अन्यतरासिद्ध से ही उसका निग्रह होता है । स्वयं वादी द्वारा स्वीकृत न होने से तथा परमत में प्रसिद्ध होने से ही प्रस्तुत अन्यतरासिद्ध हेतु निग्रहस्थान कहलाता है । कहा भी है—

'यो हि तावत्परासिद्धः स्वयं सिद्धोऽभिधीयते ।
भवेत्तत्र प्रतीकारः स्वतोऽसिद्धे तु का क्रिया ॥[1]
योऽपि तावत् स्वयं सिद्धः परासिद्धोऽभिधीयते ।
भवेत्तत्र प्रतीकारः ततोऽसिद्धोऽभिधीयते ॥'[2]

1. न्यायमुक्तावली, प्रथम भाग, पृ. २२० से उद्धृत ।

2. न्यायतात्पर्यदीपिका, पृ. ११६ से उद्धृत ।

भासर्वज्ञाचार्य के परवर्ती जैनतार्किक प्रभाचन्द्र ने असिद्ध हेत्वाभास के भासर्वज्ञसम्मत विशेष्यासिद्ध, विशेषणासिद्ध, आश्रयासिद्ध, आश्रयैकदेशासिद्ध, व्यर्थविशेषणासिद्ध, व्यधिकरणासिद्ध तथा भागासिद्ध, नामक भेदों का माणिक्यनन्दी द्वारा सूचित असत्सत्ताक नामक असिद्धभेद में[1] तथा सन्दिग्धविशेष्यासिद्ध आदि का अविद्यमाननिश्चय नामक असिद्धभेद में अन्तर्भाव किया है।[2] आचार्य हेमचन्द्र ने असिद्ध के स्वरूपासिद्ध तथा सन्दिग्धासिद्ध ये दो भेद मानकर भासर्वज्ञसम्मत विशेष्यासिद्ध आदि-असिद्धभेदों का वादिसिद्ध, प्रतिवादिसिद्ध तथा उभयासिद्ध इन असिद्धप्रभेदों में अन्तर्भाव किया है।[3]

विरुद्ध हेत्वाभास

सूत्रकार ने विरुद्ध हेत्वाभास का लक्षण 'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः'[4] यह किया है अर्थात् अभ्युपेत (स्वीकृत) सिद्धान्त के विरोधी हेतु को विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं। भाष्यकार ने इसका उदाहरण देते हुए कहा है—'सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति, नित्यत्वप्रतिषेधात्'[5]। यहां हेतु 'नित्यत्वप्रतिषेध' महदादिविकार धर्मलक्षणादि-रूपान्तर में परिवर्तित होते हुए भी सत् होते हैं, क्योंकि उनका सर्वथा विनाश नहीं होता, इस सांख्य-सिद्धान्त का विरोधी होने से विरुद्ध है। तात्पर्य यह है कि सांख्य विकारों को रूपान्तर में परिणामशील मानते हुए भी उन्हें सत् अर्थात् विनाश-रहित मानता है और विनाशराहित्यरूप सत्त्व ही नित्यत्व है, किन्तु 'विकारोऽव्यक्तेऽप्यैति नित्यत्वप्रतिषेधात्' इस अनुमान में नित्यत्वप्रतिषेधरूप हेतु विकारों को अनित्य अर्थात् विनाशी बतलाता हुआ उपर्युक्त स्वीकृत सांख्य-सिद्धान्त का विरोधी है, अतः यह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है। प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान और विरुद्ध हेत्वाभास का पार्थक्य बतलाने के लिये वार्तिककार ने विरुद्ध हेत्वाभास का एक और स्फुट उदाहरण दिया है—'नित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वात्'।[6] यहां उत्पत्तिधर्मकत्व हेतु नित्यत्व के साथ व्याप्त न होकर तद्विपरीत अनित्यत्व से व्याप्त है, क्योंकि उत्पत्तिशील वस्तु अनित्य होती है न कि नित्य। इस प्रकार उत्पत्तिधर्मकत्व हेतु स्वीकृत सिद्धान्त शब्द के नित्यत्व का विरोधी है, अतः विरुद्ध हेत्वाभास है।

1. ये च विशेष्यासिद्धादयोऽसिद्धप्रकाराः परैरिष्टास्तेऽसत् सत्ताकत्वलक्षणासिद्धप्रकारान्नार्थान्तरम्, तल्लक्षणभेदाभावात्।—प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ ६३२-६३३.
2. सन्दिग्धविशेष्यादयोऽप्यविद्यमाननिश्चयतालक्षणातिक्रमाभावान्नार्थान्तरम्।—प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ६३५
3. विशेष्यासिद्धादीनामेष्वेवान्तर्भावः।—प्रमाणमीमांसा, २/१९
'एष्वेव' वादिप्रतिवाद्युभयासिद्धेष्वेव।—स्वोपज्ञवृत्ति, २/१९
4. न्यायसूत्र, १।२।६
5. न्यायभाष्य, १।२।६
6. न्यायवार्तिक, १।२।६

न्यायसूत्रकार, भाष्यकार और वार्तिककार के विरुद्धहेत्वाभास-सम्बन्धी मत के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विरुद्ध हेतु सपक्ष में न रहकर विपक्ष में निश्चित रूप से व्याप्त रहता है, जैसाकि परिशुद्धिकार उदयनाचार्य ने कहा है–'विपर्ययव्याप्तत्वेन निश्चितो हेतुर्विरुद्धो हेत्वाभासः'[1] । विरुद्ध के सौत्रलक्षण की व्याख्या करते हुए जयन्त भट्ट ने कहा है—'सपक्षविपक्षयोर्वृत्त्यवृत्ती हेतोर्लक्षणमुक्तम्, ते यस्य विपर्यस्ते दृश्येते, यः सपक्षे न वर्तते विपक्षे च वर्तते'[2] । अर्थात् सपक्षवृत्तिता तथा विपक्षावृत्तिता हेतु का स्वरूप है, किन्तु इनका जहां वैपरीत्य हो जाता है अर्थात् हेतु में सपक्षावृत्तिता व विपक्षवृत्तिता हो जाती है, वह हेतु साध्यविपरीत वस्तु का साधक होने से विरुद्ध कहलाता है, इस उक्ति के द्वारा साध्यविपरीत अर्थ के साधक हेतु को विरुद्ध बतलाया है तथा सूत्राकार का अभिप्राय इसीमें है, यह बोधन किया है। जयन्तभट्टकृत इस सूत्र-व्याख्या से यह सूचित होता है कि विरुद्ध हेतु में विद्यमान सपक्षवृत्तित्व व विपक्षवृत्तित्व का विपर्यास होता है, किन्तु हेतु के प्रथम स्वरूप पक्षवृत्तित्व की सत्ता इसमें भी रहती है ।

भासर्वज्ञाचार्य ने जयन्तभट्टकृत व्याख्यान का अनुसरण करते हुए न्यायसार में कहा है—'पक्षविपक्षयोरेव वर्तमानो विरुद्धः'[3] अर्थात् जो पक्ष और विपक्ष में रहे तथा सपक्ष में न रहे, उसे, विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं । भासर्वज्ञ ने अपने लक्षण की सूत्रानुसारिता बतलाने के लिये सूत्रगत सिद्धान्ताभ्युपगम का अर्थ साध्यधर्म माना है ।[4] तात्पर्य यह है कि पक्ष में किसी साध्यधर्म को स्वीकार कर जो हेतु उसका विरोधी हो अर्थात् साध्यविरोधी स्वभाव वाला हो, उसे विरुद्ध कहते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि भासर्वज्ञ के अनुसार सूत्र में सिद्धान्ताभ्युपगम द्वारा पक्षसत्त्व सूचित किया गया है । 'पक्षवृत्तित्वे सति विपक्षवृत्तित्वम्' यह विरुद्ध का पूरा लक्षण न्यायसारसम्मत है । विशेषणदल के द्वारा असिद्ध हेतु का निवारण किया है और विशेष्यदल के द्वारा व्यभिचारी हेतु का । इस प्रकार विशेषण और विशेष्य दोनों के द्वारा विरुद्ध का निष्कृष्ट लक्षण प्रस्तुत किया गया है । हेतु में पक्षसत्त्व धर्म का होना दोषाधायक नहीं, किन्तु विपक्षवृत्तित्व अवश्य दोष है । इसीलिये अन्य आचार्यों ने विरुद्ध के लक्षण में साध्याभावव्याप्तत्वमात्र का निवेश किया है ।

वैशेषिक आचार्यों में शिवादित्य की भासर्वज्ञमत से संवादिता प्राप्त होती है । प्रकृत हेत्वाभास के विषय में भी उनकी भासर्वज्ञमत से सहमति है ।[5] केशव मिश्र, अन्नंभट्ट, जगदीश तर्कालंकार आदि परवर्ती प्रकरणग्रन्थकारों ने विरुद्ध हेत्वाभास को विपक्षवृत्ति ही बतलाया हैं ।[6]

---

1. तात्पर्यपरिशुद्धि १।२।६ 2. न्यायमंजरी उत्तरभाग, पृ० १५६

3. न्यायसार, पृ. ७ 4. न्यायभूषण पृ. ३०९ 5. सप्तपदार्थी, पृ. ७४

6. (अ) साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः ।—तर्कभाषा, पृ. १३१.
(ब) साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः ।—तर्कसंग्रह, पृ० ६१
(स) साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः ।— तर्कामृत, पृ० ३१

भासर्वज्ञ ने विरुद्ध के आठ भेद किये हैं। ये भेद सपक्ष की विद्यमानता और अविद्यमानता पर आधारित हैं।[1] सर्वप्रथम सपक्ष की विद्यमानता पर आधारित भेदों का निरूपण किया जा रहा है :—

१. पक्षविपक्षव्यापक :

उदाहरण है—'शब्दो नित्यः कार्यत्वात्'। यहां कार्यत्व हेतु पक्ष शब्द और विपक्ष घटादि में विद्यमान है, किन्तु सपक्ष आत्मादि में कार्यत्व हेतु की सत्ता नहीं है, क्योंकि आत्मादि कार्य नहीं है।

कार्यत्व हेतु के स्वरूप पर इसकी हेत्वाभासता की विधा निर्भर करती है। कार्यत्व पर विचार करते हुए भासर्वज्ञ ने कार्यत्वका का लक्षण 'स्वकारणसमवायः'[2] बतलाया है। इस प्रसंग में भासर्वज्ञ ने उद्योतकर तथा वाचस्पतिमिश्र–सम्मत अनित्यत्व के लक्षण की चर्चा की हैं।[3] तात्पर्य यह है कि यहां कार्यत्व का अर्थ जन्यत्वमात्र मानने पर नित्यत्वाभाववान् विपक्ष प्रध्वंसाभाव में जन्यत्व की सत्ता से यह हेतु अनैकान्तिक हो जाता है। कार्यत्व का अर्थ 'स्वकारणे समवायः' मानने पर विनाशी होने से अनित्य प्रागभावरूप विपक्ष में स्वसमवायिकारण-समवेतत्व का अभाव होने से उसमें कार्यत्व हेतु की वृत्ति न होने से विपक्षव्यापकत्वरूप विरुद्धत्व का अभाव होगा और यह विरुद्ध हेत्वाभास नहीं कहा जायेगा। अतः भूषणकार ने कार्यत्व के दोनों लक्षणों का परित्याग कर उद्योतकर तथा वाचस्पतिमिश्रसम्मत उभयान्तोपलक्षित सत्ता को अनित्यत्व का लक्षण माना है अर्थात् जो प्रागभाव तथा प्रध्वंस दोनों का प्रतियोगी हो, जिसका प्रागभाव व ध्वंस दोनों हो, वह अनित्य कहलाता है। प्रागभाव में प्रागभावप्रतियोगित्व नहीं हैं अर्थात् प्रागभाव का प्रागभाव नहीं होता। अतः वह नित्य है, अतः उसमें कार्यत्व हेतु की सत्ता न होने पर भी हेतु में विपक्ष-व्यापकत्व की अनुपपत्ति नहीं है और प्रध्वंस में प्रागभावप्रतियोगित्व होने पर भी ध्वंसप्रतियोगित्व नहीं है, अतः वह भी अनित्य है, किन्तु नित्य है। अतः उसमें कार्यत्व हेतु के रहने पर भी साध्याभाववद्वृत्तित्वरूप अनैकान्तिकता दोष नहीं है।

२. विपक्षैकदेशवृत्ति पक्ष व्यापक :

यथा—'शब्दो नित्यः सामान्यवत्वे सति अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्'। अर्थात् शब्द नित्य है, क्योंकि सामान्यवान् होता हुआ अस्मदादि की बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य है। द्व्यणुक पृथिव्यादि तथा अन्तःकरणग्राह्य सुखादिरूप विपक्ष में 'सामान्यवत्वे सति अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्व' हेतु के न रहने से यह हेतु विपक्ष व्यापक नहीं, अपितु विपक्षैकदेशवृत्ति है।

---

1. विरुद्धभेदास्तु सपक्षे सत्यसति च भवन्ति।—न्यायतात्पर्यदीपिका, पृ. ११९
2. न्यायभूषण, पृ. ३१३
3. उभयान्तोपलक्षिता सत्तानित्यत्वमित्येके।—न्यायभूषण, पृ. ३१३

परमाणु भी योगिजनों की बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य हैं। 'बाह्येन्द्रियग्राह्यत्व' हेतु की सपक्ष परमाणुओं में सत्ता होने से विरुद्धत्व की निवृत्ति हो जायेगी, अतः इस विरुद्धत्व की उपपत्ति के लिये हेतु के पूर्व 'अस्मदादि'[1] संयोजित है। 'अस्मदादि-बाह्येन्द्रियग्राह्यत्व' नित्य सामान्य में भी हैं, अतः 'सामान्यवत्त्वे सति' पद दिया गया है। सामान्य में सामान्य मानने पर अनवस्था है। अतः सामान्य में सामान्य के न रहने से सामान्य सामान्यवान् नहीं है। अर्हार्थ में कृत्य (ण्यत्) प्रत्यय मानने से ग्राह्यत्व पद से ग्रहणयोग्यत्व अभीष्ट है। 'ग्रहणयोग्यत्व' (अस्मदादिबाह्येन्द्रिय-ग्रहणयोग्यता) सभी शब्दों में होने से हेतु की पक्ष व्यापकता निःसंदिग्ध है।[2]

३. पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति :

'शब्दो नित्यः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्'। 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' का अर्थ है—प्रयत्नसाध्यत्व। पक्षीकृत सभी शब्दों में आद्य शब्द में 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' है। द्वितीय, तृतीय आदि शब्दों में शब्दजन्यत्व के कारण 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' नहीं है। 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' का विपक्ष घटादि में सद्भाव है, परन्तु वनस्पत्यादि में उसकी असत्ता है, अतः पक्ष तथा विपक्ष दोनों के एकदेश में रहने वाले विरुद्ध हेत्वाभास का यह उदाहरण है। वनस्पत्यादि में भी यद्यपि ईश्वरप्रयत्नसाध्यता है, तथापि प्रयत्नसाध्यत्व पद से तीव्रतामन्दतादिधर्मयुक्त प्रयत्नसाध्यता अभिप्रेत है और ईश्वर-प्रयत्न के नित्य होने से उनमें तीव्रतामन्दतादिधर्मयुक्त प्रयत्नसाध्यता नहीं है।

४. पक्षैकदेशवृत्ति विपक्षव्यापक :

—'पृथिवी नित्या, कृतकत्वात्'। परमाणु तथा कार्यभेद से पृथिवी दो प्रकार की है, जैसाकि प्रशस्तपाद ने कहा है—'सा द्विधा नित्या चानित्या च। परमाणु-लक्षणा नित्या कार्यलक्षणात्वनित्या'।[3] परमाणु पृथिवी में कार्यत्व नहीं है और कार्य-रूपा पृथिवी में है, अतः हेतु 'कृतकत्व' पक्षैकदेशवृत्ति है। विपक्षभूत समस्त अनित्यों में कृतकत्व की सत्ता है, अतः सर्वविपक्ष व्यापक है।

इन चारों भेदों में नित्य आत्मादि सपक्ष के होने पर भी हेतु की अविद्यमानता स्पष्ट है।

सपक्ष के अभाव के कारण चार भेद

१. पक्षविपक्षव्यापक :

—'शब्दः आकाशविशेषगुणः प्रमेयत्वात्'। यहां 'आकाशविशेषगुणत्व' साध्य है, जो शब्द के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी नहीं, क्योंकि आकाशविशेषगुण शब्द

1. न्यायतात्पर्यदीपिका, पृ. १२०
2. अर्हत्यर्थे कृत्याभिधानात् ग्रहणयोग्यतामात्रं ग्राह्यत्वमुक्तम्, तेनास्यापि पक्षव्यापकत्वम्। —न्यायभूषण, पृ. ३१४
3. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. १७.

ही है, दूसरा कोई नहीं। अतः प्रमेयत्व हेतु शब्दरूप पक्ष में व्यापक है तथा आकाशविशेषगुणत्वरूप साध्याभाव वाले रूपादि में भी प्रमेयत्व रहता है. अतः यह हेतु विपक्ष का व्यापक भी है। अतः यह हेतु पक्षविपक्ष व्यापक विरुद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि यहां सपक्ष के अभाव के कारण सपक्ष से व्याप्त न होकर विपक्ष से व्याप्त है।

२. पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति :

'शब्दः आकाशविशेषगुणः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्'। शब्द आकाश का विशेषगुण है, प्रयत्नानन्तरीयक होने से। 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' हेतु की पक्षैकदेश प्रथम शब्द में सत्ता है तथा शब्दजन्य अन्य शब्दों में असत्ता है। इसी प्रकार आकाशविशेषगुणत्व के अभाव वाले विपक्ष घटादि में हेतु के अस्तित्व तथा आत्मादिरूप विपक्ष में अनस्तित्व के कारण यह हेतु पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति विरुद्ध हेत्वाभास है।

३. पक्षव्यापकविपक्षैकदेशवृत्ति :

'शब्दः आकाशविशेषगुणः बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्।' अर्थात् शब्द आकाश का विशेष गुण है, बाह्येन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने से। सभी शब्दों के श्रोत्ररूप बाह्येन्द्रियग्राह्य होने से यह हेतु पक्ष व्यापक है तथा घटादि विपक्ष में बाह्येन्द्रियग्राह्यत्व होने से तथा सुखादि विपक्ष में उसके अभाव के कारण हेतु विपक्षैकदेशवृत्ति है।

४. विपक्ष व्यापक तथा पक्षैकदेशवृत्ति :

'शब्दः आकाशविशेषगुणः अपदात्मकत्वात्।' शब्द आकाश का विशेष गुण है. अपदात्मक होने से। शब्द दो प्रकार का होता है—पदात्मक और अपदात्मक। भेर्यादि शब्दों में अपदात्मकत्व हेतु की सत्ता है तथा वर्णात्मक शब्दों में अपदात्मकत्व हेतु की सत्ता नहीं। अतः यह पक्षैकदेशवृत्ति है तथा आकाशविशेषगुणत्व-साध्याभाव वाले सभी विपक्षों में अपदात्मकत्व हेतु की सत्ता होने से यह विपक्ष व्यापक है।

भासर्वज्ञ ने इन आठ विरुद्धभेदों का निरूपण करने के पश्चात् पूर्वपक्ष सम्बन्धी एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है। जो पक्षव्यापक चार हेतु हैं, उन्हें ही वास्तव में विरुद्ध के भेद मानना चाहिये। पक्ष के एकदेश में रहने वालों को असिद्ध (भागासिद्ध) हेत्वाभास का भेद मानना उचित है, क्योंकि पक्ष में रहने वाले हेतु की तीन विधाएं होती हैं—हेतु (सद्धेतु), विरुद्ध तथा अनैकान्तिक। किन्तु जो पक्षैकदेश में रहता है, वह सकलपक्षवृत्ति न होने से विरुद्ध हेत्वाभास नहीं हो सकता।[1]

1. न्यायभूषण, पृ. ३१४

भासर्वज्ञ का कथन है कि यह दोष उचित नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार तुला सुवर्णादि के इयत्ताज्ञान (इयत्तावधारण) का साधन होने से प्रमाण तथा तुलान्तर-परिच्छिन्न द्रव्य द्वारा या प्रत्यक्षतः स्वरूप से ज्ञायमान होने के कारण प्रमेय कहलाता है, उसी प्रकार पक्षैकदेशवृत्ति हेत्वाभास असिद्धलक्षणोक्रान्त होने से असिद्ध तथा विरुद्ध और अनैकान्तिक आदि के लक्षण से युक्त होने से विरुद्ध या अनैकान्तिक भी कहलाता है । अतः एकान्तः भागासिद्ध या विरुद्ध हो, ऐसा नियम नहीं, पक्ष-वृत्ति हेतु सद्धेतु, विरुद्ध या अनैकान्तिक हो, यह नियम नहीं, क्योंकि कालात्यया-पदिष्ट (बाधित) तथा प्रकरणसम् (सत्प्रतिपक्ष) में भी हेतु की पक्षवृत्तिता है[1] ।

प्रथम चार विरुद्धभेद अन्वयव्यतिरेकी हेतु को दृष्टि में रखते हुए किये हैं, जिनमें सपक्ष की सत्ता होती है । द्वितीय चार भेद व्यतिरेकी को ध्यान में रख कर किये हैं, जिनमें सपक्ष की सत्ता नहीं रहती[2] । जैनतार्किक प्रभाचन्द्र[3] और हेमचन्द्र[4] ने भासर्वज्ञसम्मत इन आठ विरुद्धभेदों का सङ्कलन करते हुए स्वसम्मत विरुद्ध में अन्तर्भाव किया है ।

अनैकान्तिक

प्रशस्तपाद ने सन्दिग्ध हेत्वाभास का लक्षण किया है—'यस्तु सन्ननुमेये तत्स-मानासमानजातीययोः साधारणः स सन्देहजनकत्वात् सन्दिग्धः'[5] । जो हेतु पक्षवृत्ति होता हुआ सपक्ष तथा विपक्ष दोनों में रहता है अर्थात् साध्यवान् तथा साध्याभाववान् दोनों में रहता है, वह निश्चित रूप से साध्य का साधक न होकर सन्देहजनक होने से सन्दिग्ध कहलाता है । नैयायिकों के अनैकान्तिक का यही स्वरूप है, संदिग्ध और अनैकान्तिक में संज्ञाभेदमात्र है । बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग ने अनैकान्तिक हेत्वाभास को स्वीकार करते हुए उसको ६ विधाओं का सोदाहरण उल्लेख किया है ।[6] उद्योतकराचार्य ने अनैकान्तिक हेत्वाभास के सूत्राकारकृत 'अनैकान्तिकः सव्य-भिचारः'[7] लक्षण को पर्यायलक्षण बतलाने के पश्चात् प्रशस्तपादकृत लक्षण को भी स्वीकार किया है-'तेषाम्, अनैकान्तिकः सव्यभिचारः । एकस्मिन्नन्ते नियतः ऐकान्तिकः,

---

1. न्यायभूषण, पृ. ३१४
2. Sanghvi, Sukhlal, —Advanced Studies in Indian Logic and Metaphysics, P. 102
3. ये चाष्टौ विरुद्धभेदाः परैरिष्टास्तेऽप्येतल्लक्षणलक्षितत्वाविशेषतोऽत्रैवान्तर्भवन्तीत्युदाह्रियन्ते । प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. ६३६
4. अनेन येऽन्यैरन्ये विरुद्धा उदाहृतास्तेऽपि सङ्गृहीताः ।—प्रमाणमीमांसास्वोपज्ञवृत्ति, २।२०
5. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. ११९–११२
6. न्यायप्रवेश, भाग १, पृ. ३
7. न्यायसूत्र, १।२।५

विपर्ययादनैकान्तिकः । कः पुनरयं व्यभिचारः ? साध्यतज्जातीयान्यवृत्तित्वम् । यत् खलु साध्यतज्जातीयवृत्तित्वे सति अन्यत्र वर्तते तद् व्यभिचारि । तद्वृत्तित्वं व्यभिचारः'[1] । अर्थात् जो हेतु साध्य और तज्जातीयपक्ष और सपक्ष-में रहने के साथ-साथ अन्यत्र विपक्ष में भी रहता हो, उसे सव्यभिचार हेत्वाभास तथा तद्-(विपक्ष) वृत्तित्व को को व्यभिचार कहते हैं । उद्द्योतकराचार्य का अनुसरण करते हुए आचार्य भासर्वज्ञ ने भी अनैकान्तिक का 'पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिरनैकान्तिकः'[2] यह लक्षण किया है । उन्होंने सूत्रकारकृत लक्षण को 'बुद्धिरूपलब्धिः' इस बुद्धिलक्षण की तरह पर्याय माना है[3] । अर्थात् जिस तरह बुद्धिरुपलब्धि......'[4] इस बुद्धिलक्षण में बुद्धि के पर्यायवाची उपलब्धि शब्द का उपादान कर दिया है, वैसे ही 'अनैकान्तिकः सव्यभिचारः' इस अनैकान्तिकलक्षण में भी अनैकान्तिक का स्वरूप न बतलाकर केवल उसके पर्यायवाची सव्यभिचार पद का उपादान कर दिया है । वस्तुतः सव्यभिचार' शब्द साध्यव्यभिचारी अर्थात् साध्याभाव में रहने वाला हेतु अनैकान्तिक है, क्योंकि हेतु एकान्ततः साध्य के साथ रहना चाहिये न कि साध्याभाव के साथ, इस प्रकार हेतु की साध्य के साथ ऐकान्तिकता का अभाव बतलाता हुआ अनैकान्तिक के स्वरूप को स्पष्ट कर देता है, अतः यह केवल पर्यायलक्षण नहीं, अपितु स्वरूपलक्षण है । उदयनाचार्य ने किरणावली भासर्वज्ञोक्त लक्षण की आलोचना की है ।[5]

यद्यपि अनैकान्तिक शब्द के द्वारा केवल साधारण हेतु का लाभ होता है, नव्यनैयायिक सम्मत समस्त अनैकान्तिकपरिवार का नहीं । क्योंकि 'एकस्मिन् अन्ते भवः ऐकान्तिकः' इस व्युत्पत्ति से ऐकान्तिक शब्द साध्य की भाव तथा अभाव दोनों कोटियों में से हेतु की एककोटिवृत्तिता बतला रहा है । अर्थात् साध्य की दो कोटियां मानी जाती हैं-भाव कोटि और अभाव कोटि । साध्य की भाव कोटि के साथ निश्चित रूप से रहने वाला सद्धेतु और साध्य को अभाव कोटि के साथ निश्चितरूप से रहने वाला हेतु विरुद्ध होता है-इन दोनों को ऐकान्तिक कहा जाता है । जो ऐकान्तिक न हो अर्थात् भाव कोटि तथा अभाव कोटि दोनों में रहता हो, उसे अनैकान्तिक कहा जाता हैं । साधारण हेतु भाव-अभाव उभय कोटि में अनुस्यूत होता है, अतः उसे अनैकान्तिक कह सकते हैं । किन्तु असाधारण और अनुपसंहारी को अनैकान्तिक पद से कहना संभव नहीं । तथापि न्यायपरम्परा में अनैकान्तिक से तीनों का ग्रहण किया गया है, जैसाकि तात्पर्यपरिशुद्धि के 'एतेन साधारणासाधारणानुपसंहार्याः संगृहीता इति स्फुटम्'[6] इस वचन से स्पष्ट है । हेतु का भाव तथा

1. न्यायसूत्र, १।२।५
2. न्यायसार, पृ. ७
3. न्यायभूषण, पृ. ३०९
4. न्यायसूत्र १।१।१५
5. तात्पर्यपरिशुद्धि, १।२।५
6. तात्पर्यपरिशुद्धि, १।२।५

अभाव दोनों कोटियों में रहना जिस प्रकार अनैकान्तिकता है, उसी प्रकार दोनों कोटियों से हेतु की व्यावृत्ति भी अनैकान्तिकता है[1]। साधारण अनैकान्तिक में हेतु की भाव व अभाव कोटियों में वृत्तितारूप अनैकान्तिकता है तथा असाधारण व अनुपसंहारी में दोनों कोटियों से व्यावृत्तिरूप अनैकान्तिकता है। 'शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्' इस असाधारण अनैकान्तिक में श्रावणत्व हेतु केवल शब्द में रहने के कारण सपक्ष आत्मादि तथा विपक्ष घटादि इन दोनों कोटियों से व्यावृत्ति है तथा 'सर्वमनित्यं प्रमेयत्वात्' इस अनुपसंहारी में सर्वमात्र के पक्ष होने से प्रमेयत्व हेतु सभी सपक्ष व विपक्ष दृष्टान्तों से व्यावृत्त है, क्योंकि सपक्ष व विपक्ष दृष्टान्त पक्ष भिन्न होते हैं। अतः वहां भी प्रमेयत्व भाव व अभाव दोनों कोटियों से व्यावृत्त है। इतना ही अन्तर है कि असाधारण हेत्वाभास में सपक्ष-विपक्ष दोनों कोटियों के होने पर भी हेतु दोनों कोटियों में नहीं रहता और अनुपसंहारी में सपक्ष विपक्ष कोटि का अभाव होने से वहां हेतु नहीं रहता, क्योंकि सर्वमात्र के पक्ष होने से निश्चितसाध्यवान् सपक्ष तथा निश्चितसाध्याभाववान् विपक्ष का वहां अभाव है।

आचार्य भासर्वज्ञ को अनैकान्तिक के आठ भेद अभिप्रेत हैं। यहां उनका निरूपण किया जा रहा है—

१. पक्षत्रयव्यापक :

यथा—'अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्।' 'प्रमेयत्व' हेतु शब्दरूप पक्ष, घटादिरूप सपक्ष तथा आत्माकाशादिरूप विपक्ष-सभी में विद्यमान है।

२. पक्षव्यापक सपक्ष-विपक्षैकदेशवृत्ति :

जो हेतु पक्ष में सर्वत्र तथा सपक्ष व विपक्ष के एकदेश में रहता है, वह पक्ष-व्यापक सपक्षविपक्षैकदेशवृत्ति अनैकान्तिक है। यथा- 'नित्यः शब्दः प्रत्यक्षत्वात्।' इस अनुमान में प्रत्यक्षत्व हेतु शब्दरूप पक्ष में सर्वत्र रहता है अतः पक्षव्याप है तथा नित्यत्वरूप साध्य वाले सपक्ष के एकदेश आत्मा में रहता है, दिगाकाशादि में नहीं। इसी प्रकार नित्यत्वरूप साध्य के अभाव वाले विपक्ष के एकदेश घटादि में रहता है, न कि द्व्यणुकादि पृथिवी में। अतः सपक्षविपक्षैकदेशवृत्ति है।

यहां प्रत्यक्षत्व से जनसामान्य की इन्द्रिय द्वारा ग्रहणयोग्यतामात्र अभिप्रेत है। अतः वीचीतरंगन्याय से कर्णशष्कुलीप्रदेश में उत्पन्न शब्द से भिन्न पूर्ववर्ती शब्दों के वस्तुतः प्रत्यक्ष न होने पर भी उनमें भी श्रोत्रेन्द्रियग्रहणयोग्यता होने से इस हेतु में पक्षैकदेशवृत्तित्व की प्रसक्ति नहीं तथा सपक्ष कालाकाशादि व विपक्ष द्व्यणुकादि के भी योगिप्रत्यक्ष का विषय होने से इस हेतु में पक्षत्रयव्यापकत्व की भी प्रसक्ति नहीं है, क्योंकि वे योगिप्रत्यक्ष के विषय होने पर भी जनसाधारण की इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य नहीं हैं।

1. अथापीदं स्यादनैकान्तिकलक्षणेन न सर्वोऽनैकान्तिको व्याप्यते यथा असाधारण इति। न, अनेनैव संग्रहात्। कथमिति ? व्यावृत्तिद्वारेणाभिधीयमानोऽयमुभयान्तव्यावृत्तेरनैकान्तिकः।
—न्यायवार्तिक, १।२।५

३. पक्षसपक्षव्यापक विपक्षैकदेशवृत्तिः

यथा—'गौरयं विषाणित्वात्' ।

विषाणी पिण्ड ही यहां पक्ष है और उसमें सर्वत्र विषाणित्व की सत्ता होने से यह हेतु पक्षव्यापक है । समस्त सपक्ष गोपिण्डों में भी विषाणित्व हेतु की सत्ता है । सद्योजात गोवत्स में भी विषाणित्व की योग्यता है. अतः सपक्ष व्यापक है । विपक्ष के एकदेश महिषादि में विषाणित्व की सत्ता है, अश्वादि में नहीं । इसलिये यह विपक्षैकदेशवृत्ति भी है ।

४. पक्षविपक्षव्यापक सपक्षैकदेशवृत्ति :

यथा—'नायं गौर्विषाणित्वात्' ।

यहां भी पूर्ववत् विषाणी पिण्डमात्र पक्ष है, उसमें सर्वत्र विषाणित्व की सत्ता होने से यह हेतु पक्ष व्यापक है । गोत्वाभाव रूप साध्य के अभाव वाले गोमात्र में भी विषाणित्व की सत्ता होने से विपक्ष व्यापक भी है तथा गोत्वाभावरूप साध्य वाले महिषादि में हेतु की सत्ता और अश्वादि में हेतु की सत्ता न होने से यह हेतु सपक्षैकदेशवृत्ति है ।

५. पक्षत्रयैकदेशवृत्ति :

यथा—'नित्या पृथिवी प्रत्यक्षत्वात्' ।

यहां प्रत्यक्षत्व से अयोगीन्द्रियग्राह्यत्व ही अभिप्रेत है । अतः अयोगीन्द्रियग्राह्यत्व-रूप प्रत्यक्षत्व के पक्षभूत परमाण्वादि पृथिवी में, नित्यत्वरूप साध्य वाले दिगादि सपक्ष में तथा नित्यत्वरूप साध्य के अभाववाले अनित्य द्व्यणुकजलादि में न रहने से पक्ष, सपक्ष, विपक्ष तीनों के एकदेश में ही रहता है ।

६. पक्षसपक्षैकदेशवृत्ति विपक्ष व्यापक :

यथा—'द्रव्याणि दिक्कालमनांस्यमूर्तत्वात्' ।

यहां अमूर्तत्व हेतु दिकालमनोरूप पक्ष के एकदेश दिक् व काल में ही रहता है, मन में नहीं तथा द्रव्यत्वरूप साध्यवाले आकाश में ही अमूर्तत्व है, पृथिव्यादि में नहीं । अतः यह पक्षसपक्षैकदेशवृत्ति है और द्रव्यत्वरूप साध्य के अभाव वाले गुणादि में सर्वत्र रहता है । अतः विपक्ष व्यापक है ।

७. पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति सपक्ष व्यापक :

यथा—'न द्रव्याणि दिक्कालमनांसि, अमूर्तत्वात्' ।

इस अनुमान में अमूर्तत्व हेतु दिक्कालमनोरूप पक्ष के एकदेश दिक् व काल में रहता है, मन में नहीं तथा द्रव्यत्वाभावरूप साध्य के अभावरूप द्रव्यरूप विपक्ष

के एकदेश आकाश व आत्मा में रहता है, पृथिव्यादि में नहीं। और द्रव्यत्वाभाव रूप साध्य वाले गुणकर्मादि में सर्वत्र रहता है। अतः सपक्षव्यापक है।

८. सपक्षविपक्षव्यापक पक्षैकदेशवृत्ति :

यथा—'न द्रव्याण्याकाशकालदिगात्ममनांसि, क्षणिकविशेषगुणरहितत्वात्'।

यहां 'क्षणिकविशेषगुणरहितत्व' हेतु आकाश–काल–दिगात्ममनोरूप पक्ष के एकदेश काल, दिक्, मन में रहता है और आकाश तथा आत्मा में नहीं। अतः पक्षैकदेशवृत्ति है। तथा द्रव्यत्वाभावरूप साध्य वाले सपक्ष गुणादि में सर्वत्र रहता है, इसी प्रकार द्रव्यत्वाभाव साध्य के अभाव वाले विपक्ष पृथिवी, जल, तेज, वायु सब में रहता है। अतः सपक्षविपक्ष व्यापक भी है। यहां क्षणिकत्व का अर्थ तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्व है, बौद्धों का निरन्वयविनाशात्मक क्षणिकत्व नहीं।

जैननैयायिक प्रभाचन्द्र[1] तथा हेमचन्द्र[2] ने इन अनैकान्तिक-भेदों का उल्लेख कर स्वसम्मत अनैकान्तिक में अन्तर्भाव माना है। भासर्वज्ञोक्त इन अनैकान्तिकभेदों पर विचार करते हुए श्री वी. पी. वैद्य का मन्तव्य है कि भासर्वज्ञ ने एक सुव्यवस्थित तथा स्वाभाविक पद्धति को अपनाया है। गणितीय विधि से इस हेत्वाभास के संभावित भेदों की परिगणना की है।[3]

अनध्यवसित

भासर्वज्ञ ने सूत्रकारसम्मत पांच हेत्वाभासों से अतिरिक्त प्रशस्तपादसम्मत अनध्यवसित[4] को षष्ठ हेत्वाभास माना है। भासर्वज्ञ को छोड़कर शेष सभी प्राचीन तथा नव्य नैयायिकों ने सूत्रकारोक्त पांच हेत्वाभासों को ही स्वीकार किया है। उनके अनुसार अनध्यवसित सूत्रकारोक्त अनैकान्तिक का ही एक भेद है, जो असाधारण संज्ञा से प्रसिद्ध है। अनध्यवसित का लक्षण न्यायसार में इस प्रकार है—'साध्यासाधकः पक्ष एव वर्तमानोऽनध्यवसितः'।[5] अर्थात् जो हेतु साध्य का साधक न हो तथा केवल पक्ष में ही रहता हो, उसे अनध्यवसित हेत्वाभास कहते हैं। यदि 'पक्ष एव वर्तमानोऽनध्यवसितः'—यह लक्षण किया जाय, तो केवलव्यतिरेकी के भी पक्षमात्रवृत्तित्व के कारण वहां लक्षण की अतिप्रसक्ति हो जायेगी, अतः 'साध्यासाधकः' यह पद दिया गया है। सहचारज्ञान के विरोधी ज्ञान को व्यभिचारज्ञान कहा जाता

---

1 प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, पृ, ६३८.

2. प्रामाणमीमांसास्वोपज्ञवृत्ति, २/२०.

3. Bhasarvajna proceeds in a very systematic way and naturally by considering the position of hetu as to Paxa, Sapaxa, or Vipaxa makes as many divisions of the fallacy as could be made mathematically.

—Nyāyasāra, Notes, P. 29.

4. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. ११४.

5. न्यायसार, पृ. ७.

है। सहचारज्ञान का विरोधी जैसे हेतु में साधारणताज्ञान होता है, वैसे ही असाधारणताज्ञान भी। जो हेतु केवल पक्ष में रहता है, उसको अन्य में सहचारग्रह संभव नहीं। सहचारग्रह का अध्यवसाय या निश्चय न होने के कारण उसे अनध्यवसाय कहा जाता है।

वार्तिककार उद्द्योतकर ने इसे अनैकान्तिक हेत्वाभास का असाधारण नामक भेद माना है।[1] भासर्वज्ञ ने 'न्यायभूषण' में उद्द्योतकरमत को उपन्यस्त कर उसका खण्डन किया है।[2] उद्द्योतकर का कथन है कि जिस प्रकार हेतु की पक्ष-विपक्ष दोनों अन्तो (कोटियों) में वृत्ति व्यभिचार है, उसी प्रकार दोनों अन्तों से उसकी व्यावृत्ति भी व्यभिचार है। जैसे दोनों अन्तों (कोटियों) में हेतु की वृत्तिता के कारण साधारण अनैकान्तिक होता है, उसी प्रकार दोनों अन्तों (कोटियों) में हेतु का वृत्त्यभावरूप व्यभिचार होने पर असाधारण अनैकान्तिक होता है। अतः असाधारण का भी अनेकान्तिक में अन्तर्भाव हो जाने से पृथक् अनध्यवसित हेत्त्वाभास मानने की आवश्यकता नहीं है।

उपर्युक्त उद्द्योतकरपक्ष के प्रति असहमति व्यक्त करते हुए भासर्वज्ञ कहते हैं कि उपर्युक्त रीति से असाधारण का अनैकान्तिक में अन्तर्भाव मानने पर भी विपक्ष के अभाव वाले 'सर्वं कार्यं नित्यजन्मत्वात्, सर्वमनित्यं प्रमेयत्वात्' इत्यादि अनुपसंहारी[3] का अनैकान्तिक में अन्तर्भाव नहीं हो सकेगा। अतः उसे पृथक् हेत्वाभास मानना ही होगा। असाधारण और अनुपसंहारी का प्रकरणसम हेत्वाभास में भी अन्तर्भाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनमें प्रकरणसम के लक्षण का समन्वय नहीं है। उसके लक्षण से रहित असाधारणादि का उसमें अन्तर्भाव मानने पर सभी के प्रकरणसम में अन्तर्भाव की अतिप्रसक्ति हो जायेगी। अतः भासर्वज्ञ का मत है कि 'सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीताः हेत्वाभासाः'[4] यह न्यायसूत्र हेत्वाभासों की पंचत्व संख्या के अवधारण के लिये नहीं, अपितु निदर्शन के लिये है। जिस प्रकार ये पांच हेत्वाभास है, उसी प्रकार हेतुलक्षण रहित तथा हेतु की तरह प्रतीयमान अन्य भी हेतु हेत्वाभास हो सकता है।[5]

---

1. अथापीदं स्यादनैकान्तिकलक्षणेन न सर्वोऽनैकान्तिको व्याप्यते यथा असाधारण इति। न, अनेनैव संग्रहात्। कथमिति? व्यावृत्तिद्वारेणाभिधीयमानोऽयमुभयान्तव्यावृत्तेरनैकान्तिक इति।
—न्यायवार्तिक, १।२।५
2. साध्यव्यभिचारेऽस्यान्तर्भाव इत्येके।......तत्रान्तर्भावे ह्यतिप्रसंगः स्यादिति।
—न्याय. भू. पृ. ३०९
3. एतेन साधारणासाधारणानुपसंहार्याः संगृहीता इति स्फुटम्।
—तात्पर्यपरिशुद्धि, १।२।५
4. न्यायसूत्र, १.२.४.
5. न्यायभूषण, पृ. ३०९.

यद्यपि सद्धेतु पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितविषयत्व व असत्प्रतिपक्षत्व इन पांच रूपों या धर्मों से युक्त होता है। इन पांच रूपों में से प्रत्येक रूप के अभाव से पांच हेत्वाभास होते हैं।[1] जैसे, पक्षसत्त्व धर्म से रहित असिद्ध, सपक्षसत्त्व-धर्म से रहित विरुद्ध, विपक्षासत्त्व धर्म से रहित अनैकान्तिक, अबाधितविषयत्व धर्म से रहित कालात्ययापदिष्ट तथा असत्प्रतिपक्षत्व धर्म से रहित प्रकरण-सम या सत्प्रतिपक्ष। हेतु के इन पांच रूपों का जो क्रम है, उसी क्रम से उन धर्मों से रहित हेत्वाभासों का क्रम अपनाया जाता है, तो असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक कालात्ययापदिष्ट व प्रकरणसम यही हेत्वाभासों का क्रम सिद्ध होता है। अतः इस कारण से हेत्वाभासों का भासर्वज्ञीय क्रम है, यह कहना अधिक उपयुक्त है, तथापि भासर्वज्ञ ने हेत्वाभासों का सूत्रकारक्रम से विपरीत क्रम अपनाने में इस कारण का कथन न कर भिन्न कारण का जो उल्लेख किया है, उसमें यही कारण है कि वह अनध्यवसित हेत्वाभास को पृथक् मानकर छः हेत्वाभास मानता है और ६ हेत्वाभास मानने पर पंचविध हेतु-स्वरूपों के क्रम के अनुसार तत्तत् हेतुस्वरूप-रहित हेत्वाभासों का भी क्रम है, यह कथन उपपन्न नहीं होता।

भासर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य सभी नैयायिकों ने अनध्यवसितकी स्वतन्त्र हेत्वाभासता का खण्डन किया है और इसका अनैकान्तिक में समावेश किया है। न्याय-वैशेषिक दर्शन के प्रायः सभी प्रकरणग्रन्थकारों ने इसे अनैकान्तिक का असाधारण नामक भेद माना है। भासर्वज्ञ ने साधारण अनैकान्तिक को अनैकान्तिक माना है और असाधारण तथा अनुपसंहार्य का अनध्यवसित में समावेश किया है। श्री बी. पी. वैद्य का कहना है कि हेत्वाभासों में यह कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं है।[2]

अनध्यवसित हेत्वाभास के भासर्वज्ञकृत ६ भेदों की समीक्षा करते हुए जयसिंह सूरि ने कहा है कि वह अविद्यमानसपक्षविपक्षता, विद्यमानपक्षविपक्षता तथा अविद्यमानविपक्षविद्यमानसपक्षता भेद से मुख्यतया तीन प्रकार का है। किन्तु वे तीनों भेद पक्ष के समस्त देश में वृत्तिता तथा एकदेश में वृत्तिता भेद से दो प्रकार के हैं, अतः अनध्यवसित हेत्वाभास ६ प्रकार का हो जाता है।[3]

---

1. लिङ्गम् पञ्चलक्षणम्। कानि पुनः पञ्चलक्षणानि, पक्षधर्मत्वं, सपक्षधर्मत्वं, विपक्षाद् व्यावृत्तिरबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चेति, एतैः पञ्चभिर्लक्षणैरुपपन्नं लिङ्गमनुमापकं भवति। एतेषामेव लक्षणानामेकैकापायात् पञ्च हेत्वाभासाः। —न्यायमंजरी, पूर्वभाग, पृ. १०९.

2. As it is, it is not a very important addition in the हेत्वाभासाः।

—Nyayasāra, Notes. p. 30.

3. अनध्यवसितस्त्रेधा अविद्यमानसपक्षविपक्षतया विद्यमानसपक्षविपक्षतया अविद्यमानविपक्षविद्यमानसपक्षतया च। त्रिविधोऽपि पक्षसर्वैकदेशव्याप्तिभ्यां पुनर्द्वेधा। एवं भेदाः षट् भवन्ति।

—न्यायतात्पर्यदीपिका, पृ. १२६.

असाधारण तथा अनुपसंहारी में 'पक्षत्रयवृत्तिरनैकान्तिकः' इस अनैकान्तिकलक्षण का समन्वय न होने से 'नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् शब्दत्ववत्' इस असाधारण तथा 'सर्वमनित्यं प्रमेयत्वात्' इस अनुपसंहारी हेतु में हेत्वाभासता की उपपत्ति के लिये भासर्वज्ञ ने अनध्यवसित नामक षष्ठ हेत्वाभास माना है और उसका 'साध्यासाधकः पक्ष एव वृत्तिरनध्यवसितः' यह लक्षण किया है। इस लक्षण का असाधारण तथा अनुपसंहारी दोनों में समन्वय है। क्योंकि असाधारण के उदाहरण में हेतु 'श्रावणत्वात्' शब्दमात्र पक्ष में रहता है, अतः वह शब्द में नित्यतारूप साध्य को सिद्ध करने में असमर्थ है, कम से कम पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व व विपक्षासत्त्व इन तीन रूपों से उपपन्न हेतु ही साध्य का साधक होता है। अनुपसंहारी में भी प्रमेयत्व हेतु पक्षमात्रवृत्ति है, क्योंकि वहां सर्वमात्र के पक्ष होने से तथा विपक्ष दृष्टान्त के न मिलने से सपक्ष व विपक्ष में हेतु की वृत्तिता नहीं है। अतः ये दोनों अनध्यवसितलक्षणाक्रान्त होने से अनध्यवसित हेत्वाभास हैं।

समीक्षा

अनध्यवसित का पृथक् हेत्वाभासत्व अनुपपन्न है। क्योंकि जैसे हेतु का सपक्ष व विपक्ष दोनों में रहना व्यभिचार है, उसी प्रकार सपक्ष-विपक्ष दोनों से व्यावृत्ति अर्थात् न रहना भी व्यभिचार है। अतः सपक्षविपक्षावृत्ति पक्षमात्रवृत्ति असाधारण व अनुपसंहारी भी अनैकान्तिक-लक्षण का समन्वय होने से अनैकान्तिक ही हैं। इस प्रकार हेत्वाभासों की पंचता के उपपन्न होने से सूत्रकार का भी कोई विरोध नहीं होता।

अनध्यवसितभेदनिरूपण

भासर्वज्ञ ने अनध्यवसित के छः भेद किये हैं। यहां उनका निरूपण किया जा रहा है।

१. अविद्यमानसपक्षविपक्ष, पक्षव्यापक :

यथा—'सर्वमनित्यं सत्त्वात्। यहां सत्त्व हेतु सर्वरूप पक्ष का व्यापक है, क्योंकि सभी पदार्थ सत् है। सपक्ष व विपक्ष पक्षभिन्न होते हैं, यहां सभी पदार्थों के सर्वरूपपक्षान्तर्गत होने से तद्भिन्न सपक्ष विपक्ष की सत्ता नहीं है। अतः यह हेतु अविद्यमानसपक्षविपक्ष है।

२. अविद्यमानसपक्षविपक्ष, पक्षैकदेशवृत्ति :

यथा—'सर्वमनित्यं कार्यत्वात्'। इस अनुमान में कार्यत्व हेतु सर्वरूपपक्षान्तर्गत घटपटादि में ही रहता है, आकाशादिद्रव्य तथा सामान्यादि पदार्थों में नहीं रहता, अतः पक्षैकदेशवृत्ति है। कार्यत्व हेतु की अविद्यमानसपक्षविपक्षता पूर्ववत् है।

३. विद्यमानसपक्षविपक्ष पक्षव्यापक :

यथा—'अनित्यः शब्दः आकाशविशेषगुणत्वात्'। शब्द का अनित्यत्व यहां साध्य है। अनित्य घटादिरूप सपक्ष तथा नित्य आत्मादि विपक्ष यहां विद्यमान हैं। अतः आकाशविशेषगुणत्व हेतु विद्यमान सपक्ष विपक्ष वाला है तथा सभी शब्द आकाश-विशेष-गुण हैं। अतः उसका पक्षव्यापकत्व भी स्फुट है।

४. विद्यमानसपक्षविपक्ष, पक्षैकदेशवृत्ति :

यथा—'सर्वं द्रव्यमनित्यं क्रियावत्त्वात्'। पक्षीकृत समस्त द्रव्यों के एकदेश आकाशादि में क्रियावत्त्व का अभाव होने के कारण यह हेतु पक्षैकदेशवृत्ति है। द्रव्यों से अन्यत्र इसका अभाव है, अतः यह असाधारण है। यहां अनित्यत्व साध्य है, अतः निश्चित अनित्यत्व वाले गुणकर्म सपक्ष हैं। तद्विपरीत नित्यत्व धर्म वाले सामान्य, विशेष, समवाय विपक्ष हैं।

५. अविद्यमानविपक्ष विद्यमानसपक्ष पक्षव्यापक :

यथा—'सर्वकार्यं नित्यमुत्पत्तिधर्मकत्वात्'। यहां नित्यत्व साध्य है, तदभाववान् अनित्य घटादि विपक्ष हैं, किन्तु वे सभी कार्य होने से पक्षकोटिनिक्षिप्त हैं और विपक्ष पक्ष से भिन्न होता है, अतः यहां विपक्ष का अभाव है। नित्यत्वरूप साध्यवान् आकाशादि सपक्ष हैं, वे पक्षान्तर्गत नहीं है, क्योंकि वे कार्य नहीं हैं। अतः हेतु विद्यमान सपक्ष वाला है। सभी कार्यों के उत्पत्ति धर्म वाला होने से यह हेतु पक्षव्यापक है।

६. अविद्यमानविपक्ष विद्यमानसपक्ष पक्षैकदेशवृत्ति :

यथा—'सर्वं कार्यं नित्यं सावयवत्वात्'। इस अनुमान में सावयवत्व हेतु में अविद्यमानविपक्षता तथा विद्यमानसपक्षता पूर्ववत् है तथा कार्य शब्द तथा बुद्ध्यादि में सावयवत्व के अभाव से यह हेतु पक्षैकदेशवृत्ति है।

यहां 'सावयवत्व' का अर्थ 'अवयवेन सह वर्तते, तस्य भावः' इस व्युत्पत्ति से प्रतीयमान है। अवयवसाहित्य का अर्थ कुछ लोगों ने अवयवारब्धत्व किया है, जिसका तात्पर्य परिणामवाद और विवर्तवाद की व्यावृत्ति करते हुए आरम्भवाद का ग्रहण करना है। साथ ही बौद्ध-अवयवसंघात की व्यावृत्ति करना भी है। किन्तु यहां अवयव शब्द नैयायिकों की अपनी परिभाषा के अनुसार एकदेशमात्रपरक न होकर समवायिकारण का बोधक है। अतः सावयवत्व का अर्थ है-अवयवसमवेतत्व। परमाणुसमूह के प्रत्येक परमाणु को वैसे ही समूह का अवयव कहा जाता है, जैसे कि तण्डुलराशि के प्रत्येक तण्डुल को अवयव। किन्तु वह अवयव समवायिकारणात्मक नहीं, अपितु, वन में वृक्ष के समान एकदेशमात्ररूप है। इस प्रकार अवयवसमवेतत्व अर्थ मानने पर सौत्रान्तिक-संघातवाद में सामयवत्व की अतिप्रसक्ति

नहीं होती तथा आरम्भवाद का ग्रहण होने से परिणामवाद व विवर्तवाद की व्यावृत्ति भी हो जाती है।

भासर्वज्ञ ने अविद्यमानसपक्ष विद्यमानविपक्ष पक्षाव्यापक का कालात्ययापदिष्ट में और अविद्यमानसपक्ष विद्यमानविपक्ष पक्षैकदेशवृत्ति का भागासिद्ध में अन्तर्भाव मान कर उन दोनों को अनध्यवसित हेत्वाभास का पृथक् भेद नहीं माना है। किन्तु विरुद्ध हेत्वाभास के पक्षैकदेशवृत्ति चार भेदों के असिद्ध कोटि में आने पर भी विरुद्धलक्षणाक्रान्त होने से पूर्वोक्त तुलादृष्टान्त से उभयव्यवहारयोग्य बतलाकर उन्हें जैसे विरुद्ध का भेद भी मान लिया है, उसी प्रकार अनध्यवसित के लक्षण की उपपत्ति से उपर्युक्त दो भेद अनध्यवसित के भी क्यों नहीं मान लिये जाते, पूर्वपक्ष के इस अभिप्राय को ध्यान में रखते हुए भासर्वज्ञ का कहना है कि उपर्युक्त दो भेदों को अनध्यवसित मानने में उन्हें इष्टापत्ति ही है। यदि ये दोनों भेद अनध्यवसित हैं, तो उसके भेदों में उनका परिगणन क्यों नहीं किया, इस आशंका समाधान करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि अनध्यवसित के समस्त उदाहरणों के परिगणन की प्रतिज्ञा नहीं की है।[1]

कालात्ययापदिष्ट

महर्षि गौतम ने 'कालात्ययापदिष्टः कालातीतः'[2] अर्थात् कालात्यय से अपदिष्ट हेतु कालात्यय के कारण कालातीत कहलाता है, यह कालात्ययापदिष्ट का लक्षण किया है। भाष्यकार ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि अपदिश्यमान जिस हेतु का अर्थैकदेश कालात्यय से युक्त हो, वह कालात्ययापदिष्ट अर्थात् कालातीत कहलाता है।[3] जैसे—'नित्यः शब्दः संयोगव्यङ्ग्यत्वात् रूपवत्' इस अनुमान में 'संयोगव्यङ्ग्यत्व' हेतु कालातीत है, क्योंकि इस हेतु का एकदेश संयोग कालात्यय से युक्त है। तात्पर्य यह है कि यहां मीमांसक घटप्रदीपसंयोग से व्यङ्ग्य रूप के दृष्टान्त से भेरीदण्डसंयोगव्यङ्ग्य शब्द में नित्यता सिद्ध करना चाहते हैं। अर्थात् अभिव्यक्ति से पूर्व तथा उत्तरकाल में विद्यमान रूप की जिस प्रकार घटप्रदीपसंयोग से अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार अभिव्यक्ति से पूर्व तथा उत्तरकाल में विद्यमान शब्द की भी भेरीदण्डसंयोग से अभिव्यक्तिमात्र होती है, वह भेरीदण्डसंयोग से उत्पन्न नहीं होता। अभिव्यक्ति से पूर्व तथा उत्तरकाल में भी वह रहता है, अतः नित्य है। किन्तु नैयायिकों का कथन है कि संयोगव्यङ्ग्यत्व हेतु रूपदृष्टान्त से शब्दनित्यत्व को सिद्ध करने में असमर्थ है, क्योंकि घटप्रदीपसंयोगकाल में ही रूप का ग्रहण होता है, पूर्वकाल व उत्तरकाल में नहीं। अतः उसे संयोगव्यङ्ग्य माना जा सकता है, किन्तु शब्दोपलब्धि भेरीदण्डसंयोग की निवृत्ति हो जाने पर भी

1. अनध्यवसितभेदावेतौ भवेताम्, कृत्स्नोदाहरणस्य चाऽप्रतिज्ञातत्वात्।
—न्यायभूषण, पृ. ३१६.

2. न्यायसूत्र, १।२।९.

3. न्यायभाष्य, १।२।९.

दूरस्थ पुरुष के द्वारा होती है। अतः शब्दोपलब्धि मे दण्डसंयोगकाल का अतिक्रमण कर जाती है। अर्थात् शब्दनित्यत्वसिद्धि के लिये अपदिश्यमान संयोगव्यङ्ग्यत्व हेतु में विशेषणतया उपात्त संयोगरूप एकदेश शब्दोपलब्धिकाल का अतिक्रमण कर जाता है, क्योंकि शब्दोपलब्धिकाल में संयोग नहीं है। अतः यह हेतु कालातीत होने से शब्दनित्यत्व को सिद्ध नहीं कर सकता। वार्तिककार ने भाष्यकारोक्त व्याख्या का ही स्पष्टीकरण किया है। किन्तु वाचस्पति मिश्र ने भाष्यकारोक्त व्याख्यान का विवेचन करते हुए कहा है कि जिस अपदिश्यमान हेतु का अर्थैकदेश कालात्यय से युक्त हो, यह भाष्यकार का व्याख्यान स्वपरमतसंश्लिष्ट है अर्थात् इस व्याख्यान में स्वमत तथा परमत दोनों का संश्लिष्ट विवेचन है। भाष्यकार द्वारा प्रदत्त उदाहरण परमत व्याख्यानुसार है,[1] जिसका विवेचन पहिले किया जा चुका है। स्वमतानुसार व्याख्यान में अर्थशब्द से धर्मविशिष्ट धर्मी का ग्रहण है, क्योंकि अपदिश्यमान हेतु से धर्मविशिष्ट धर्मी की सिद्धि अभिप्रेत है और उसका एकदेश साध्यरूप धर्म है। उसका काल साध्यसन्देहकाल है, क्योंकि अनुमान की प्रवृत्ति सन्दिग्ध अर्थ में ही होती है, निर्णीत अर्थ में नहीं। किन्तु साध्यरूप धर्म का वह संशयकाल बलवान प्रमाण के द्वारा साध्याभाव का निश्चय करा देने से साध्य में सन्देह न रहने से अतिक्रान्त हो जाता है। इस प्रकार भाष्यकार के 'अपदिश्यमानस्य यस्य हेतोरर्थैकदेशः कालात्ययेन युक्तः स कालात्ययापदिष्टः कालातीतः' इस वचन का अपदिश्यमान हेतु के धर्मविशिष्ट धर्मीरूप अर्थ का एकदेश साध्यरूप धर्म प्रत्यक्षादि बलवान् प्रमाण के द्वारा साध्याभाव का निश्चय हो जाने से अपने साध्यसंशयरूप काल का अतिक्रमण कर जाता है, अतः उसे कालात्ययापदिष्ट कहते हैं, यह स्वमतानुसार व्याख्यान है। इसका स्वमतानुसार उदाहरण 'अग्निरनुष्णः द्रव्यत्वात्' है। इस अनुमान में द्रव्यत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट है। यहां द्रव्यत्व हेतु से अग्नि में अनुष्णत्व सिद्ध करना है, क्योंकि अग्नि में अनुष्णत्वरूप साध्य का सन्देह है, किन्तु बलवान् स्पार्शन प्रत्यक्ष द्वारा अग्नि में उष्णत्वनिश्चय द्वारा अनुष्णत्वसाध्य के सन्देह की निवृत्ति हो जाने से इस हेतु के साध्यसन्देहरूप काल का अतिक्रमण हो चुका है। अतः कालातीत होने से यह हेतु अग्नि मे अनुष्णत्व सिद्ध नहीं कर सकता।

'भारतीय दर्शन में अनुमान' में डॉ. ब्रजनारायण शर्मा का यह कथन[2] कि भाष्यकार और वार्तिककार ने कालातीत हेतु के काल का निर्धारण नहीं किया और केवल वाचस्पति मिश्र ने इस कालनिर्धारण का प्रयास किया है, समुचित नहीं।

1. भाष्यकारः सूत्रं स्वपरमतश्लिष्टं व्याचष्टे-कालात्ययेन संशयकालात्ययेन युक्तो यस्य हेतोरपदिश्यमानस्यार्थैकदेशः...। परमते च कालात्ययेन युक्तो यस्य हेतोरर्थरूप एकदेशो हेतुविशेषणमिति यावत्, स कालात्ययापदिष्ट इति योजना। परमतेनैव निदर्शनमाह—निदर्शनमिति।
—न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १/२/९.

2. भारतीय दर्शन में अनुमान, पृ. ३४५.

क्योंकि भाष्यकार और वार्त्तिककार ने अपदिश्यमान संयोगव्यङ्ग्यत्व हेतु का एकदेश संयोग शब्दोपलब्धिकाल का अतिक्रमण कर जाता है यह कहकर काल का स्पष्ट निर्धारण कर दिया है। अन्तर इतना ही है कि भाष्यकार ने जो उदाहरण दिया है, वह परमत व्याख्यानुसार है, अतः उस उदाहरण के अनुसार उपलब्धिकाल का निर्देश किया है तथा वाचस्पति मिश्र ने कालात्ययापदिष्ट की स्वमतव्याख्यानुसार अनुष्णत्व-साधक द्रव्यत्व हेतु साध्यसंशयकाल का अतिक्रमण कर जाता है, इस कथन द्वारा साध्यसंशयकाल को काल माना है। यह भेद केवल व्याख्याभेद पर निर्भर है।

न्यायमंजरी में प्रकृत हेत्वाभासविवेचन का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि जयन्त ने कालात्ययापदिष्ट को भाष्यकार तथा वार्तिककारकृत परमतानुसारी व्याख्या के अनुसार प्रस्तुत संयोगव्यंग्यत्व हेतु को असिद्ध हेत्वाभास की कोटि में निक्षिप्त कर कालात्ययापदिष्ट की परमतानुसारी व्याख्या का निराकरण किया है[1] तथा प्रत्यक्ष अथवा आगम से अबाधित पक्ष का परिग्रहकाल ही हेतु का प्रयोगकाल है, उस प्रयोगकाल का अतिक्रमण कर प्रत्यक्ष अथवा आगम से बाधित विषय में वर्तमान हेतु कालातीत कहलाता है, इस रूप से स्वमतानुसारिणी व्याख्या ही प्रस्तुत की है। जयन्त के इसके दो भेद माने हैं—

१. प्रत्यक्षविरुद्ध :

'उष्णो न तेजोऽवयवी कृतकत्वात् घटवत्' इस उदाहरण में सौरादि तेज का उष्णत्व स्पार्शन प्रत्यक्ष से सिद्ध है, अतः उसका अनुष्णत्वसाधक कृतकत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट अर्थात् बाधित है।

२. आगमविरुद्ध :

'ब्राह्मणेन सुरा पेया द्रवत्वात् क्षीरादिवत्' इस उदाहरण में द्रवत्व हेतु द्वारा साध्य ब्राह्मण सुरापान के—

"सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते।
तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥"[2]

इस आगम प्रमाण द्वारा बाधित होने से बाधित है और साध्य के बाधित होने से उसका साधक हेतु भी बाधित कहलाता है।

प्रस्तुत विवेचन से यह स्पष्ट है कि कालातीत हेत्वाभास का वाचस्पतिमिश्र तथा जयन्त भट्ट के द्वारा निरूपित स्वरूप न्यायमतानुसारी है। भाष्यकार द्वारा प्रस्तुत

1. अपरे आहु—"सविशेषणस्य हेतोः प्रयुज्यमानस्य यस्य विशेषणं कार्यकालमत्येति न तत्पर्यन्तमवतिष्ठते स कालात्ययापदिष्ट इति..." एतदपि न संगतमसिद्धत्वेनास्य हेत्वाभासान्तरत्वानुपपत्तेः। — न्यायमंजरी उत्तरभाग, पृ० १६७.

2. न्यायसारपदपञ्चिका से उद्धृत, पृ. ४६.

परमतानुसारी निदर्शन (नित्यः शब्दः संयोगव्यङ्ग्यत्वात्) में 'संयोगव्यङ्ग्यत्व' हेतु का गौतमोक्त पांच हेत्वाभासों में साध्यसम (असिद्ध) नामक हेत्वाभास में अन्तर्भाव हो जाता है। इसीलिये वाचस्पतिमिश्र ने कहा है- "स पुनरयमसिद्धविशेषणतया साध्यसम एवेति न पृथग्वाच्य इति स्थूलतया एव दोषो भाष्याकारेण नोद्भावितः"।[1]

आचार्य भासर्वज्ञ को भी कालातीत हेत्वाभास का जयन्तभट्टसम्मत स्वरूप ही अभीष्ट है। इसीलिये उन्होंने न्यायसार में इसका 'प्रमाणबाधिते पक्षे वर्तमानो हेतुः कालात्ययापदिष्टः'[2] यह लक्षण दिया है। अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित साध्य वाले पक्ष में वर्तमान हेतु कालात्ययापदिष्ट होता है। यहां पक्ष से 'सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः' इस परिभाषा के अनुसार सन्दिग्ध साध्यवान् धर्मी का ग्रहण है। सन्दिग्धसाध्यवान् धर्मी का उपन्यासकाल ही हेतु का प्रयोगकाल होता है, क्योंकि सन्दिग्धसाध्यवान् पक्ष में सन्दिग्ध साध्य की सिद्धि ही हेतुप्रयोग का प्रयोजन है। उस पक्षवृत्ति साध्य का बाध यदि प्रत्यक्षादि प्रमाण से हो जाता है, तो पक्ष के सन्दिग्धसाध्यवान् न होने से उस काल में प्रयुक्त हेतु प्रयोगकाल का अत्यय हो जाने पर अपदिष्ट होने से कालात्ययापदिष्ट कहलाता है। अर्थात् साध्य का काल तब तक रहता है, जब तक कि पक्ष में साध्य की सिद्धि या बाध न हो। साध्य की सिद्धि हो जाने पर निर्दिष्ट हेतु को सिद्धसाधन और पक्ष में साध्य का बाध हो जाने पर प्रयुक्त हेतु को बाधित या कालात्ययापदिष्ट कहा जाता है।

श्री वी. पी. वैद्य का कथन है कि कालात्ययापदिष्ट बाधित अथवा बाध कैसे होता है, यह उनके समझ में नहीं आता। कालात्ययापदिष्ट के अन्तर्गत भासर्वज्ञ बाधित का उदाहरण देते हैं, यह और भी अधिक दुर्बोधता का कारण बन जाता है।[3] श्री वैद्य के इस विचार से यही व्यक्त होता है कि उन्होंने जयन्त भट्ट तथा वाचस्पति मिश्र के प्रकृत हेत्वाभाससम्बन्धी व्याख्यान का अवलोकन नहीं किया है। अन्यथा ऐसी आशंका नहीं करते। क्योंकि तात्पर्यटीका में वाचस्पतिमिश्र ने इस हेत्वाभास की स्वमतपरक व्याख्या में 'स हि धर्मिणि बलवता प्रमाणेन तद्विपरीतधर्मनिर्णयं कुर्वता संशयकालमतिपातितः......'[4] इस वाक्य में बलवान् प्रमाण द्वारा बाध बतला कर इसकी बाधित संज्ञा को सूचना दी है। 'हेतुप्रयोगकालमतीत्य यो हेतुरपदिश्यते, स कालात्ययापदिष्टः,' 'हेतोः प्रयोगकालः प्रत्यक्षागमानुपहतपक्षपरिग्रहसमय एव तमतीत्य प्रयुज्यमानः प्रत्यक्षागमबाधिते विषये वर्तमानः कालात्ययापदिष्टो भवति'[5] अर्थात्

1. न्यायतात्पर्यटीका, पृ. १/२/९.
2. न्यायसार, पृ. ७.
3. I fail to see how this is the same as बाधितः or बाधः of the later writers. I am even much more perplexed to see, that Bhasarvajña gives more instances of बाधितः under the heading of कालात्ययापदिष्टः.

—Nyayasara, Notes. p. 32.

4. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १/२/९.
5. न्यायमञ्जरी, उत्तरभाग, पृ. १६७.

हेतुप्रयोगकाल का अतिक्रमण कर जिस हेतु का कथन किया जाता है, वह कालात्ययापदिष्ट है। प्रत्यक्ष तथा आगम प्रमाण से अबाधित साध्यविशिष्ट पक्ष का परिग्रह-काल ही हेतु का प्रयोगकाल है। अतः प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा बाधित साध्यविषयक हेतु हेतुप्रयोगकाल का अतिक्रमण करने से कालात्ययापदिष्ट कहलाता है, इस रीति से जयन्त भट्ट ने भी कालात्ययापदिष्ट का अर्थ बाधित है, यह स्पष्ट कर दिया है। इसीलिये तदनुसारी भासर्वज्ञ ने कालात्ययोपदिष्ट व बाधित के एक होने से बाधित का उदाहरण कालात्ययापदिष्ट के उदाहरण रूप से प्रस्तुत किया है।[1] बाधिक संज्ञा का स्पष्ट उल्लेख न करने पर भी बलवान् प्रमाण द्वारा बाध बतलाकर इन आचार्यों ने इसकी बाधित संज्ञा के लिये अपनी अभ्यनुज्ञा दी है। पंचरूपोपपन्न हेतु के अबाधितविषयत्व का यह व्याघात (बाध) करता है, अतः इसकी बाधितविषय संज्ञा उचित है। इसीलिये परवर्ती ग्रन्थकारों ने इसे कालात्ययापदिष्ट के अतिरिक्त बाधित-विषय, बाध अथवा बाधित संज्ञा भी दी है।[2] कालात्ययापदिष्ट का भासर्वज्ञसम्मत अर्थ उनके द्वारा दिये गये प्रथम उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है।

आचार्य भासर्वज्ञ ने इस हेत्वाभास के जयन्तभट्टकृत तीन भेदों के अतिरिक्त ३ भेद और किये हैं। वे ६ भेद इस प्रकार हैं—

१ प्रत्यक्षविरुद्ध
२. अनुमानविरुद्ध
३. आगमविरुद्ध
४. प्रत्यक्षैकदेशविरुद्ध
५. आगमैकदेशविरुद्ध
६. अनुमानैकदेशविरुद्ध

१. प्रत्यक्षविरुद्ध :

जिस हेतु का विषय (साध्य) प्रत्यक्ष प्रमाण से अपहृत हो, उसे प्रत्यक्षविरुद्ध कालात्ययापदिष्ट कहते हैं।[3] यथा–'अनुष्णोऽयमग्निः कृतकत्वात्'। अग्न्यादि में स्पार्शन प्रत्यक्ष से उष्णत्व सिद्ध होता है और अनुष्णत्व के साधक अनुमान से उष्णत्वसाधक प्रत्यक्ष प्रमाण ज्येष्ठ व उपजीव्य होने से अधिक बलवान् है।

२. अनुमानविरुद्ध :

जैसे–'अनित्याः परमाणवः मूर्त्तत्वात्'। यद्यपि केवल अनुमान से अनुमान का बाध संभव नहीं होता, तथापि प्रत्यक्ष से अनुमानबाध की तरह बलवान् अनुमान द्वारा दुर्बल अनुमान का बाध संभव है। प्रकृत में परमाणुसाधक प्रबल अनुमान से

1. न्यायसार, पृ. ११.
2. (अ) तर्कभाषा, पृ. ३९३.
   (ब) तर्कामृत, पृ० ३०.
   (स) तर्कसंग्रह, पृ० ६६.
   (द) न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. २७२.
3. न्यायभूषण पृ. ३१६.

परमाणु का नित्यत्व सिद्ध है, अतः परमाणु के अनित्यत्व का साधक मूर्तत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट अर्थात् बाधित है। परमाणु के नित्यत्व का साधक परमाण्वनुमान ही है, वह बलवान् इसलिये है कि परमाणुसाधक अनुमान का अप्रामाण्य मानने पर प्रकृत अनुमान में अनित्यत्व के आश्रय धर्मी परमाणु का ही अभाव होने से मूर्तत्व हेतु आश्रयासिद्ध हो जायेगा। यदि परमाणुसाधक अनुमान का प्रामाण्य स्वीकार किया जाय, तो वही परमाणु के नित्यत्व का भी साधक है। अतः अनित्यत्व-साधक मूर्तत्वानुमान उससे बाधित हो जायेगा। परमाणुसाधक अनुमानवाक्य इस प्रकार है—अणुपरिमाण का तारतम्य कहीं विश्रान्त होता है, परिमाण का तारतम्य होने के कारण, महत्परिमाण के तारतम्य की तरह। अतः जैसे महत्परिमाण के तारतम्य की विश्रान्ति आकाशादि में है, उसी प्रकार अणुपरिमाण के तारतम्य की विश्रान्ति जहां होती है, उसे ही परम अणु होने के कारण परमाणु कहते हैं। उसको नित्य मानने पर उससे भी अधिक अणुपरिमाण के होने से अणुपरिमाण की विश्रान्तिधामरूप से परमाणु की सिद्धि नहीं होगी। अतः परमाणुसाधक अनुमान ही परमाणु के नित्यत्व का भी साधक है।

३. आगमविरुद्ध :

'ब्राह्मणेन पेयं सुरादि, द्रवद्रव्यत्वात्, क्षीरवत्।'

यहां 'द्रवद्रव्यत्व' हेतु द्वारा साध्यमान ब्राह्मणकर्तृक सुरापान—

"गौडी माध्वी च पैष्टी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
यथैवैका न पातव्या तथा सर्वा द्विजोत्तमैः॥
सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते।
तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्॥"[1]

इस आगम प्रमाण द्वारा सिद्ध ब्राह्मणकर्तृक सुरापाननिषेध से बाधित है। यहां पानमात्र साध्य नहीं है, अपितु पेय सुरा का पान ब्राह्मण के लिये पाप का कारण नहीं होता, यह साध्य है। क्षीरादिपान में भी अपापनिमित्तत्व केवल आगम से ही ज्ञेय है, न कि प्रत्यक्ष व अनुमान प्रमाण से। अतः अपने अविषयभूत ब्राह्मणकर्तृक सुरापान की अपापनिमित्तता में प्रवृत्त अनुमान ब्राह्मणकर्तृक सुरापान के पापनिमित्तत्व-बोधक आगम से बाधित हो जाता है। आत्मा के रूपरहितत्व तथा व्यापकत्व का क्रमशः आत्मा के आदित्यवर्णरूप रूपवत्त्व तथा अंगुष्ठमात्रत्वरूप परिमितत्व के बोधक 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्,'[2] 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषः'[3] इत्यादि आगमों से बाधित नहीं होता, क्योंकि उसका तात्पर्य आत्मा के ज्ञानमयत्वादि के बोधन में है न कि आदित्यवर्णत्वरूप रूपवत्त्वादि के बोधन में और आत्मा के रूपरहितत्व व व्यापकत्व

1. न्यायसारपदपञ्चिका से उद्धृत, पृ. ४६.
2. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ३/८.
3. वही, ३/१३

के अनुमान का स्वार्थ में तात्पर्य है, अतः अनुमान यहां आगम से बलवान् है। प्रमाणों में स्वार्थपरत्व तथा अन्यार्थपरत्व ही उनके बलाबलत्व का नियामक है।

४. प्रत्यक्षैकदेशविरुद्ध :

'सर्वं तेजोऽनुष्णम् रूपित्वात्'। इस अनुमान में रूपित्व हेतु से साध्यमान सकल तेजोनिष्ठ अनुष्णत्व सकल तेजोद्रव्य के एकदेश सौरादि तेज में स्पार्शन प्रत्यक्ष से सिद्ध होने से प्रत्यक्षैकदेशविरुद्ध है।

५. अनुमानैकदेशविरुद्ध :

'नित्याश्रयाः सर्वे द्रवत्वरूपरसगन्धस्पर्शा नित्या अप्रदेशवृत्तिसमानजात्यारम्भकत्वे सति परमाणुवृत्तित्वात् तद्गतैकत्वादिवत्'।

संयोग, विभाग समानजातीय गुण के आरम्भक और परमाणु में समवेत होते हैं, अतः हेतु की उनमें अतिव्याप्ति के निवारणार्थ अप्रदेशवृत्ति दिया गया है। अनेकत्व संख्या असमानजातीय परिमाण की आरम्भक होती है। जैसे, द्व्यणुकगत त्रित्व संख्या द्व्यणुक के अणुत्वजातीय परिमाण से भिन्न त्रसरेणुगत महत्त्वपरिमाण को उत्पन्न करती है। अतः उसकी व्यावृत्ति के लिये 'समानजात्यारम्भकत्व' दिया गया है। इस अनुमान से साध्य नित्यत्व नैमित्तिक द्रवत्व, पाकज रूपादि के उत्पाद्यत्व-हेतुक अनित्यत्वानुमान से विरुद्ध पड़ता है, सांसिद्धिक द्रवत्व, अनादि परमाणुरूपादि के नित्यत्व का किसी अनुमान से विरोध नहीं है। अतः यह अनुमानैकदेशविरुद्ध का उदाहरण है।

६. आगमैकदेशविरुद्ध :

यथा-'सर्वेषां देवर्षीणां शरीराणि पार्थिवानि, शरीरत्वादस्मदादिशरीरवत्।

वरुण, आदित्य, वायु आदि कतिपय देवों के शरीर जलीय, तैजस तथा वायवीय सुने जाते हैं। अतः सभी देवर्षियों के शरीरों के पार्थिवत्व का साधक प्रकृत अनुमान आगमैकदेशविरुद्ध है।

प्रकरणसम

सूत्रकार ने 'यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः'[1] यह प्रकरणसम का लक्षण किया है। भाष्यकार ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि संशय के विषय, अनिर्णीत पक्ष व प्रतिपक्ष 'प्रक्रियते साध्यत्वेनाधिक्रियते' इस व्युत्पत्ति से प्रकरसम कहलाते हैं। संशय से लेकर निर्णय से पूर्व तक तत्त्वानुपलब्धि के कारण उस पक्ष-प्रतिपक्षरूप प्रकरण का संशय जिस हेतु से बना रहता है, उस हेतु का यदि निर्णयार्थ प्रयोग किया गया है, तो उसे प्रकरणसम कहते हैं।[2] जैसे-'शब्दो नित्योऽनित्यधर्मानुपलब्धेः,' 'शब्दोऽनित्यो नित्यधर्मानुपलब्धेः इन अनुमानप्रयोगों

1. न्यायसूत्र, १।२।७ 2. न्यायभाष्य, १।२।१

में नित्यत्व व अनित्यत्व के निर्णायक किसी विशेष धर्म की अनुपलब्धि व अनित्यत्व का संशय बना रहता है, अतः उस संशय का प्रवर्तक विशेषधर्मानुपलम्भ अर्थात् अनित्यधर्मानुपलब्धि तथा नित्यधर्मानुपलब्धि हेतु प्रकरणसम है।[1] भासर्वज्ञ ने इसी आधार पर पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व-इन तीन रूपों से युक्त जो हेतु पक्ष व प्रतिपक्ष की सिद्धि में सम है अर्थात् किसी एक पक्ष की सिद्धि नहीं करता, उसे प्रकरणसम कहा है।[2] जैसे उपर्युक्त अनुमान में विशेषधर्मानुपलम्भरूप हेतु प्रकरणसम है, क्योंकि वहां दोनों हेतुओं में शब्द में नित्यत्व व अनित्यत्व के निर्णायक किसी विशेष धर्म की उपलब्धि नहीं है। उपर्युक्त दोनों अनुमानों में प्रयुक्त दोनों हेतु शब्द में विशेषधर्मानुपलम्भ को ही व्यक्त कर रहे हैं। अतः वस्तुतः हेतु विशेषधर्मानुपलम्भरूप एक ही है, जो कि पक्ष व प्रतिपक्ष में अर्थात् शब्दानित्यत्व तथा शब्दनित्यत्व दोनों में समान है, दोनों को सिद्ध करता है।

इन पांच प्रकार के हेत्वाभासों से भिन्न विरुद्धाव्यभिचारी भी हेत्वाभास है। मीमांसक तथा दिङ्नाग[3] प्रभृति बौद्ध दार्शनिकों ने इसे माना है। एकधर्मी में त्रैरूप्य के कारण समान लक्षण वाले दो विरुद्ध हेतुओं का संनिपात विरुद्धाव्यभिचारी हेत्वाभास है। जैसे- नित्यमाकाशममूर्तद्रव्यत्वात् आत्मवत्, अनित्यमाकाशमस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यगुणाधारत्वात्'[4] इन अनुमानों में एक ही आकाशरूप धर्मी में नित्यत्व तथा अनित्यत्व के साधक पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व व विपक्षासत्त्वरूप त्रैरूप्य के कारण तुल्य लक्षण वाले 'अमूर्तद्रव्यत्व' तथा 'अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यगुणाधारत्व'-इन दो विरुद्ध हेतुओं का संनिपात है। अतः यह विरुद्धाव्यभिचारी है। प्रकरणसम में दो विरुद्ध हेतु नहीं होते, किन्तु एक ही होता है जो पक्ष-प्रतिपक्ष को सिद्ध करता है, किन्तु विरुद्धाव्यभिचारी में दो विरुद्ध हेतुओं का संनिपात है और दोनों में अव्यभिचारिताज्ञान है। अतः वह प्रकरणस से भिन्न है। प्रशस्तपादाचार्य ने इसके स्वरूप का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि इसमें दो विरुद्ध हेतुओं के संनिपात से यह साध्य में संशय का उत्पादक है, अतः यह सन्दिग्ध हेत्वाभास का एक भेद है, ऐसा कतिपय दार्शनिक मानते हैं, किन्तु वह सन्दिग्ध नहीं, अपितु असाधारण होने से अनध्यवसित हेत्वाभास है।[5]

बौद्ध आचार्य दिङ्नाग को यह अनैकान्तिक के एक प्रभेद रूप में अभीष्ट है, क्योंकि उन्होंने अनैकान्तिक के भेदों को प्रदर्शित करते हुए 'विरुद्धाव्यभिचारी, यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्। नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति।'[6] यह

1. न्यायमञ्जरी, उत्तर भाग, पृ. १५८-५९.
2. स्वपक्षपरपक्षसिद्धावपि त्रिरूपो हेतुः प्रकरणसमः। —न्यायसार, पृ. ७.
3. अनैकान्तिकः षट्प्रकारः... ५, विरुद्धाव्यभिचारी चेति। — न्यायप्रवेश, भाग १, पृ. ३.
4. न्यायसार, पृ. १२.
5. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. १९२.
6. न्यायप्रवेश, भाग १, पृ. ४-५.

विरुद्धाव्यभिचारी का उदाहरण दिया है। धर्मकीर्ति ने विरुद्धाव्यभिचारी को प्रमाण-सिद्ध न होने से असम्भव माना है।[1] न्यायमंजरीकार जयन्तभट्ट ने विरुद्धाव्यभिचारी अनैकान्तिक का भेद है, इसका निराकरण किया है। विरुद्धाव्यभिचारी हो चाहे कथंचित् संशय का जनक हो, किन्तु संशयजनकत्व अनैकान्तिक का लक्षण नहीं, अपितु पक्षद्वयवृत्तित्व है और पक्षद्वयवृत्तिता विरुद्धाव्यभिचारी में नहीं है, अतः उसे अनैकान्तिक का भेद नहीं माना जा सकता। संशयजनकत्व को अनैकान्तिक का लक्षण मानने पर इन्द्रिय के भी 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्याकारक संशय था जनक होने से उसमें लक्षण की अतिप्रसक्ति होगी।[2]

विरुद्धाव्यभिचारी की हेत्वाभासत्वाशंका

यद्यपि विरुद्धाव्यभिचारी को हेत्वाभास नहीं मानना चाहिये, क्योंकि यदि एक ही व्यक्ति इन दो पृथक्-पृथक् अनुमानों का प्रयोग करता है, तो एक ही धर्मी में दो विरुद्ध धर्मों का प्रतिपादन करने के कारण वह उन्मत्त कहलायेगा। यदि यह कहा जाय कि दो वादी एक साथ उपर्युक्त दोनों अनुमानों का प्रयोग करते हैं, एक वादी नहीं, तो एक साथ प्रयोग करने के कारण इनसे अर्थप्रतिपत्ति नहीं होगी। यदि यह कहा जाय कि दो वादी ही पृथक्-पृथक् अनुमानों का प्रयोग करते हैं, वह भी एक साथ नहीं, क्रमशः करते हैं, अतः उपर्युक्त दोषों की आशंका नहीं हो सकती। तथापि दूसरे अनुमान का प्रयोग करने वाले को प्रथम अनुमान में दुष्टत्वज्ञान है अथवा अदुष्टत्वज्ञान? यदि दुष्टत्वज्ञान है, तो उसे अव्यभिचारी नहीं कहा जा सकता और अदुष्टत्वज्ञान है, तो प्रथम अनुमान के अदुष्ट होने से उससे सिद्ध साध्य के विषय में द्वितीय अनुमान का उत्थान नहीं हो सकता। अतः विरुद्धाव्यभिचारी की हेत्वाभासता नहीं बन सकती।

शंकानिरास

इसका समाधान करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि जिस व्यक्ति को दोनों अनुमानों में किसी एक पक्ष के साधक विशेष धर्म का अभिमान न होने से सन्देह है और किसी एक पक्ष का निश्चय नहीं है, ऐसे व्यक्ति के प्रति दोनों अनुमान अव्यभिचारी हैं और परस्पर विरुद्ध भी हैं। ऐसे व्यक्ति की अपेक्षा से यह हेत्वाभास है। जैसे, अन्यतरासिद्ध एक के मत में असिद्ध होते से उसी की अपेक्षा से

1. विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः। स इह कस्मान्नोक्तः? (न्यायबिन्दु, ३।११०) सत्यम्। उक्तं आचार्येण। मया त्विह नोक्तः कस्मादित्याह—'अनुमानविषयेऽसम्भवात्।' (न्यायबिन्दु, ३।१११)—धर्मोत्तरप्रदीप, पृ. २२४–२२५.

2. विरुद्धाव्यभिचारिणो वा यथा तथा संशयहेतुतामधिरोप्य कथ्यतामनेकान्तिकता न तु संशयजनकत्वं तत् (अनेकान्तिक)-लक्षणम्, इन्द्रियादेरपि तज्जनकत्वेन तथाभावप्रसक्तेरपि तु पक्षद्वयवृत्तित्वमनैकान्तिकलक्षणम्। असाधारणविरुद्धाव्यभिचारिणोः कथञ्चित् संशयहेतुत्वेऽपि पक्षद्वयवृत्त्यभावान्नानेकान्तिकवर्गेऽन्तर्भावः।—न्यायमंजरी, उत्तरभाग, पृ. १५६.

हेत्वाभास है. दूसरे की अपेक्षा से नहीं । दूसरे अनुमान का प्रयोग करने वाले प्रतिवादी को वादी द्वारा प्रयुक्त प्रथम अनुमान में दुष्टत्वज्ञान या अदुष्टत्वज्ञान है, इस विकल्प द्वारा इस हेत्वाभास के निराकरण का प्रयास निरर्थक है, क्योंकि साध्य-सिद्धि के लिये प्रयुक्त प्रथम अनुमान के बाद प्रतिवादी जो द्वितीय अनुमान का प्रयोग करता है, वह प्रथम हेतु में अविशेषताप्रदर्शनार्थ है. प्रथम हेतु की दुष्टता बतलाने के लिये नहीं । तात्पर्य यही है कि वादी ने शब्द में नित्यत्व को सिद्ध करने के लिये अमूर्तद्रव्यत्वरूप हेतु का प्रयोग किया । इसके बाद प्रतिवादी ने अनित्यत्वसाधक 'अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वरूप' दूसरे हेतु का प्रयोग किया । वह पूर्व हेतु के दुष्टत्व का बोधन करने के लिये नहीं, अपितु जैसे प्रथम हेतु 'अमूर्तद्रव्य' शब्द में नित्यत्व सिद्ध करता है, तो दूसरा 'अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्व' हेतु उसमें अनित्यत्व सिद्ध कर सकता है । अतः शब्द में नित्यत्व व अनित्यत्व का निश्चय नहीं हो सकता । इस प्रकार दोनों ही हेतुओं में से किसी भी व्यभिचारिता का ज्ञान नहीं है । अतः अव्यभिचारी हैं और दोनों हेतु परस्पर विरुद्ध भी हैं । अतः इनकी विरुद्धाव्यभिचारिता उपपन्न हो जाती है । दोनों हेतुओं में अव्यभिचारिता प्रतिपत्ता के अभिप्राय से है कि उसे किसी भी हेतु में व्यभिचारिता प्रतिपत्ता का ज्ञान नहीं है । वस्तुतः आकाशसाधक अनुमान के द्वारा ही आकाश में नित्यत्व का निश्चय है, अतः दोनों हेतुओं में अव्यभिचारिता नहीं है, केवल नित्यत्वसाधक हेतु में ही है ।

भासर्वज्ञ ने उपर्युक्त रीति से विरुद्धाव्यभिचारी की हेत्वाभासता सिद्ध की है ।[1] यद्यपि न्यायमंजरीकार जयन्त भट्ट ने विरुद्धाव्यभिचारी के हेत्वाभासत्व का प्रत्याख्यान किया है । उनका अभिप्राय यह है कि 'प्रत्यक्षो वायुः स्पर्शवत्त्वाद् घटवत्', 'अप्रत्यक्षो वायुररूपत्वादाकाशवत्' यह विरुद्धाव्यभिचारी का उदाहरण है, क्योंकि यहां एक ही वायुरूप धर्मी में प्रत्यक्षत्व या अप्रत्यक्षत्व के साधक स्पर्शवत्त्व व अरूपत्व इन दो विरुद्ध धर्मों का संनिपात है । किन्तु वायु में जब स्पार्शन प्रत्यक्ष के द्वारा प्रत्यक्षत्व सिद्ध है, तब उसमें अनुमान के द्वारा प्रत्यक्षत्व या अप्रत्यक्षत्व की सिद्धि सर्वथा असंगत है । तथा इन दोनों में एक हेतु अवश्य ही अप्रयोजक है, क्योंकि वस्तु में द्वैरूप्य संभव नहीं और हेतुओं से वायु में द्वैरूप्य की सिद्धि की जा रही है । अपि च, यदि वादी ने किसी वस्तु को सिद्ध करने के लिये हेतु का प्रयोग किया है, तो प्रतिवादी को उस हेतु के गुण या दोष पर विचार करना चाहिये, न कि विरुद्ध हेतु के उपन्यास द्वारा उसमें संशयोत्पादन या अविशेषता का उत्पादन । अतः साध्यसाधक दो विरुद्ध हेतुओं का समावेश संभव नहीं, क्योंकि उन दोनों में से एक अवश्य व्यभिचारी है, अतः दोनों हेतुओं का एकत्र समावेश तथा दोनों की अव्यभिचारिता के असंभव से विरुद्धाव्यभिचारी की हेत्वाभासता संभव नहीं ।[2] तथापि इस तरह विरुद्धाव्यभिचारी की हेत्वाभासता का निराकरण करने

1. न्यायभूषण, पृ. ३२०

2. न्यायमंजरी, उत्तर भाग, पृ. १५६.

पर 'नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेः आकाशवत्,' 'अनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेर्घटवत्' यह प्रकरणसम हेत्वाभास भी अनुपपन्न है, क्योंकि शब्दरूपी धर्मी द्रव्यात्मक नहीं हो सकता और प्रकरणसम भी विरुद्धाव्यभिचारी की तरह द्रव्यात्मकता बतला रहा है, तथापि जैसे प्रकरणसम हेत्वाभास उस प्रमाता के प्रति है, जो कि शब्द में कृतकत्वादि विशेष धर्म के अपरिज्ञान से शब्द में अनित्यत्वरूप धर्म का निश्चय करने में असमर्थ है उसी प्रकार विरुद्धाव्यभिचारी भी उसी पुरुषविशेष के प्रति है तो आकाश में आत्मा की तरह व्यापकत्वरूप धर्मविशेष के अज्ञान से उसमें नित्यत्वसाधन करने में असमर्थ है। अतः विरुद्धाव्यभिचारी की हेत्वाभासता अक्षुण्ण है। किन्तु वह एक तरह से प्रकरणसम का ही नामान्तर है, इसीलिये जयन्त भट्टने 'यद्येवंविधस्य प्रकरणसमस्य विरुधाव्यभिचारीति नाम क्रियते तदपि भवतु इति'[1] इस उक्ति के द्वारा विरुद्धाव्यभिचारी को प्रकरणसम का ही नामान्तर बतलाया है। प्रकरणसम में एक ही हेतु होता है और विरुद्धाव्यभिचारी में दो विरुद्ध हेतु होते हैं, यह भेद भी अकिंचित्कर है, क्योंकि भासर्वज्ञोक्त प्रकरणसम के उदाहरण में समान हेतु के होने पर भी 'नित्यः शब्दः अनित्यधर्मानुपलब्धेः आकाशवत्', 'अनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेर्घटवत्' इस उपर्युक्त प्रकरणसम के उदाहरण में दो ही हेतु हैं, न कि एक। ऐसा मानने पर 'एकत्र तुल्यलक्षण-विरुद्धहेतुद्वयोपनिपातो विरुद्धव्यभिचारीत्येके'[2] इस पाठ का यही आशय मानना होगा कि कतिपय विद्वान् प्रकरणसम को ही विरुद्धाव्यभिचारी मानते हैं। यदि इसको प्रकरणसम से भिन्न माना जायेगा, तो हेत्वाभास की षड्विधता का भंग होगा। अतः भासर्वज्ञ को विरुद्धाव्यभिचारी की हेत्वाभासता अभीष्ट होते हुए भी उसका प्रकरणसम से पार्थक्य अभिप्रेत नहीं है।

उदाहरण

अनुमानवाक्य के पांच अवयवों में उदाहरण का विशिष्ट स्थान है। न्याय-भाष्यकार ने उदाहरण की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है—'असत्युदाहरणे केन साधर्म्यं वैधर्म्यं वा साध्यसाधनमुपादीयेत? कस्य वा साधर्म्यवशादुपसंहारः प्रवर्तेत?'[3] अर्थात् उदाहरण के न होने पर किस के साथ साध्यसाधक साधर्म्य अथवा वैधर्म्य का उपादान किया जायेगा? किसके साधर्म्य से पक्ष में उपनय तथा निगमन द्वारा हेतु और साध्य का उपसंहार होगा? न्यायसूत्रकार महर्षि गौतम ने उदाहरण का लक्षण किया है—'साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्'।[4] 'उदाह्रियतेऽनेनेति उदाहरणम्'

1. न्यायमंजरी, उत्तर भाग, पृ १६०.
2. न्यायसार, पृ. १२
3. न्यायभाष्य, १/१/३९
4. न्यायसूत्र, १/१/३६

इस करण व्युत्पत्ति से करण कारक का परिग्रह होने से उदाहरण वचनात्मक है, क्योंकि करण कारक वचनात्मक होता है, जब के दृष्टान्त अर्थात्मक है। अर्थ और शब्द का सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता, अतः न्यायसूत्र में उदाहरण के लक्षण में दृष्टान्त और उदाहरण का सामानाधिकरण्य उचित नहीं है. इस शंका का समाधान करते हुए वार्तिककार ने कहा है कि यहां दृष्टान्त का वचन के विशेषणरूप में उपादान अभिप्रेत है। अर्थात् दृष्टान्तरूप अर्थ उदाहरण नहीं है, अपितु 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः यथा महानसे' इत्याकारक दृष्टान्तवचन उदाहरण है। स्वतन्त्र दृष्टान्त उदाहरण नहीं है, इसीलिये वार्तिककार ने सौत्रलक्षण का परिष्कार करते हुए कहा है—'साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावित्वे सति अभिधीयमान इतिः।[1] अर्थात् वह्निरूप साध्य वाले पर्वतरूप धर्मी में वह्निरूप साध्य वाले महानस का वचन उदाहरण है। वार्तिककार के समाधान का विशदीकरण करते हुए वाचस्पति मिश्र ने भी यही निष्कर्ष प्रस्तुत किया हैं—'तेन तादृशदृष्टान्तेनोपलक्षितं तद्विषयं वचनमुदाहरणम्।'[2] वार्तिककार के समाधान को ध्यान में रखते हुए भासर्वज्ञाचार्य ने भी उदाहरण का तदनुसार निर्दुष्ट लक्षण किया है—'सम्यग्दृष्टान्ताभिधानमुदाहरणम्'।[3]

न्यायसूत्र में दृष्टान्त और उदाहरण के सामानाधिकरण्य के उपपादन के लिए भासर्वज्ञ ने दो समाधान प्रस्तुत किये हैं।[4] प्रथम समाधान वार्तिककार आदि पूर्वाचार्यों की रीति के अनुसार है। अभिधीयमान का अध्याहार करने पर सामानाधिकरण्य हो जाता है अथवा अभिधीयमान के स्थान पर वचन का अध्याहार करके भी सामानाधिकरण्य सम्पन्न किया जा सकता है। द्वितीय समाधान का आशय यह है कि अन्य शास्त्रों में 'दृष्टान्त उदाहरणम्' इस रूप से दृष्टान्त तथा उदाहरण का अभेद-व्यवहार प्रसिद्ध है। इस व्यवहार को उपपत्ति के लिए यहां भी उपचारतः 'दृष्टान्तः उदाहरणम्' ऐसा कह दिया है। उपचार का प्रयोजन यह है कि दृष्टान्त के गुण-दोषों से ही उदाहरणवाक्य में गुणदोषवत्ता सिद्ध होती है। अवयव अनुमानवाक्य के एकदेश होते हैं और उदाहरण भी अवयव होने के कारण अनुमानवाक्य का एकदेश है, दृष्टान्तरूप अर्थ वाक्य का एकदेश नहीं हो सकता। अतः दृष्टान्त उदाहरण नहीं, किन्तु महानसादि अर्थरूप दृष्टान्त का वचन ही मुख्यतया उदाहरण है।[5]

उदाहरणलक्षण में प्रयुक्त 'सम्यक्' विशेषण पर विचार करते हुए भासर्वज्ञ का कथन है कि 'दृष्टान्ताभिधानमुदाहरणम्' यह कहने पर भी उदाहरणाभासों का निराकरण हो जाता है, क्योंकि वे दृष्टान्तवचन नहीं होते, तथापि अव्याप्त्यभिधानादि

1. न्यायवार्तिक, १/१/३६
2. तात्पर्यटीका, १/१/३६
3. न्यायसार, पृ. १२
4. न्यायभूषम, पृ. ३२१
5. न्यायभूषण, पृ. ३२१

वचनदोषों की निवृत्ति के लिये सम्यक् शब्द का ग्रहण है।[1] जैसे अनित्यं मनोमूर्तत्वात् घटवत्' इस अनुमान में 'घटवत्' दृष्टान्त 'यन्मूर्तं तदनित्यम्' इस व्याप्ति का अभिधान करने में असमर्थ है, क्योंकि वति प्रत्यय या तो क्रियासाम्य में या षष्ठ्यन्त या सप्तम्यन्त से होता है। 'यथा घटः' इत्याकारक दृष्टान्तवचन से 'यन्मूर्तं तदनित्यम्' इस व्याप्ति की स्पष्ट प्रतीति हो जाती है। अतः 'घटवत्' इत्याकारक दृष्टान्तवचन को व्याप्ति का अभिधान न करने के कारण उदाहरणाभास कहा है।

उदाहरण दो प्रकार का होता है — साधर्म्योदाहरण तथा वैधर्म्योदाहरण। न्यायसूत्रकार ने 'साध्यसाधर्म्यात् तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्' द्वारा उसके द्वैविध्य की सूचना दी है। उदाहरण को निदर्शन शब्द से व्यवहृत करते हुए प्रशस्तपाद ने भी इसके दो प्रकार बतलाये हैं।[2] अन्वयी दृष्टान्त का कथन साधर्म्योदाहरण कहलाता है। जैसे—'अनित्यः शब्दस्तीव्रादिधर्मोपेतत्वात्। यद्यत्तीव्रादिधर्मोपेतं तत्तदनित्यं दृष्टम्, यथा सुखादि।'[3] व्यतिरेकमुखेन दृष्टान्त का कथन वैधर्म्योदाहरण कहलाता है। जैसे—'यदनित्यं न भवति न तत्तीव्रादिधर्मोपेतम् यथाकाशम्'।[4]

सूत्रोक्त उदाहरणलक्षण में 'साध्यसाधर्म्यात्' में पंचमी विभक्ति के प्रयोग पर विचार करते हुए भासर्वज्ञ कहते हैं कि अनित्य दृष्टान्त अन्य कारण से उत्पन्न होते हैं, न कि साध्यसाधर्म्य से और नित्य दृष्टान्त की उत्पत्ति का प्रश्न नहीं उठता। साध्यसाधर्म्य से दृष्टान्त की ज्ञप्ति भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रमाण से अथवा साधनान्तर से ज्ञात होता है। अतः उत्पत्ति व ज्ञप्ति दोनों पक्षों में 'साध्यसाधर्म्यात्' में पंचम्यर्थ अनुपपन्न है।[5] इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि सूत्रकार ने यहां दृष्टान्त का विशेष लक्षण दिया है। दृष्टान्त के सामान्य लक्षण का कथन तो 'लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः'[6] इस सूत्र द्वारा पहले ही बतला दिया गया है। यहां दृष्टान्त के सामान्य लक्षण के अनुवादपूर्वक साधर्म्यदृष्टान्त और वैधर्म्यदृष्टान्त का लक्षण प्रस्तुत किया है। पंचमी का प्रयोग तो परस्पर भेदसिद्धि के लिये किया गया है। तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त दृष्टान्त दो प्रकार का है – तद्धर्मभावी (साधर्म्यवान्) और अतद्धर्मभावी (वैधर्म्यवान्)। साधर्म्यदृष्टान्त का वैधर्म्यदृष्टान्त

1. (अ) वही
   (ब) सम्यगित्यभिधानविशेषणं भिन्नं पदम्। तच्चाव्याप्त्यभिधानादेर्निरासार्थम्।
   —न्यायसारपदपञ्चिका, पृ. ४६
2. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. २४७
3. न्यायसार, पृ. १२
4. वही
5. न्यायभूषण, पृ. ३२०
6. न्यायसूत्र, १/१/२५

से साध्यसाधर्म्य के कारण तथा वैधर्म्यदृष्टान्त का साधर्म्यदृष्टान्त से साध्यवैधर्म्य के कारण भेद है। इस भेदकारण के प्रदर्शनार्थ 'साध्यसाधर्म्यात्' तथा 'साध्य-वैधर्म्यात्' में कारणार्थक पंचमी का प्रयोग किया गया है। दृष्टान्त के सामान्य लक्षण में इस बात को न बतलाकर यहां बतलाने का प्रयोजन है—भेदसहित उदाहरण लक्षण का प्रदर्शन।[1]

उदाहरणाभास

'सम्यग्दृष्टान्तवचनम् उदाहरणम्' इस उदाहरणलक्षण में 'सम्यक्' पद उदाहरणाभासों की व्यावृत्ति के लिये है, यह कहा गया है। अतः उदाहरणनिरूपण के पश्चात् प्रसंगतः व्यावर्त्य उदाहरणाभासों का निरूपण किया जा रहा है।

भारतीय दर्शनशास्त्र के ग्रन्थों में जिस प्रकार हेत्वाभासों का विशद निरूपण प्राप्त होता है, उसी प्रकार उदाहरणाभासों का भी। स्ववाक्यों में परिवर्जन तथा परकीय वाक्यों में उनके उद्भावन के लिये उदाहरणाभासों का ज्ञान आवश्यक है।

उदाहरणाभासों के स्वरूप तथा संख्या के विषय में भासर्वज्ञाचार्य पूर्ववर्ती आचार्यों से प्रभावित प्रतीत होते हैं। प्रशस्तपादाचार्य ने साधर्म्य तथा वैधर्म्य दोनों प्रकार के निदर्शनाभासों में प्रत्येक के ६ प्रभेदों का उल्लेख किया है।[2] बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग ने दोनों के पाँच-पाँच प्रभेद बतलाये हैं।[3] धर्मकीर्ति ने दोनों प्रकार के उदाहरणाभासों में से प्रत्येक के ९ प्रभेद किये हैं।[4]

न्यायसूत्र, न्यायभाष्य तथा न्यायवार्तिक में उदाहरणाभासों का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। भासर्वज्ञ से पूर्ववर्ती नैयायिकों में जयन्त भट्ट ने दोनों प्रकार के उदाहरणाभासों के ५-५ भेदों का सोदाहरण उल्लेख किया है।[5] जयन्त भट्ट ने प्रथम तीन भेदों को वस्तुदोषकृत तथा शेष दो को वचनदोषकृत माना है। सूत्रकार द्वारा उदाहरणाभासों का उल्लेख न करने के विषय में जयन्त भट्ट ने स्पष्टीकरण किया है-'एते च वस्तुवृत्तेन हेतुदोषा एव तदनुविधायित्वादत एव हेत्वाभासवत्सूत्रकृता नोपदिष्टाः अस्माभिस्तु शिष्यहिताय प्रदर्शिता एव'।[6] तात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र ने यह निर्देश किया है कि 'साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्' इस सूत्र में 'साध्यसाधर्म्य' के ग्रहण से साधन विकल की उदाहरणाभासता ज्ञात होती है। जैसे—'नित्यः शब्दः अमूर्तत्वात् परमाणुवत्' इस अनुमान में परमाणुरूप दृष्टान्त

1. न्यायभूषण, पृ. ३२०
2. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. १९८-१९९
3. न्यायप्रवेश, भाग १, पृ. ५
4. न्यायबिन्दु, पृ. ७-८
5. न्यायमंजरी, उत्तर भाग, पृ. १४०
6. वही, पृ. १४०

उदाहरणाभास है, क्योंकि शब्दरूप पक्ष में रहने वाला अमूर्तत्व धर्म परमाणु में नहीं रहता। 'तद्धर्मभावी' से साध्यविकल का निराकरण हो जाता है। जैसे 'नित्यः शब्दः मूर्तत्वात् कर्मवत्' इस अनुमान में कर्मरूप दृष्टान्त साध्यविकल है, क्योंकि शब्दरूप पक्ष का धर्म नित्यत्व कर्म में नहीं है। इससे उभयविकल का भी निराकरण हो जाता है। जैसे 'नित्यः शब्दः अमूर्तत्वात् घटवत्' इस अनुमान में घट दृष्टान्त साध्यधर्म अर्थात् पक्षधर्म अमूर्तत्व तथा तद्धर्म अर्थात् साध्यरूप पक्षधर्म नित्यत्व दोनों से विकल है।[1] यह प्रतीत होता है कि जयन्त भट्ट तथा वाचस्पति मिश्र ने प्रशस्तपाद[2], दिङ्नाग तथा विशेषतया धर्मकीर्ति से प्रभावित होकर उदाहरणाभासों का विभाग किया है। अतः यह कहा जा सकता है कि भासर्वज्ञ के पूर्ववर्ती उदाहरणाभासों का विभाग करने वाले आचार्यों में प्रशस्तपाद, दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति जयन्त भट्ट आदि थे। इन्हीं आचार्यों से प्रभावित होकर भासर्वज्ञ ने दोनों के ६-६ भेद बतलाये हैं।[3] प्रथम तीन के साथ प्रशस्तपाद तथा दिङ्नाग ने असिद्ध शब्द का प्रयोग किया है और धर्मकीर्ति ने विकल शब्द का। भासर्वज्ञ ने धर्मकीर्ति तथा जयन्त भट्ट के अनुसार प्रथम तीन के साथ भी विकल शब्द का प्रयोग किया है। इस विषय में भासर्वज्ञ धर्मकीर्ति से प्रभावित है, यह मान्यता प्रो. ध्रुव[4] तथा प्रो. देवधर[5] ने अभिव्यक्त की, परन्तु प्रशस्तपाद के प्रभाव का भी प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। जयन्त भट्ट की तरह भासर्वज्ञ ने दोनों वर्गों के उदाहरणाभासों में प्रथम चार को अर्थदोष और अन्तिम दो को वचनदोष कहा है। नव्यन्याय के प्रवर्तक गंगेशोपाध्याय ने भी इन्हीं बारह भेदों का उल्लेख किया है, अन्तर केवल यह है कि उन्होंने अन्तिम चार भेदों को अनुपदर्शितान्वय, विपरीत उपदर्शितान्वय, अनुपदर्शितव्यतिरेक और विपरीत उपदर्शितव्यतिरेक इन नामों से व्यपदिष्ट किया है। वाचस्पति मिश्र, जयन्त भट्ट, भासर्वज्ञ और गंगेशोपाध्याय द्वारा निरूपित उदाहरणाभास स्वल्प परिवर्तन के साथ प्रशस्तपाद के बारह भेदों का ही विभिन्न शब्दावली में उल्लेख है। परिष्कृत नामों के अतिरिक्त इनमें किसी तथ्य का प्रतिपादन परिलक्षित नहीं होता।

---

1. तात्पर्यटीका, १/१/३६

2. Sanghavi Sukhlāl, Advanced Studies in Indian Logic and Metaphysics, p. 107.

3. न्यायसार, पृ. १३

4. Dharmakirti's list is adopted in the Nyāyasāra of Bhāsarvajña .. —The Nyāyapraveśa, Part I, Notes, p. 77

5. Our author has closely followed Dharmakīrti in this respect. —Nyāyasāra, Notes, p, 41

उदाहरणाभास का लक्षण देते हुए भासर्वज्ञाचार्य कहते हैं—

'उदाहरणलक्षणरहिताः उदाहरणवदवभासमाना उदाहरणाभासाः।'[1] हेत्वाभासलक्षण की तरह यहां भी 'तल्लक्षणरहितत्व' विशेषण दिया गया है। समीचीन उदाहरणों में उदाहरणाभास के लक्षण की अतिव्याप्ति के निवारणार्थ इस विशेषण की सार्थकता है। आचार्य भासर्वज्ञ की मान्यता है कि वैसे तो उदाहरणाभास अनेक प्रकार के हैं, परन्तु साध्यविकल, साधनविकल इत्यादि आठ अर्थदोष और ४ वचनदोष-इन्हीं १२ भेदों को ही अनेक पूर्वाचार्यों ने स्वीकार किया है, अतः इन्हीं का प्रारम्भ में नामोल्लेख किया गया है। उनके भेदों की प्रतिपत्ति के लिये उदाहरण भी बारह ही दिये गये हैं।[2] ग्रन्थगौरव के परिहारार्थ भासर्वज्ञ ने 'अनित्यं मनो मूर्तत्वात्' इस वाक्यप्रयोग में ही समस्त उदाहरणाभासों को उदाहृत कर दिया है।

साधर्म्योदाहरणाभास

१. साध्यविकल :

'अनित्यं मनो मूर्तत्वात् परमाणुवत्' इस अनुमान में 'यन्मूर्तं तदनित्यं दृष्टम् यथा परमाणुः' यह परमाणुरूप उदाहरण अनित्यत्वरूप साध्य से विकल है।

२. साधनविकल :

उपर्युक्त अनुमान में ही कर्मरूप दृष्टान्त मूर्तत्वरूप साधन से विकल है, क्योंकि कर्म मूर्त नहीं है।

३. उभयविकल :

'यथाकाशम्।' यहां दृष्टान्त आकाश अनित्यत्व और मूर्तत्व दोनों से विकल है, क्योंकि आकाश न अनित्य है और क्रियारहित होने से न मूर्त ही है।

४. आश्रयहीन :

'खरविषाणम्।' खरविषाण का अत्यन्त असत्त्व है। अतः धर्मिरूप आश्रय के अभाव में साध्य तथा साधन धर्मों के व्याप्यव्यापकभाव की प्रतीति उसमें नहीं हो सकती।

५. अव्याप्त्यभिधान :

'अनित्यं मनो मूर्तत्वात् घटवत्।' यहां 'घटवत्' इत्याकारक दृष्टान्तवचन 'यद्यन्मूर्तं तदनित्यम्' या 'यन्मूर्तं तत्सर्वमनित्यम्' इस व्याप्ति को नहीं बतला रहा है, क्योंकि 'यद्यन्मूर्तं तदनित्यम् यथा घटः' इत्याकारक वचन से व्याप्ति की प्रतीति

1. न्यायसार, पृ. १३
2. न्यायभूषण, पृ. ३२२.

होती है। अतः 'घटवत्' उदाहरण अव्याप्त्यभिधान दोष से युक्त है। अव्याप्त्य-भिधान को भासर्वज्ञ शब्ददोष मानते हैं। अन्य आचार्य भी ऐसा मानते हैं, परन्तु कतिपय अन्य आचार्य इसे दोष नहीं मानते, क्योंकि सभी शास्त्रों में 'घटवत्' इस रूप से दृष्टान्तप्रयोग पाया जाता है। अतः यदि प्रत्यक्षादि प्रमाण से मूर्तत्व व अनित्यत्व की व्याप्ति सिद्ध है, तब तो 'अनित्यः शब्द कार्यत्वात् घटवत' इस अनुमान में कार्यत्व व अनित्यत्व को व्याप्ति की तरह मूर्तत्व तथा अनित्यत्व की व्याप्ति भी बन सकती है। किन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा मूर्तत्व तथा अनित्यत्व की व्याप्ति सिद्ध न होने पर केवल 'यद्यन्मूर्तं तत्सर्वमनित्यं यथा घटः' यह वचन व्याप्ति का बोधन नहीं करता।

६. विपरीतव्याप्त्यभिधान :

'यदनित्यं तन्मूर्तं दृष्टम्'। यह विपरीत व्याप्त्यभिधानरूप शब्ददोष है, क्योंकि 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र अग्निः' इस रूप से साधनानुवादपूर्वक साध्य का विधान व्याप्ति में होता है, जिससे कि साध्यसिद्धि में साधन का सामर्थ्य प्रतिपादित हो सके। 'यो योऽग्निमान् स धूमवान्' इस प्रकार व्याप्ति का विपरीत अभिधान करने पर धूम में अग्नि की व्याप्ति प्रतीत नहीं होती और उसकी प्रतीति न होने पर अग्नि से अव्याप्त धूम पर्वत में अग्नि को सिद्ध करने में असमर्थ रहता है। इस प्रकार पूर्वोक्त साध्यविकलादि चार अर्थदोष तथा अव्याप्त्यभिधान व विपरीतव्याप्त्य भिधान रूप दो शब्ददोष मिलकर ६ साधर्म्योदाहरणाभास हैं।

वैधर्म्योदाहरणाभास

६ प्रकार के साधर्म्योदाहरणाभासों की तरह ६ प्रकार के ही साधनाव्यावृत्तादि वैधर्म्योदाहरणाभास हैं। उनका उदाहरण 'अनित्यं मनो मूर्तत्वात्' है।

१. साधनाव्यावृत्त :

'यत्तु नित्यं तन्मूर्तमपि न भवति, यथा–परमाणुः।' यहां साधनमूर्तत्व दृष्टान्त परमाणु से व्यावृत्त नहीं है।

२. साध्याव्यावृत्त :

'यत् नित्यं तन् मूर्तमपि न भवति यथा कर्मेति।'
यहाँ साध्य अनित्यत्व कर्म से व्यावृत्त नहीं है।

३. उभयाव्यावृत्त :

'यन्नित्यं तन्मूर्तमपि न भवति यथा घटः।'
यहाँ साधन और साध्य दोनों हो दृष्टान्त घट से व्यावृत्त नहीं हैं। अर्थात घट में मूर्तत्वरूप साधन तथा अनित्यत्व रूप साध्य दोनों की सत्ता है।

४. आश्रयहीन :

'यन्नित्यं तन्मूर्तमपि न भवति यथा खपुष्पम् ।' यहाँ खपुष्प के सर्वथा असत् होने से वह न साधन का तथा न साध्य का ही आश्रय हो सकता है। कतिपय दार्शनिक वैधर्म्य-दृष्टान्त में धर्मी के अभाव को दोष रूप में स्वीकार नहीं करते। उनका निषेध करने के लिये यहां भी आश्रयहीन का कथन किया गया है। केवलान्वयी के निरूपण में कहा गया है कि जहां व्यतिरेक बल से सिद्ध इष्ट हो, वहां वैधर्म्य-दृष्टान्त का आश्रय भी अवश्य मानना होगा। अन्यथा वचनमात्र से व्याप्तिसिद्धि मानने पर अतिप्रसंग की आपत्ति है।

५. अव्यावृत्ताभिधान :

'यन्नित्यं भवति तन्मूर्तमपि न भवति आकाशवत् ।' यहां मूर्तत्व और अनित्यत्व दोनों आकाश से व्यावृत्त हैं, किन्तु इस व्यावृत्ति की प्रतीति 'आकाशवत्' शब्द से नहीं होती क्योंकि आकाशवत् में तुल्यार्थ में वति प्रत्यय है। अत उससे विपक्ष आकाश के समान अमूर्त व नित्य हैं, इसी अर्थ की प्रतीति हो सकती है। मूर्तत्व व अनित्यत्व की व्यावृत्ति उससे संभव नहीं तथा 'यद् यद्' इत्याकारक वीप्सा और 'सर्व' शब्द के बिना साध्य तथा साधन की समस्त विपक्षों से व्यावृत्ति की प्रतीति भी नहीं हो सकती। इसलिये यह उदाहरण व्यावृत्ति का अभिधायक न होने से अव्यावृत्ताभिधान दोष से ग्रस्त है, अत एव अव्यावृत्ताभिधान नामक उदाहरणाभास है।

६. विपरीतव्यावृत्ताभिधान :

'यन्मूर्तं न भवति तदनित्यमपि न भवति, यथाकाशम् ।' साध्य की व्यावृत्ति के अनुवाद से साधन की व्यावृत्ति वैधर्म्योदाहरण में बतलाई जाती है जिससे साध्य का साधनव्यापकत्व तथा साधनाभाव का साध्याभावव्यापकत्व प्रतीत हो सके। जैसे जहां वह्नि का अभाव है, वहां धूम का भी अभाव है। जैसे, जलह्रद में। किन्तु जहां धूम नहीं होता है, वहां सर्वत्र अग्नि का अभाव होता है, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तप्त अयोगोलक में धूम के न होने पर भी अग्नि की सत्ता विद्यमान है। परन्तु यहाँ साधनव्यावृत्ति के अनुवाद से साध्य की व्यावृत्ति बतलायी गयी है, अतः यह विपरीतव्याप्त्यभिधान होने से साधनांग नहीं है।

उपर्युक्त ६ साधर्म्योदाहरणाभासों तथा ६ वैधर्म्योदाहरणाभासों का सोदाहरण निरूपण करने के पश्चात् भासर्वज्ञ ने दोनों वर्गों के अन्य चार-चार भेदों का प्रतिपादन किया है, किन्तु इन आठ भेदों का अन्य मत के रूप में उल्लेख किया है।[1] 'भारतीय दर्शन में अनुमान' के लेखक डॉ. ब्रजनारायण शर्मा ने इस विषय में लिखा है "न्यायसार में साधर्म्यवैधर्म्य दृष्टान्तभासों के प्रथम चार भेदों में सन्दिग्ध पद जोड़कर अन्य चार चार भेदों का भी अन्य मतानुसार प्रतिपादन किया गया है।

1. अन्ये तु सन्देहद्वारेणापरानष्टावुदाहरणाभासान् वर्णयन्ति ।—न्यायसार, पृ. २३.

अन्य मत द्वारा धर्मकीर्तिमत संभावित हो सकता है, क्योंकि उनके पूर्ववर्ती ग्रन्थों में सन्दिग्ध पद का प्रयोग प्रायः उपलब्ध नहीं होता और इन आठ भेदों की विवेचना-पद्धति, उदाहरणविन्यास आदि भी धर्मकीर्ति के विवेचन के समान ही जान पड़ते हैं।"[1] परन्तु 'न्यायसारविचार' के प्रणेता भट्ट राघव ने 'अन्ये' से 'त्रिलोचनाचार्य' का ग्रहण किया है।[2] इन आठ उदाहरणाभासों का यहां निरूपण किया जा रहा है।

१. सन्दिग्धसाध्य :

'महाराज्यं करिष्यत्ययं सोमवंशोद्भूतत्वात्, विवक्षितराजपुरुषवत्।' इस अनुमान में विवक्षित राजपुरुष के सोमवंशोद्भूत होने से उसमें साधन की सत्ता है, किन्तु राज्यकरण के भविष्यत्कालिक होने से उसका उस राजपुरुष में निश्चय नहीं है, अतः यह सन्दिग्ध साध्य उदाहरणाभास है।

२. सन्दिग्धसाधन :

'नायं सर्वज्ञो रागादिमत्त्वात्, रथ्यापुरुषवत्' इस अनुमान में रथ्यापुरुष दृष्टान्त में किसी उपाय से असर्वज्ञत्व साध्य का निश्चय होने पर भी रागादिमत्त्व का किसी प्रमाण के अभाव में निश्चय न होने से यह सन्दिग्धसाधन उदाहरणाभास है।

३. सन्दिग्धोभय :

'गमिष्यति स्वर्गं विवक्षितः पुरुषः, समुपार्जितशुक्लधर्मत्वात्, देवदत्तवत्।' इस अनुमान में देवदत्तरूप दृष्टान्त में समुपार्जितशुक्लधर्मत्वरूप साधन तथा भविष्यत्कालिक स्वर्गगमन के किसी निश्चायक प्रमाण के अभाव में सन्दिग्ध होने से सन्दिग्धोभय (सन्दिग्धसाध्यसाधन) उदाहरणभास है।

४. सन्दिग्धाश्रय :

'नायं सर्वज्ञो बहुवक्तृत्वाद् भविष्यद्देवदत्तपुत्रवत्।' इस अनुमान में भविष्य में होने वाले देवदत्तपुत्र की सत्ता में कोई प्रमाण न होने से उसीके पक्षरूप आश्रय होने से सन्दिग्धाश्रय उदाहरणभास है।

उपर्युक्त चारों अनुमानों में अन्वयव्याप्तिमूलक उदाहरणभास हैं। अतः ये साधर्म्यमूलक उदाहरणभास कहलाते हैं।

1 (अ) भारतीय दर्शन में अनुमान, पृ. ३९९.
(ब) Sanghvi, Sukhlal—Advanced Studies in Indian Logic and Metaphysics, p. 107.

2 अत्राद्याः षडिति ये तु दृष्टान्तदोषद्वारेण आभासा अभिहिताः ते यथा दृष्टान्तदोषनिश्चयात् निश्चितास्तथा तद्दोषसन्देहात् सन्दिग्धा इति यत्स्वमतं तत्त्रिलोचनाचार्यसम्मतमित्याह—अन्ये तु सन्देहद्वारेण अपरान् अष्टावुदाहरणाभासान् वर्णयन्ति।—न्यायसारविचार, पृ. ५९.

१. सन्दिग्धसाध्याव्यावृत्त :

'यो महाराज्यं न करिष्यति स सोमवंशोद्भूतोऽपि न भवति यथाऽन्यो राजपुरुषः ।' 'अयं महाराज्यं करिष्यति सोमवंशोद्भूतत्वात्' इस अनुमान में जो राज्य नहीं करेगा वह सोमवंशोद्भूत नहीं होगा, जैसे अन्य राजपुरुषरूप उदाहरण में राज्य न करने का किसी प्रमाण द्वारा निश्चय न होने से वैधर्म्यमूलक सन्दिग्ध-साध्य उदाहरणाभास है अर्थात् सन्दिग्धसाध्य से अव्यावृत्त है ।

२. सन्दिग्धसाधनाव्यावृत्त :

'यस्तु सर्वज्ञः स रागादिरहितः, यथा समस्तशास्त्राभिज्ञः पुरुषः ।' 'नायं सर्वज्ञो रागादिमत्त्वात् रथ्यापुरुषवत्' इस अनुमान में जो सर्वज्ञ होता है, वह रागादिमान् होता है, जैसे समस्तशास्त्राभिज्ञ पुरुष, इस व्यतिरेकव्याप्तिमूलक सर्वशास्त्राभिज्ञ पुरुषरूप उदाहरण में रागादिमत्त्व साधन को अव्यावृत्ति के प्रमाणाभाव के कारण निश्चित न होने से सन्दिग्धसाधनाव्यावृत्त उदाहरणाभास है ।

३. सन्दिग्धोभयाव्यावृत्त :

'यः स्वर्गं न गमिष्यति स समुपार्जितशुक्लधर्मोऽपि न भवति यथा दुस्थः पुरुषः ।' 'अयं स्वर्गं गमिष्यति समुपार्जितशुक्लधर्मत्वात्' इस अनुमान में जो स्वर्ग नहीं जायेगा वह समुपार्जित शुक्लधर्मवाला भी नहीं होता, जैसे दुःस्थ पुरुष—इस उदाहरण के व्यतिरेकव्याप्तिमूलक वैधर्म्योदाहरण में भविष्यत्कालिक स्वर्गगमनरूप साध्य तथा समुपार्जितशुक्लधर्मत्वरूप साधन दोनों के प्रमाणाभाव से सन्दिग्ध होने के कारण यह सन्दिग्धोभय–साध्यसाधन उदाहरणाभास है ।

४. सन्दिग्धाश्रय :

'यः सर्वज्ञः स बहुवक्तापि न भवति यथा भविष्यद्देवदत्तपुत्रः ।' 'नायं सर्वज्ञः अवद्यवक्तृत्वात्' इस अनुमान में जो सर्वज्ञ होता है, वह अवद्यवक्ता भी नहीं होता जैसे भविष्यत्कालिक देवदत्तपुत्र, इस व्यतिरेकव्याप्तिमूलक वैधर्म्योदाहरण के भविष्यत्कालिक होने से उसके किसी प्रमाण द्वारा निश्चित न होने से यह सन्दिग्धाश्रय उदाहरणाभास है ।

'अन्ये तु' पद के द्वारा भासर्वज्ञ ने इन भेदों में अपनी अरुचि प्रदर्शित की है, क्योंकि उदाहरण में साध्यादि के सन्दिग्ध होने पर भी अन्ततो गत्वा साध्यादिविकलता ही सिद्ध होती है । अतः पूर्वोक्त भेदों से इनको पृथक् मानना उचित नहीं ।

उपनयनिरूपण

पंचावयवोपपन्न अनुमानवाक्य का चतुर्थ अवयव उपनय है । उपनय की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए भाष्यकार वात्स्यायनने कहा है—'उपनयं चान्तरेण

साध्येऽनुपसंहृतः साधको धर्मो नायं साधयेत्'।[1] अर्थात् उपनय के बिना पक्ष में साधक धर्म का उपसंहार नहीं हो सकेगा और पक्ष में अनुपसंहृत हेतु साध्यरूप अर्थ की सिद्धि नहीं कर सकेगा। न्यायसूत्रकार ने उपनय का लक्षण 'उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः'[2] यह किया है। उक्त उपनय लक्षणसूत्र की व्याख्या करते हुए वार्तिककार ने कहा है कि यहां 'यथा तथा' इस प्रकार से प्रतिबिम्बन बतलाया है। प्रतिबिम्बन का स्वरूप स्पष्ट करते हुए वार्तिककार ने कहा है—'दृष्टान्तगतस्य धर्मस्याव्यभिचारित्वे सिद्धे तेन साध्यगतस्य तुल्यधर्मतोपदर्शनम्,[3] अर्थात् महानसादि दृष्टान्तगत धूमादि हेतु में अग्न्यादि का अविनाभाव सिद्ध अर्थात् प्रत्यक्ष हो जाने पर उसकी समानता से पर्वतादिरूप पक्ष में विद्यमान धूमादि हेतु में वह्न्यादि के अविनाभाव का प्रदर्शन उपनय है। यहां साध्य शब्द साध्यवान् धर्मी पर्वतादिरूप पक्ष का बोधक है। वार्तिककारोक्त इस प्रतिबिम्बन को ध्यान में रखते हुए भासर्वज्ञाचार्य ने 'दृष्टान्ते प्रसिद्धाविनाभावस्य साधनस्य दृष्टान्तोपमानेन पक्षे व्याप्तिख्यापकं वचनमुपनयः'[4] यह उपनय का लक्षण किया है अर्थात् दृष्टान्त में प्रसिद्ध अविनाभाव वाले साधन का दृष्टान्त की समानता से पक्ष में साधन का साध्य के साथ अविनाभाव रूप व्याप्ति का प्रदर्शक वचन उपनय कहलाता है। 'व्याप्तिख्यापकं वचनम्' यह कहने पर महानसादि स्थल में बहिर्व्याप्तिख्यापक वचन भी उपनय हो जायेगा, अतः 'पक्षे' का संयोजन किया गया है।[5] दृष्टान्त से साम्य के अभाव में केवल पक्षसम्बन्ध का कथन उपनयाभास होता है, यह सूचित करने के लिये 'दृष्टान्तोपमानेन' कहा गया है। सूत्रकार का अनुसरण करते हुए भासर्वज्ञ ने उपनय के दो भेद बतलाये हैं—(१) साधर्म्योपनय और (२) वैधर्म्योपनय।

यद्यपि साध्यसाधन की व्याप्ति का अर्थात् पक्ष में साधन का साध्य के साथ अविनाभाव का प्रदर्शक वचन ही उपनय है और साध्य तथा साधन की इस अविनाभावरूप व्याप्ति की सिद्धि जब 'यत्र यत्र साधनं, तत्र तत्र साध्यम् यथा महानसम्' एस उदाहरणवाक्य से ही हो जाती है, पुनः उपनय की क्या आवश्यकता है? यदि यह कहा जाय कि उदाहरणवाक्य द्वारा पक्षभिन्न महानसादि में ही साध्य व साधन का अविनाभाव सिद्ध होता है और आवश्यकता है पर्वतादिरूप पक्ष में, क्योंकि पक्षगत साध्य व साधन का अविनाभाव ही पर्वतादि में वह्नि की अनुमिति में समर्थ है न कि महानसादिगत साध्य व साधन का अविनाभाव। किन्तु यह कथन भी उचित नहीं, क्योंकि 'धूमात्' इस हेतुवचन के द्वारा पक्ष में

1. न्यायभाष्य, १।१।३९
2. न्यायसूत्र, १।१।३८
3. न्यायवार्तिक, १।१।३८
4. न्यायसार, पृ. १४
5. न्यायमुक्तावली, प्रथम भाग, पृ. २३५.

उस व्याप्ति की सिद्धि हो जाती है, क्योंकि धूम हेतु पर्वतादि पक्ष में साध्यसिद्धि के लिये उपात्त है न कि महानसादि में साध्यसिद्धि के लिये, वहां वो प्रत्यक्षतः साध्य की सिद्धि है। अतः उसीसे पक्षगत साध्यसाधन का अविनाभाव सिद्ध हो जाने पर उपनयवचन की आवश्यकता नहीं,[1] तथापि धूमादि हेतु का विषय वह्नि पर्वत में अबाधित है, इस तथ्य को बतलाने के लिये उपनयवचन की अपेक्षा है। अर्थात् जैसे उत्पाद्य घटादि अनित्य हैं और उनके अनित्यत्व का प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाध नहीं होता, इसी प्रकार कृतकत्व हेतु के शब्दादिपक्षगत अनित्यत्व विषय का प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाध नहीं है, इसका ज्ञापन उपनयवाक्य से ही हो सकता है। उदाहरणवाक्य तो पक्षभिन्न घटादि में अनित्यत्व का बाध प्रत्यक्षादि प्रमाण से नहीं है, यही बतला सकता है, न कि शब्दातिपक्षगत अनित्यत्व का। उपर्युक्त रीति से जिस प्रकार साधर्म्योपनय कृतकत्वादि साधन का विषय शब्दगत अनित्यत्व प्रत्यक्षादि प्रमाण से अबाधित है, इस बात का प्रस्थापक है, उसी प्रकार वैधर्म्योपनय भी इसी बात का प्रस्थापक है। जैसे, आकाशादि नित्य हैं, अतः अकृतक अर्थात् अनुत्पाद्य हैं और उनका नित्यत्व प्रमाण सिद्ध है। उस प्रकार शब्द अनुत्पाद्य नहीं है, क्योंकि वह उत्पाद्य है और उत्पाद्य वस्तु कभी किसी प्रमाण से नित्य सिद्ध नहीं है, अतः शब्द में कृतकत्व अनित्यत्व से अविनाभूत है, यह सिद्ध हो जाता है।[2]

निगमननिरूपण

उपनय के पश्चात् निगमन का निरूपण क्रमप्राप्त है। निगमन पंचावयवोपपन्न अनुमानवाक्य का अन्तिम अवयव है। इसके द्वारा प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय एक विषय से सम्बद्ध किये जाते हैं। इसीलिये भाष्यकार ने कहा है— 'निगम्यन्ते अनेनेति प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनया एकत्रेति निगमनम्। निगम्यन्ते समर्थ्यन्ते सम्बद्ध्यन्ते' (न्यायभाष्य, १।१।३९)। निगमन के अभाव में प्रतिज्ञादि का प्रकृत विषय से सम्बन्ध अभिव्यक्त नहीं हो सकता, एक अर्थ की सिद्धि के लिये उनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती।[3] सूत्रकार गौतम ने निगमन का लक्षण— 'हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्'[4] यह किया है। वार्तिककार ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि प्रतिज्ञा के विषयभूत अर्थ को प्रत्यक्षादिप्रमाणमूलक प्रतिज्ञादि-वाक्यों के द्वारा सिद्धि होने पर उस प्रतिज्ञात सिद्ध अर्थ का साध्यविपरीत प्रसंग के प्रतिषेधार्थ जो पुनः अभिधान है, वह निगमन है, न कि प्रतिज्ञा का ही

---

1. ननु चोपनयवचनमनर्थकं व्याप्तेरुदाहरणेनैव प्रतिपादितत्वात्।
अन्तर्व्याप्तिसिद्ध्यर्थमिति चेत्, हेतुवचनात्तत्सिद्धेः। —न्यायभूषण, पृ. ३२५

2. न्यायभूषण, पृ. ३२६

3. निगमनाभावे चानभिव्यक्तसम्बन्धानां प्रतिज्ञादीनामेकार्थेन प्रवर्तनं तथेति प्रतिपादनं कस्येति।
—न्यायभाष्य, १।१।३९

4. न्यायसूत्र, १।१।३९

पुनर्वचन, क्योंकि प्रतिज्ञा साध्यनिर्देशरूप होती है, जबकि निगमन सिद्धनिर्देशरूप। अर्थात् प्रतिज्ञावाक्य में प्रतिज्ञात अर्थ का साध्यरूप से निर्देश है जबकि निगमन में उसका सिद्धरूप से निर्देश होता है। अतः निगमन की प्रतिज्ञा से गतार्थता नहीं होती।[1] तात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र 'हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्' इस लक्षण का उपपादन करते हुए कहते हैं कि यद्यपि नियमन सिद्धनिर्देश है तथा प्रतिज्ञा साध्यनिर्देश, तथापि जो अर्थ प्रतिज्ञा में साध्य था, वही अर्थ निगमन में सिद्ध होता है। इस प्रकार साध्यत्व व सिद्धत्व अवस्था वाले अर्थ की एकता के कारण निगमन में प्रतिज्ञा का उपचार कर निगमन को प्रतिज्ञा का पुनर्वचन कह दिया गया है।[2]

आचार्य भासर्वज्ञ ने सूत्र में 'प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनम् इव' इस प्रकार उपमा[3] मानकर 'सहेतुकं प्रतिज्ञावद्वचनं निगमनं'[4] यह निगमन का लक्षण माना है। 'प्रतिज्ञावत्' शब्द का प्रयोग कर उन्होंने वार्तिककारादिकृत पूर्वोक्त विचार के लिये अवकाश ही नहीं रखा है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि निगमन प्रतिज्ञा के तुल्य है, प्रतिज्ञा से अभिन्न नहीं। सूत्रस्य 'हेत्वपदेशात्' के अर्थ पर विचार करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि हेत्वपदेश शब्द 'तस्मात्' इत्याकारक हेत्वनुवाद का बोधक है।[5] सूत्र में 'हेत्वपदेशात्' पद में हेत्वर्थक पंचमी है। हेत्वर्थक पंचमी मानने पर हेत्वर्थक तृतीया विभक्ति का प्रयोग क्यों नहीं किया गया, इस आशंका का निराकरण करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि यद्यपि हेत्वर्थ में तृतीया व पंचमी दोनों—विभक्तियों का प्रयोग हो सकता है, तथापि 'हेत्वपदेशेन' इत्याकारक तृतीया विभक्ति का प्रयोग करने पर सहार्थ में यहां तृतीया है, ऐसी भ्रान्ति संभव है, तन्निराकरणार्थ तृतीया का प्रयोग न कर पंचमी विभक्ति का प्रयोग किया है। सहार्थ में तृतीया मानने पर हेत्वनुवाद के साथ प्रतिज्ञा का पुनर्वचन निगमन कहलायेगा ऐसी स्थिति में हेतुरूप अवयव के बाद ही हेत्वनुवाद के साथ प्रतिज्ञा के पुनर्वचनरूप निगमन का प्रयोग होना चाहिए, यह आशंका संभावित है। तन्निराकरणार्थ पंचमी का प्रयोग किया गया है।[6]

---

1. न्यायवार्तिक, १।१।३९
2. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १।१।३९
3. प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनमिवेत्युपमात्र द्रष्टव्या।—न्यायभूषण, पृ. ३२७
4. न्यायसार (पूना, १९२२), पृ. ४०
5. वयं तु ब्रूमस्तस्मादित्ययं हेत्वनुवादो हेत्वपदेशः।—न्यायभूषण, पृ. ३२७
6. हेत्वपदेशेन सहेति प्राप्ते मोहनिवृत्तये तृतीयास्थाने पंचम्युक्ता, अन्यथोदाहरणात् प्रागेव हेत्वपदेशेन सह प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं प्रयोक्तव्यमित्याशंकापि स्यात्।—न्यायभूषण, पृ. ३२७

निगमन-प्रयोजन

भासर्वज्ञ ने निगमन के प्रयोजन पर भी विचार करते हुए कहा है कि कतिपय विद्वान् अनुमानवाक्य की परिसमाप्ति के लिये निगमन का अभिधान आवश्यक है, ऐसा मानते है, किन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि वाक्य-समाप्ति के लिये निगमन के कथन में कोई प्रयोजन दृष्टिगोचर नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जहां अनुमान के द्वारा अर्थ का प्रतिपादन अभीष्ट होता है, वहां अविनाभूत लिंग का ही कथन उपर्युक्त है, उसीसे साध्य की अवगति हो जाती है। इसीलिये कहा भी है—'विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः।'[1] अर्थात् विद्वानों के लिये केवल अविनाभाविलिंगवचनरूप हेतु ही पर्याप्त है, क्योंकि उससे ही उनको साध्यसिद्धि हो जाती है[2]। अविनाभूत लिंग की प्रतीति होने पर 'तस्माद् इदम् इत्थम्' इत्याकारक प्रतीति हो ही जाती है। अतः निगमन को कोई आवश्यकता नहीं। इस शंका का निराकरण करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि निगमन निरर्थक नहीं हैं, क्योंकि वह साध्यविरुद्ध की असत्ता के प्रतिपादक प्रमाण का सूचक है।[3] तात्पर्य यह है कि असत्प्रतिपक्षत्व का प्रतिपादन न करने पर अविनाभाव भी असन्दिग्ध रूप से अप्रतिपादित हो रह जाता है, क्योंकि पक्षधर्मत्वादि की तरह असत्प्रतिपक्षत्व भी हेतु का रूप है और जिस प्रकार पक्षधर्मत्वरूप हेतुस्वरूप का प्रतिपादन हेतुवाक्य का प्रयोजन है, उसी प्रकार असत्प्रतिपक्षत्वरूप हेतुस्वरूप का प्रतिपादन निगमन का प्रयोजन है। जैसे—'तस्माद् अनित्यः' यह निगमन 'अनित्य एव' इस नियम का बोध कराता है। अनित्यत्व का अवधारण कराने वाले इस निगमन से 'न नित्यः' इत्याकारक प्रतिपक्षसंज्ञक साध्यविरुद्ध की असत्ता का अनुमान होता है। असत्प्रतिपक्षत्व के अवधारण से यह भी ज्ञात हो जाता है कि हेतु न तो विरुद्धाव्यभिचारी है और न प्रकरणसम।

यदि यह कहा जाय कि प्रतिपक्षाभाव की सिद्धि प्रमाणान्तर से हो सकती है, न कि वचनमात्र निगमन से। क्योंकि वचनमात्र निगमन कोई प्रमाण नहीं है और किसी वस्तु की सिद्धि प्रमाण से होती है, न कि 'प्रतिपक्ष का अभाव है' इत्याकारक वचनमात्र से इसका समाधान करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि ऐसा मानने पर पक्षधर्मत्व के प्रतिपादनार्थ भी प्रमाणान्तर मानना होगा, क्योंकि हेतुरूप वचन से पक्षधर्मत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि इस दोष के परिहारार्थ हेतु, उदाहरणादि को पक्षधर्मत्व का साधक प्रमाण माना जाता है, तो निगमन को भी प्रतिपक्षाभावसाधक प्रमाण मानने में क्या आपत्ति है?[4]

---

1. प्रमाणवार्तिक, का. ३७, पृ. २६८
2. न्यायभूषण, पृ, ३२७
3. तस्मान्नेदमनर्थकं साध्यविरुद्धाभावप्रतिपादकप्रमाणसूचकत्वादस्य।
—न्यायभूषण, पृ. ३२७
4. न्यायभूषण, पृ. ३२८.

प्रासंगिक साध्यावधारण ही निगमन के द्वारा किया जाना चाहिए, साध्यविरुद्ध अभाव के प्रतिपादन से क्या प्रयोजन ? प्रतिपक्ष की यह आशंका भी उचित नहीं, क्योंकि प्रतिपक्षाभाव के प्रतिपादन बिना साध्य का अवधारण उपपन्न नहीं होता। इसी तथ्य का सूत्रकारसम्मति से दृढीकरण करते हुए भासर्वज्ञ कहते हैं—'विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः।'[1] अर्थात् संशयपूर्वक साधन तथा दूषण द्वारा जो अर्थावधारण होता है, वह निर्णय कहलाता है। इस प्रकार सूत्रकारसम्मति से भी प्रतिपक्षाभावग्राहक प्रमाण का अभिधान उपयोगी सिद्ध होता है। अतः प्रतिपक्षाभावग्राहक प्रमाण को अभिधान करने वाला निगमन निरर्थक नहीं है।

वस्तुतः विमर्शपूर्वक पक्षप्रतिपक्ष द्वारा अर्थावधारण ही निर्णय होता है, यह नियम अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षस्थल में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष द्वारा भी अर्थावधारण होता है। अतः निर्णय का सामान्य लक्षण तो अर्थावधारणमात्र है जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—'अर्थपरिच्छेदः अवधारणं निर्णय इति'।[2] सूत्रकार ने निर्णय-लक्षण से पहिले तर्क का लक्षण किया है। अतः प्रस्तुत निर्णयलक्षण तर्कविषय के अनुसार है, जैसाकि वार्तिककारने कहा है—'एतस्मिंश्च तर्कविषये विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णय इति सूत्रम्।'[3] तर्कविषय में निर्णय विमर्शपूर्वक पक्ष-प्रतिपक्ष द्वारा ही होता है। अतः तर्कानुगृहीत अनुमान प्रमाण से किये जाने वाले निर्णय में ही निर्णय का उक्त लक्षण घटित होता है, अन्यत्र नहीं।

बौद्ध निगमन के अभिधान को असाधनांग अर्थात् साध्यसाधनभूत वाक्य का अंग नहीं मानते हैं, अपि तु प्रतिपक्षाभावज्ञानार्थ बाधक प्रमाण का प्रयोग करते हैं। किन्तु भासर्वज्ञ का तर्क है कि निगमन को असाधनांग मानने पर बौद्धों को क्षणिकत्वादि की सिद्धि के लिए सत्त्व-कृतकत्वादि साधनों का ही प्रयोग करना चाहिये, 'असन्तो क्षणिकास्तस्यां क्रमाक्रमविरोधतः' इत्यादि रूप से विपक्षबाधक प्रमाण का अभ्युपगम नहीं करना चाहिए। तदर्थ बाधक प्रमाण स्वीकार करने पर बौद्धपक्ष में निग्रहस्थान की प्रसक्ति हो जाती है, क्योंकि सौगतसम्मत विपक्षबाधक प्रमाण निगमनार्थक ही है। विपक्षबाधक प्रमाण और निगमन दोनों का प्रयोजन

1. यद्यपि 'अर्थावधारणं निर्णयः' इतना ही निर्णय का पूर्ण लक्षण है तथापि निःश्रेयसोपयोगी आत्मादिनिर्णय के विचारक के अभिप्राय से लक्षण में 'पक्षप्रतिपक्षाभ्याम्' कहा गया है। तत्प्रकारक निर्णय में साधन तथा दूषण दोनों का उपयोग बतलाने के लिये 'विमृश्य' कहा गया है। विप्रतिपत्तिनिमित्तक संशय के प्रवृत्त होने पर विचारक निरासमुखेन निर्णय करता है, साधनमात्र से नहीं। उभयपक्षसाधन की उपपत्ति होने पर विरुद्धाव्यभिचारित्व की प्रसक्ति हो जाती है। साधनाभाव की दशा में साध्यसिद्धि न होने से केवल दूषण से भी निर्णय नहीं हो सकता। इसलिए दूषणसहित स्वपक्षसाधन से निर्णय होना युक्तियुक्त है।

2. न्यायवार्तिक, १।१।४१

3. वही

एक ही है और वह है—विपरीत प्रसंग का प्रतिषेध। प्रतिपक्षप्रतिषेध द्वारा हेतु के अविनाभाव का समर्थन ही दोनों से अभिप्रेत है।

यदि यह कहा जाय कि निगमन का अभिधान होने पर भी निगमनार्थ के प्रति विप्रतिपत्तिग्रस्त प्रतिवादी को बाधक प्रमाण द्वारा ही प्रतिपक्षाभाव का बोधन करना पड़ता है, इसलिये विपक्ष-बाधक प्रमाण का ही साक्षात् कथन करना उचित है न कि निगमन का। इस पर भासर्वज्ञाचार्य कहते हैं कि निगमनार्थ के विषय में विप्रतिपत्ति होने पर विपक्ष बाधक प्रमाण का उपन्यास संगत होता है। अपि च, तदर्थसाधक प्रमाण का अभिधान भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि उस प्रमाण के अर्थ के प्रति विप्रतिपद्यमान पुरुष को जिस प्रमाणान्तर द्वारा बोध-प्रदान किया जायेगा, उसीका प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार अनवस्थालतालूता लग जायेगी। अतः निगमनार्थ में विप्रतिपत्ति होने पर ही प्रतिपक्षाभावसाधकरूप प्रमाण का तथा हेत्वादि द्वारा प्रतिपादित अर्थ में विप्रतिपत्ति होने पर तत्साधक प्रमाणान्तर का उपन्यास उचित है, अन्यथा नहीं।[1]

⊕

1. तस्माद्यदैव यदवयवार्थं प्रति विप्रतिपद्यते परस्तदैव तदवयवार्थसमर्थनार्थं बाधकं साधकं वा प्रमाणान्तरमुच्यत इत्यलं प्रसंगेन। —न्यायभूषण, पृ. ३२८,

पञ्चम विमर्श

कथानिरूपण तथा छल-जाति-निग्रहस्थाननिरूपण

कथा

वाद - निरूपण

न्यायदर्शन प्रधानरूप से कथाशास्त्र है। इसमें कथा के भेदों, तदुपयोगी प्रमाणों, प्रमेयों तथा उसके उन्नायक संशयादि पदार्थों का प्रतिपादन किया गया है। प्रमाण से आरम्भ कर निर्णयान्त कथोपयोगी सत् पदार्थों के निरूपण के पश्चात् अंगिभूत कथा के वाद, जल्प तथा वितण्डारूप भेदों का निरूपण किया जा रहा है। ये तीनों कथा के अवान्तर भेद हैं। भासर्वज्ञ ने कथासामान्य का लक्षण बतलाते हुए कहा है - 'वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः कथा'।[1] कथा चाहे किसी प्रकार की क्यों न हो, उसमें दो पक्ष होते हैं - पक्ष तथा प्रतिपक्ष और वादी तथा प्रतिवादी भी उसमें होते हैं। उनमें सामान्यतः वादी पक्ष की सिद्धि करता है और प्रतिवादी प्रतिपक्ष की। इसीलिये जो अपने पक्ष की सिद्धि करता है, उसे वादी कहते हैं तथा उसका जो खण्डन करता है, उसे प्रतिवादी कहते हैं, यह नियम कथा में होता है, ऐसा भासर्वज्ञ ने कहा है[2]। केवल पक्ष तथा प्रतिपक्ष को स्वीकार करना ही कथा नहीं है, जब तक कि उसमें वादी द्वारा अपने पक्ष का साधन और प्रतिवादी द्वारा उसका खण्डन न हो। जैसे, बुद्धि नित्य है अथवा अनित्य—इन दोनों पक्षों को स्वीकार करने मात्र से कथा का निर्वाह नहीं होता, अपितु वादी द्वारा 'बुद्धि अनित्य है' - इस पक्ष का साधन तथा प्रतिवादी द्वारा उपालम्भ अर्थात् उसका निराकरण कथा में आवश्यक है। इसलिये 'पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः कथा' इतना ही कथा का लक्षण न कर 'वादिप्रतिवादिनोः' और कहा गया है। 'वादिप्रतिवादिनोः' कहने से ही स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का खण्डन अर्थ की प्रतीति नहीं होती, इसलिये भासर्वज्ञ ने इसकी व्याख्या करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि जो पक्ष का साधन करता है, उसे वादी कहते हैं और जो उसका खण्डन करता है, उसे प्रतिवादी। वादी, प्रतिवादी यह अर्थ मानने पर वादि-प्रतिवादी पदों से कथा में स्वपक्ष का साधन तथा परपक्ष का खण्डन आ जाता है।

1. न्यायसार, पृ. १५
2. न्यायभूषण, पृ. ३२९

भासर्वज्ञ ने कथा के वादादि तीन भेद न मानकर प्रकारान्तर से उसके भेद किये हैं ।[1] उन्होंने पहिले कथा को वीतराग – कथा तथा विजिगीषु-कथा – इन दो भागों में विभक्त किया है ! तदनन्तर वीतरागकथा को वाद माना है तथा विजिगीषुकथा के जल्प और वितण्डा – ये दो भेद किये हैं । वीतराग-कथा दो वीतरागों की ही होती है और उनमेंसे एक पक्ष की स्थापना करता है तथा दूसरा उसका खण्डन, किन्तु इस खण्डन-मण्डन में विजय की इच्छा उद्देश्य नहीं रहता, अपितु तत्त्वनिश्चय उद्देश्य होता है । इसी आधार पर लोक में 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' यह उक्ति प्रचलित है । भासर्वज्ञ ने यह भी माना है कि 'वाद' तीनों कथाओं का सामान्य नाम है, यह बात उन्होंने लौकिक व्यवहार को लेकर कही है, क्योंकि लौकिक व्यवहार में प्रत्येक कथा के लिये वाद शब्द का प्रयोग किया जाता है ।[2] किन्तु इस शास्त्र में 'वाद' शास्त्रसंकेतित संज्ञा है और इसका प्रयोग तत्त्वनिर्णय के लिये होने वाली वीतरागकथा में ही होता है ।

दण्डक सूत्र में सामान्य कथा का निर्देश न करके उसके भेदों का ही निर्देश किया है । वाद, जल्प, वितण्डा भेद से त्रिधा विभक्त कथाभेदों में सर्वप्रथम वाद का निरूपण किया जा रहा है । 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पंचावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः'[3] यह वाद का सौत्र लक्षण है । अर्थात् सिद्धान्त से अविरुद्ध, पंचावयव वाक्यों से युक्त तथा प्रमाण और तर्क के द्वारा जिसमें स्वपक्ष सिद्धि और परपक्ष का खण्डन किया जाता है, ऐसी कथा को वाद कहते हैं । सूत्र में पक्ष-प्रतिपक्ष शब्द से एक ही धर्मी में विद्यमान दो विरुद्ध धर्मों का ग्रहण किया गया है । जैसे—'अनित्यः शब्दः, नित्यः शब्दः' । इस वाक्य में शब्दरूप एक ही धर्मी में विद्यमान नित्यत्व तथा अनित्यत्व धर्म का निर्देश है । एक धर्मी में स्थित दो धर्मों का विरोध उनका एक साथ न रह सकना ही है और वह विरोध लोक या शास्त्र में जिस प्रकार का देखा गया है, वैसा ही मानना चाहिये । जैसे—मूर्तत्व तथा अमूर्तत्व धर्मों की स्थिति कालभेद से भी एक धर्मी में नहीं बन सकती, अर्थात् पृथिव्यादि मूर्तों में किसी भी काल में अमूर्तत्व नहीं रहता । अतः ये दोनों धर्म विरुद्ध धर्म कहलाते हैं । किन्तु घटादि पदार्थों में सत्त्व तथा असत्त्व धर्म की घटादि धर्मी में स्थिति विरुद्ध नहीं मानी जा सकती । भिन्न धर्मी में स्थित दो धर्मों का परस्पर विरोध कभी नहीं होता । जैसे—आत्मा नित्य है और और बुद्धि अनित्य-इस वचन में नित्यत्व की स्थिति आत्मा में है और अनित्यत्व की स्थिति बुद्धि में । अतः भिन्नधर्मिस्थ विरुद्ध धर्मों का पक्ष-प्रतिपक्ष नहीं माना जा सकता । अतः इसको कथा भी नहीं कह सकते ।

1. न्यायसार, पृ. १५
2. ...वीतरागकथा वादसंज्ञकैवोच्यते न तत्र विशेषसंज्ञान्तरमस्ति । यथा विजिगीषुकथाया वाद इति सामान्यसंज्ञा जल्प इति वितण्डेति च विशेषसंज्ञेति । तत्र कथात्रयेपि वाद इति संज्ञा व्यवहारतः प्रसिद्धा, कथेति संज्ञा तु सूत्रतः प्रसिद्धा ।—न्यायभूषण, पृ. ३२९
3. न्यायसूत्र, १/२/१

एक धर्मी में विरुद्ध धर्मों की स्थितिरूप पक्ष–प्रतिपक्षता तीनों ही कथाओं में बनती है। अतः जल्प तथा वितण्डा से वाद का भेद बतलाने के लिये सूत्र में 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः' यह पद दिया गया है। वैतण्डिक को एक पक्ष स्वीकृत होने पर भी न तो वह प्रतिज्ञावाक्य के द्वारा अपने सिद्धान्त की स्थापना करता है और न प्रमाण तथा तर्क के द्वारा उसकी पुष्टि करता है। जल्पकथा में यद्यपि स्वपक्षसिद्धि और परपक्ष-निराकरण दोनों रहते हैं, तथापि उसमें उनका प्रतिपादन केवल प्रमाणों और तर्क के द्वारा ही नहीं किया जाता जबकि वाद में प्रमाणों और तर्क के द्वारा ही यह कार्य होता है। अतः 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः' पद देने से जल्पकथा की निवृत्ति हो जाती है।

सूत्रकारकृत वादलक्षण में 'पंचावयवोपपन्नः' विशेषण दिया गया है। पंचावयव पद से प्रतिज्ञादि पांच अवयववाक्यों का ग्रहण है जो कि अनुमान प्रमाण के अंग हैं। इस प्रकार पंचवाक्यवोपपन्न पद से ही प्रमाणोपपन्न अर्थ का लाभ हो जाने पर भी यहां 'पंचावयवोपपन्न' पद 'वाद' प्रतिज्ञादि अवयवों से युक्त होता है, इतने ही अर्थ का बोधक है न कि वे प्रतिज्ञादि अवयव कोई प्रमाण या प्रमाण के अंग हैं, इस अर्थ का बोधक। अतः वादकथा को प्रमाणयुक्त बतलाने के लिये 'प्रमाणोपपन्नः' पद का उपादान सार्थक है। अर्थात् वाद में निर्दिष्ट पंचावयव प्रमाण के रूप में या प्रमाणावयव के रूप में ही गृहीत हैं। क्योंकि वादकथा वीतरागकथा है और वीतराग पुरुष परवंचनार्थ कथा में प्रवृत्त नहीं होते हैं, अतः वादलक्षण में 'प्रमाणोपपन्न' पद की आवश्यकता है। दूसरी बात यह भी है कि प्रतिज्ञादि अवयव केवल अनुमान प्रमाण के अंग होते हैं, प्रत्यक्षादि के नहीं। पंचावयवोपपन्न पद से अनुमान प्रमाण का लाभ हो जाने पर भी इतर प्रत्यक्षादि प्रमाणों का लाभ नहीं होता, इसलिये भी 'प्रमाणोपपन्नः' कहा गया है।

यद्यपि जल्प कथा में भी प्रमाणमूलत्वेन अज्ञात हेत्वाभासादि का प्रयोग नहीं होता है, तथापि प्रारम्भ में वह जिन हेत्वाभासों का प्रयोग करता हैं, उन्हें, 'यह हेतु समीचीन है', यह जानकर उनका प्रयोग करता हुआ भी प्रतिवादी के द्वारा उन्हें दुष्ट सिद्ध किये जाने पर वह उन्हें दुष्ट (असमीचीन) जानता हुआ भी उनके समर्थन के लिये प्रवृत्त होता है, उनसे निवृत्त नहीं होता। किन्तु वाद-कथा में वादी प्रतिज्ञादि अवयवों में असमीचीनता का ज्ञान होने पर उनका प्रयोग नहीं करता। अपि च, जल्पकथा मे वादी अपनी पराजय देकर निश्चित पराजय की अपेक्षा सन्देहस्थिति उत्पन्न करने के लिये दुष्ट हेतुओं का प्रयोग करने से नहीं चूकता। अतः सूत्र में 'प्रमाणोपपन्न' का उपन्यास किया गया है।

इसका दूसरा फल भी है कि वादी वादकथा में प्रतिज्ञादि अवयवों का प्रयोग न कर स्वतन्त्र प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी स्वपक्षसिद्धि और परपक्षखण्डन कर सकता है।

तर्कानुगृहीत स्वार्थानुमान का ही वाद कथा में प्रयोग करना चाहिये, न कि चार्वाकों की तरह स्वयं अनिश्चित स्वार्थानुमान का। एतदर्थ तर्क ग्रहण किया गया है।

इस प्रकार न्यायभाष्य के अनुसार वादसूत्र की व्याख्या प्रस्तुत कर ग्रन्थकार अपने मत से सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि सूत्र में साधन पद का अर्थ स्वपक्षसिद्धि के लिये उपादीयमान प्रत्यक्षादि प्रमाणों में से कोई प्रमाण है तथा प्रतिपक्ष का निषेध करने के लिये प्रत्यक्षाद्यन्यतम प्रमाण का ग्रहण उपालम्भ पद का अर्थ है। प्रमाण अर्थात् अनुमान के द्वारा निश्चित सामर्थ्ययुक्त तथा तर्क के द्वारा प्रतिषेधसामर्थ्ययुक्त साधन और उपालम्भ का ही नैयायिक को वादकथा में प्रयोग करना चाहिये। एतदर्थ प्रमाण व तर्क का ग्रहण सूत्र में किया गया है।[1]

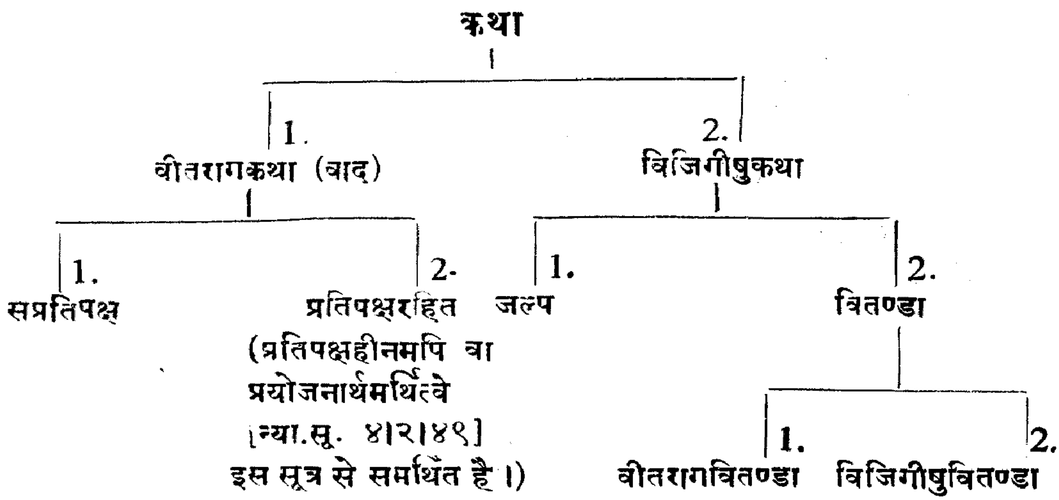
सूत्र में 'सिद्धान्ताविरुद्ध' पद का उपादान अपसिद्धान्तरूप निग्रहस्थान के संग्रह के लिये तथा 'पंचावयवोपपन्न' पद पांच हेत्वाभासों तथा अधिक और न्यून—इन निग्रहस्थानों के संग्रह के लिये है अर्थात् अपसिद्धान्तादि आठ निग्रहस्थानों का प्रयोग वादकथा में भी अनुमत है, ऐसा न्यायभाष्यकार का अभिमत है।[2] इस विषय में भासर्वज्ञ का कथन है कि अपसिद्धान्तादि आठ निग्रहस्थानों के उद्भावन से यदि वीतरागिता की निवृत्ति नहीं होती, तो अन्य निग्रहस्थानों के उद्भावन से कैसे हो सकती है? तथा अपसिद्धान्तादि निग्रहस्थानों की वादकथा में अभ्यनुज्ञा मानने पर प्रतिज्ञाहानि, अपार्थक, निरर्थक इत्यादि निग्रहस्थानों का प्रयोग भी वाद-कथा में दोष नहीं कहलायेगा। यदि यह कहा जाय कि निरर्थक, अपार्थक आदि निग्रहस्थानों का केवल त्याग के लिये वादकथा में उद्भावन किया जाता है, अन्य के निग्रह के लिये नहीं, तो अपसिद्धान्तादि निग्रहस्थानों का उद्भावन भी वादकथा में त्याग के लिये होता है, न कि गुर्वादि के निग्रह के लिये। अतः सिद्धान्ताविरुद्ध पद से अपसिद्धान्तरूप निग्रहस्थान की ओर पंचावयवोपपन्न पद से पंच हेत्वाभास और न्यून तथा अधिक—इन निग्रहस्थानों के उद्भावन की अनुमति वादकथा में मानना संगत नहीं, किन्तु सिद्धान्ताविरुद्ध तथा पंचावयवोपपन्न इन दोनों पदों का ग्रहण उदाहरण के लिये हैं। अर्थात् सिद्धान्ताविरुद्ध पद से अपसिद्धान्त की अभ्यनुज्ञा और पंचावयवोपपन्न पद से पञ्चहेत्वाभासादि निग्रहस्थानों की अभ्यनुज्ञा वादकथा में दिग्दर्शन के लिये है। अन्य छल-जाति-निग्रहस्थान—इन सभी की उद्भावना वादकथा में की जा सकती है।[3] इतना होने पर भी जल्प तथा वितण्डा कथा से वादकथा का यही भेद है कि वादकथा में छल-जाति-निग्रहस्थानों का प्रयोग त्याग के लिये है और उनका परित्याग तभी बन सकता है जब उनका ज्ञान हो और जल्प तथा वितण्डा में छलादि का प्रयोग जय-पराजय के लिये किया जाता है। इसीलिये जल्पलक्षणसूत्र में छल, जाति, निग्रहस्थानों के प्रयोग का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। अथवा वादकथा सिद्धान्ताविरुद्ध तथा पंचावयवोपपन्न होनी चाहिये इस बात का शिष्यों को ज्ञान कराने के लिये वादकथा में इन तीनों पदों का

1. न्यायभूषण, पृ. ३३०
2. न्यायभाष्य, १/२/१
3. न्यायभूषण, पृ. ३३१

ग्रहण किया गया है, क्योंकि कुछ शुष्क तार्किक सिद्धान्तविरुद्ध भी वाद कर बैठते हैं। जैसे—ईश्वरज्ञान अनित्य है, विभु द्रव्य का विशेष गुण होने से, ऐसे सिद्धान्त-विरुद्ध वाद का निषेध करने के लिये सूत्र में सिद्धान्ताविरुद्ध पद दिया गया है।[1] इसीलिये मनु ने कहा है कि वेदशास्त्राविरोधी तर्क[2] ही काम में लेना चाहिये, न कि शास्त्रविरुद्ध।

इसी प्रकार स्वपक्षसाधन, प्रतिपक्षदूषण, साधनसमर्थन, दूषणसमर्थन, शब्द-दोषवर्जन (निरर्थक, अपार्थक अप्रतीतप्रयोग व अतिद्रुतोच्चारणादिदोषपरित्याग) इन पांच अवयवों से युक्त वाद कथा होनी चाहिये, जिससे अभीष्ट अर्थ की सिद्धि हो सके। एतदर्थ पंचावयवोपपन्न पद दिया गया है। अथवा वाद दो प्रकार का होता है—(१) शास्त्रस्वीकारपूर्वक तथा (२) उससे विपरीत। शास्त्र को स्वीकार कर जो वाद कथा की जाती है, वह वाद कथा सिद्धान्त से अविरुद्ध होनी चाहिये और शास्त्र को स्वीकार न करके जो वादकथा की जाती है, वह पंचावयवयुक्त होनी चाहिये, उसमें शास्त्रविरोध की उद्भावना दोष नहीं माना जाता, किन्तु जिससे पंचावयवोपपन्नता में कोई विरोध आता हो, उसी को वहां निग्रहस्थान माना जाना चाहिए।[3]

वीतराग कथा दो प्रकार की होती है—एक प्रतिपक्षयुक्त तथा दूसरी प्रतिपक्ष-रहित, जैसाकि 'प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे'[4] सूत्र में बतलाया गया है। इस प्रकार वीतरागकथा के दो भेद मानने पर कथा के भेद चार हो जाते हैं न कि तीन। ऐसा होने पर भी उद्देशसूत्र में जो तीन भेद बतलाये गये हैं, वे कथा की विशेष संज्ञाओं को लेकर हैं। भासर्वज्ञ द्वारा किये गये कथा के इस विभाजन को निम्नलिखित रेखाचित्र से भी स्पष्ट किया जा सकता है :



1. न्यायभूषण, पृ. ३३१
2. आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥ —मनुस्मृति, १२/१०६
3. न्यायभूषण, पृ. ३३१–३३२
4. न्यायसूत्र, ४/२/४९

अथवा कथा के भेद वाद-जल्प-वितण्डा-ये तीन ही हैं, क्योंकि प्रतिपक्षहीन वाद वितण्डा कथा ही है।[1]

विजिगीषुकथा :

विजिगीषु विजिगीषु के साथ लाभ, पूजा तथा ख्याति की इच्छा से अपनी जय तथा दूसरे की पराजय के लिये प्रवृत्त होता है, उसे विजिगीषुकथा कहते हैं। यद्यपि जय-पराजयमूलक तथा लाभादि की इच्छा से प्रवृत्त होने वाली कथा मोक्षमार्ग के विरुद्ध होने से उपयुक्त नहीं है, तथापि वह मुमुक्षु के लिये न्याय्य है, स्वविजय तथा परपराजय में प्रवृत्त संसारी के लिये तो उपादेय ही है। मुमुक्षु की मोक्ष की इच्छा से प्रवृत्त होता है न कि विजयकाम पुरुष। यदि वीतराग मुमुक्षु भी विजिगीषु द्वारा आक्षेप किये जाने पर दूसरों के अनुरोध से इस कथा के परिहार में समर्थ नहीं है, तो वह भी विजिगीषु के साथ प्रतिवादी के अनुग्रह (मोक्षशास्त्रादि में श्रद्धोत्पादन) के लिये और ज्ञानांकुर की रक्षा[2] के लिये उस कथा को कर सकता है। यह विजिगीषुकथा वादी, प्रतिवादी, सभापति तथा प्राश्निक इन चारों अंगों से युक्त होती है। विजिगीषु-कथा जल्प, वितण्डा भेद से दो प्रकार की ही है।[3]

जल्पनिरूपण

जल्प का लक्षण सूत्रकार ने 'यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः'[4] इस प्रकार किया है। सूत्र में 'यथोक्तोपपन्नः' पद जल्प तथा वितण्डा कथा समस्तवादलक्षणों से युक्त होनी चाहिये-यह बतला रहा है। जल्प और वाद के समस्त लक्षणों से युक्त होने पर भी छल-जाति-निग्रहस्थान आदि अंगाधिक्य के कारण जल्प, वितण्डा का वाद से भेद है, इसी बात को बतलाने के लिये सूत्र में 'छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भः' पद दिया है। वार्तिककार 'यथोक्तोपपन्नः' में एक उपपन्न पद का निर्देश और मान रहे हैं अर्थात् 'यथोक्तोपपन्नोपपन्नः'[5] पद मान रहे हैं। तात्पर्य यह है कि वादकथा के जो अङ्ग जल्पकथा अङ्ग बन सकते हैं, उनसे युक्त तथा छल, जाति, निग्रहस्थान के द्वारा जिसमें स्वपक्ष-साधन तथा परपक्षखण्डन किया जाता है, ऐसी कथा को जल्प कहते हैं। यद्यपि छलादि के

---

1. न्यायभूषण, पृ. ३३२.
2 तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्।
—न्यायसूत्र, ४/२/५०
3 न्यायसार, पृ. १६
4. न्यायसूत्र, १/२/२
5. अथवा यथोक्तेनोपपन्नेनोपपन्नो यथोक्तोपपन्नोपपन्न इति
प्राप्ते गम्यमानत्वादेकस्योपपन्नशब्दस्य लोपः, यथा गौरथ इति।—न्यायवार्तिक, १।२।२

अयुक्त उत्तर होने से किसी पक्ष की सिद्धि या खण्डन उनसे नहीं बन सकता, तथापि विजिगीषु पुरुष प्रतिपक्षी को व्यामुग्ध करने के लिये लोक में छलादि का प्रयोग करते हैं और छलादि के द्वारा मन्दधी पुरुषों को लोक में पक्षसिद्धि तथा प्रतिपक्षखण्डन की भ्रान्ति हो जाती है। इस लोकसिद्ध भ्रान्ति के अनुवाद रूप से ही सूत्र में छलजात्यादि को पक्षसिद्धि तथा प्रतिपक्षखण्डन का साधन बतलाया गया है।

कतिपय विद्वानों का मत है कि प्रतिपक्ष के द्वारा व्याकुलचित्त वाले नैयायिकों को भी जब तक समीचीन साधनों का स्फुरण नहीं होता है, तब तक छलादि का प्रयोग करना चाहिये। अन्यथा ऐसे अवसर पर छलादि का प्रयोग न करने वाले पुरुषों में अप्रतिभारूप निग्रहस्थान का उद्भावन कर असत्पक्षवादी विजयी बन जायेंगे।[1] सत्पक्षवादियों को भी 'निगृह्णीयात यथाशक्ति देवताचार्यनिन्दकान्'— इस कथन के अनुसार प्रमाणमूलक समीचीन साधन का स्फुरण न होने पर छलादि-प्रयोग के द्वारा प्रतिपक्षी के निग्रह की अनुमति प्रदान की गई है। भाष्यकार का अभिमत तो यह है कि छलादि साक्षात् पक्षसिद्धि तथा प्रतिपक्षखण्डन में काम नहीं आते हैं। यह कार्य तो प्रमाण तथा तर्कों के द्वारा ही किया जाता है, किन्तु प्रमाणों द्वारा साधनोपालम्भ करने पर यदि कोई उसके परिहार के लिये छलादि का प्रयोग करता है, तो उन छलादि के परिहार के लिये यदि प्रत्युत्तर में छलादि की उद्भावना नहीं की जायेगी, तो उपन्यस्त प्रमाणों से दूषितता की प्रतीति होने पर स्वपक्षसिद्धि तथा परपक्षखण्डन नहीं बनेगा, अतः प्रतिपक्षी द्वारा प्रयुक्त छलादि के परिहार के लिये छलादि का प्रयोग वादी के लिये आवश्यक है। प्रतिवादी द्वारा उद्भावित छलादि में वादी द्वारा उद्भावित छलादि से दुष्टत्व की प्रतीति हो जाने पर निर्दुष्ट प्रमाणों द्वारा स्वपक्षसिद्धि तथा परपक्ष-निराकरण हो जाता है। इस प्रकार वादी छलादि का उद्भावन प्रमाणों द्वारा स्वपक्षसिद्धि व परपक्षखण्डन का अंग बन जाता है।[2]

वितण्डा

वाद-जल्प-वितण्डा भेद से त्रिविध कथा के प्रसंग में वितण्डा कथा का निरूपण करते हुए भासर्वज्ञ ने वितण्डा के 'स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा'[3] इस सूत्र में 'सः' पद से जल्प का ही ग्रहण है, ऐसा न्यायभाष्यकार वात्स्यायन मानते हैं।[4] परन्तु भासर्वज्ञ के अनुसार 'सः' पद से वाद और जल्प दोनों का ग्रहण है अर्थात् प्रतिपक्षस्थापनाहीन वाद तथा जल्प दोनों ही वितण्डा कहलाते हैं।[5] अतः वितण्डाकथा विजिगीषुकथा तथा वीतरागकथा भेद से दो प्रकार की है। सूत्रकार ने भी 'प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे' इस सूत्र द्वारा वीतरागवितण्डा का निर्देश किया है।

1. न्यायभूषण, पृ. ३३३
2. न्यायभाष्य, १/२/२
3. न्यायसूत्र, १/२/३
4. न्यायभाष्य, १/२/३
5. न्यायभूषण, पृ. ३३४

वीतरागकथा में वैतण्डिक स्वपक्ष का साधन नहीं करता, अपितु प्रतिवादी के पक्ष का निराकरण मात्र करता है। अतः स्वपक्षस्थापनाहीन कथा को वितण्डा कहना चाहिए न कि प्रतिपक्षस्थापनाहीन को, क्योंकि वैतण्डिक प्रतिपक्ष का तो निराकरण ही करता है, स्थापन नहीं। इस प्रश्न का समाधान करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि सूत्र में प्रतिपक्ष पद वैतण्डिक के स्वपक्ष का ही बोधक है, किन्तु वैतण्डिक के स्वपक्ष को ही प्रतिवादी के पक्ष की अपेक्षा से प्रतिपक्ष होने के कारण प्रतिपक्ष कहा गया है।[1] उद्योतकराचार्य ने प्रतिपक्ष का अर्थ 'द्वितीय पक्ष' किया है।[2] उसका भी तात्पर्य वैतण्डिक के स्वपक्ष में ही है। इसी लिये वाचस्पति मिश्र ने उद्योतकर के अभिप्राय का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—'पूर्ववादिपक्षापेक्षया वैतण्डिकस्य आत्मीय एव पक्षः प्रतिपक्षः'।[3]

वीतराग वितण्डा कथा वहां होती है जहां गुरु शिष्य के दुराग्रह के निवारणार्थ युक्ति द्वारा उसके पक्ष का निराकरण करता है। वहां गुरु में विजय की इच्छा नहीं है, किन्तु तत्त्वनिर्णयार्थ ही शिष्य के पक्ष का निराकरण करता है, अतः उसे वीतरागकथा माना जाता है तथा गुरु स्वपक्ष का साधन नहीं करता, अतः उसे वितण्डा कहा जाता है। जहां वादी विजय की भावना से स्वपक्ष की सिद्धि न करते हुए प्रतिवादी के पक्ष का निराकरण करता है, वह विजिगीषुवितण्डा कथा है।

जब वैतण्डिक किसी पक्ष का साधन नहीं करता, तो उसके अपने पक्ष, जो कि प्रतिवादी के पक्ष की अपेक्षा से प्रतिपक्ष कहलाता है, का अभाव ही है, क्योंकि साधन के द्वारा व्यक्तीक्रियमाण ही पक्ष होता है। साधन के अभाव में उसकी अभिव्यक्ति न होने से वह पक्ष अर्थात् प्रतिपक्ष नहीं कहला सकता। अतः 'प्रतिपक्षहीनो वितण्डा' यही वितण्डा का लक्षण मानना चाहिये, 'स्थापना' पद का प्रयोग उसमें निरर्थक है – यह कथन उचित नहीं, क्योंकि वादी जिसे स्वीकार करता है, वह पक्ष कहलाता है तथा उससे विरुद्ध या प्रतिवादिस्वीकृत प्रतिपक्ष कहलाता है, यही पक्ष, प्रतिपक्ष की परिभाषा है।[4] निर्णीयमान को ही पक्ष मानने पर निर्णीयमान वस्तु के एक होने से उसमें किसी प्रकार का विवाद न होने के कारण वादी-प्रतिवादी का विवाद ही अनुपपन्न हो जाता है। अतः वादी द्वारा किसी वस्तु का अभ्युपगम ही पक्ष कहलाता है, यह पक्ष-परिभाषा मानने पर वितण्डाकथा में भी वैतण्डिक का स्वपक्ष सिद्ध हो जाता है, जिसे कि प्रतिवादी की अपेक्षा से प्रतिपक्ष कहा गया है। उसका अभाव वितण्डा में अनुपपन्न है। केवल उसकी स्थापना नहीं की जाती, अतः सूत्रोक्त लक्षण ही संगत है।

1. स्वपक्ष एव वैतण्डिकस्य प्रतिवादिपक्षापेक्षयात्र प्रतिपक्ष उक्तः। —न्यायभूषण, पृ. ३३४
2. न्यायवार्तिक, १/२/३
3. तात्पर्यटीका, १/२/३
4. न्यायभूषण, पृ. ३३४

जिस प्रकार निर्णय के लक्षण में पक्ष शब्द से स्वपक्षसाधन अभिप्रेत है, उसी प्रकार वितण्डा के लक्षण में भी प्रतिपक्ष शब्द से प्रतिपक्षस्थापना अर्थ की प्रतीति हो जाने से स्थापना शब्द की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए भासर्वज्ञने कहा है कि कतिपय विद्वानों का अभिमत है कि वैतण्डिक का कोई पक्ष नहीं होता, अपितु परपक्ष-दूषण मात्र ही वितण्डा कथा है, उस मत का निषेध करने के लिये सूत्र में स्थापना पद की आवश्यकता है ।[1] अर्थात् वितण्डा में वैतण्डिक के स्वपक्ष का अभाव अनुपपन्न है, क्योंकि किसी के द्वारा प्रयोजन के विषय में पूछने पर यदि वैतण्डिक प्रयोजन को स्वीकार कर लेता है, तब वही उसका पक्ष बन जाता है और दूषणमात्र वितण्डा है अर्थात् वितण्डा में स्वपक्ष नहीं होता, ऐसा मानने वालों के मत से उसमें (वैतण्डिक में) वैतण्डिकत्व नहीं रहेगा । यदि प्रयोजन स्वीकार नहीं करता है, तो वह लौकिक परीक्षक दोनों से बहिर्भूत होकर उन्मत्त की तरह उपेक्षणीय बन जायगा, क्योंकि बिना प्रयोजन के कोई भी लौकिक या परीक्षक किसी विषय में प्रवृत्त नहीं होता । परपक्षप्रतिषेध का बोधन करना ही वैतण्डिक का प्रयोजन है, यह मानने पर भी जो परपक्ष-प्रतिषेध का बोधन करता है, जो उसे जानता है, जिस साधन के द्वारा ज्ञापन करता है तथा जो ज्ञापित किया जाता है, इन चारों को स्वीकार करने पर दूषण मात्र को वितण्डा मानने वालों के पक्ष में वैतण्डिक में वैतण्डिकत्व की हानि होती है । यदि उक्त चारों को स्वीकार नहीं करता है, तो उनके बिना अपरपक्ष का ज्ञापन न होने से अपरपक्ष-प्रतिषेधज्ञापनरूप प्रयोजन अनुपपन्न हो जाता है और वह पूर्ववत् उन्मत्त की तरह उपेक्षणीय बन जाता है ।

स्थापनाहीन वाक्यसमूह वितण्डा है, यह पक्ष भी उपर्युक्त पक्ष की तरह अनुपपन्न है, क्योंकि यदि वाक्यसमूह के वाच्यार्थ को वैतण्डिक स्वीकार करता है, तो वही उसका स्थापनीय पक्ष हो जाता है । यदि वाक्यसमूह के अर्थ को स्वीकार नहीं करता है, तो उसका वचन अनर्थक प्रलापमात्र हो जाता है ।[2]

छल

अङ्गभूत कथाभेदों के निरूपण के पश्चात् वाद कथा में वर्जनीयत्वेन तथा जल्प व वितण्डाकथा में स्वपक्षसिद्ध्यर्थत्वेन व परपक्षप्रतिषेधार्थत्वेन उपादेय प्रसंग-प्राप्त छलादि का निरूपण आवश्यक है । अतः उनका क्रमशः निरूपण किया जा रहा है ।

अन्यार्थकल्पना की उपपत्ति (संभव) से जहां वचन का निराकरण किया जाता है या उसे दूषित ठहराया जाता है, उसे छल कहते हैं, जैसाकि सूत्रकार ने कहा है—'वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम् ।'[3] हेत्वाभासों की तरह छलसामान्य का

1. न्यायभूषण, पृ. ३३४ 2. वही

3. न्यायसूत्र, १।२।१०

उदाहरण भी उसके विशेष लक्षण में द्रष्टव्य है, क्योंकि छलविशेष के उदाहरण से अन्य छलसामान्य के लक्षण का उदाहरण नहीं होता। लक्षणत्रैविध्य के कारण छल तीन प्रकार का बतलाया गया है—'तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यछलमुपचारच्छलं चेति।'[1]

वाक्छल

किसी अर्थ को बतलाने के लिये जहाँ अनेकार्थवाचक पद या वाक्य का प्रयोग किया जाता है, उसमें वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना कर वक्ता के वचन को दूषित ठहराना वाक्छल कहलाता है। यद्यपि तीनों ही छलों में वचन के कारण होने से वाक्छलता की आपत्ति आती है, तथापि अन्य छलों में सामान्यादि निमित्त प्रधान है और इसमें अनेकार्थाभिधायी पद या वाक्यरूप वचन ही प्रधान कारण है, अतः इसे वाक्छल कहा जाता है, अन्य को नहीं। जैसे—किसी ने 'नवकम्बलोऽयं माणवकः' इस वाक्य का प्रयोग किया। यहां वक्ता का अभिप्राय नवकम्बलपद से 'नवीन कम्बल वाला' है, किन्तु 'नव' शब्द अनेकार्थाभिधायी है। अतः प्रतिवादी वक्ता के अभिप्रेत नवीन अर्थ से भिन्न नौ संख्या अर्थ करके पास नौ कम्बल नहीं, इस प्रकार वक्ता के वचन को निरस्त करता है या उसमें दोष देता है। यह वाक्छल है।

यहां प्रतिवादी अप्रतिपत्तिलक्षण निग्रहस्थान से ग्रस्त है, क्योंकि 'कुतोऽस्य नवकम्बलाः' ऐसा कहने वाले प्रतिवादी से यह प्रश्न किया जा सकता है कि उसने वक्ता के अर्थ को जानकर 'कुतोऽस्य नवकम्बलाः' यह दूषण दिया है अथवा बिना जाने। यदि जानकर दिया है, तो प्रकरणादि की सहायता के बिना सामान्य शब्द अर्थविशेष का ज्ञान नहीं करा सकता। अतः अर्थविशेष के विषय में वक्ता से ही पूछना चाहिये था कि उसका क्या अभिप्राय है। उसके अभिप्राय को जानकर उसका स्वीकार या निराकरण करना चाहिये, न कि स्वेच्छा से। वस्तु के प्रत्यक्ष होने पर जहां शब्दप्रयोग किया जाता है, वहां उस शब्द के अर्थ का नियामक वस्तुदर्शन ही है। जैसे—'श्वेतो धावति' यह कहने पर कोई श्वेत वस्तु नहीं दीख रही है, अपितु कुत्ता दौड़ता हुआ दीख रहा है, तो वहां उस वाक्य का अर्थ 'कुत्ता दौड़ रहा है' यह होगा। इसी प्रकार नवीन कम्बल के दिखाई देने पर वक्ता द्वारा प्रयुक्त 'नवकम्बलोऽयं माणवकः' का अर्थ—'इस बटु के पास नवीन कम्बल है'—यह होगा। उसको न समझकर उसमें दोषोद्भावन करना अप्रतिपत्तिनामक निग्रहस्थान है। यदि उसने 'नौ कम्बल वाला' यह अर्थ समझा है, तो विरुद्धार्थप्रतिपत्तिरूप विप्रतिपत्तिनामक निग्रहस्थान है। सूत्र में 'अर्थ' पद का ग्रहण इसलिये किया गया है कि प्रतिवादी स्वरूपतः वचन का प्रतिषेध नहीं कर रहा है, अपितु अर्थ के प्रतिषेध से उसका प्रतिषेध कर रहा है।

1. न्यायसूत्र, १।२।१३

सामान्यछल

सामान्यछल का लक्षण सूत्रकार ने 'सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसद्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम्'[1] किया है। भासर्वज्ञ ने इसकी व्याख्या यह की है कि ब्राह्मण में चतुर्वेदाभिज्ञत्वादि धर्म बन सकता है, यही सूत्र में 'संभवत्' शब्द से कहा गया है। इस धर्म से रहित व्रात्यादि में 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग केवल ब्राह्मणत्व को लेकर होता है, किन्तु ब्राह्मणत्वरूप अतिसामान्य धर्म के सम्बन्ध से व्रात्यादि में भी ब्राह्मण शब्द के संभावित चतुर्वेदाभिज्ञत्वादि अर्थ की कल्पना कर जो वक्ता के वचन का विघात किया जाता है, उसे सामान्य छल कहते हैं। क्योंकि यहां अर्थान्तर की कल्पना ब्राह्मणत्वरूप सामान्य धर्म के द्वारा की गई है, अतः इसे सामान्य छल कहते हैं। जैसे—यह ब्राह्मण चतुर्वेदाभिज्ञ है, यह किसी के कहने पर न्यायवादी कहता है कि इसमें क्या आश्चर्य की बात है, ब्राह्मण में चतुर्वेदाभिज्ञत्व बन सकता है। इस पर कोई छलवादी ब्राह्मणत्व सामान्य धर्म को चतुर्वेदाभिज्ञत्व का लिंग मानकर यदि कहता है कि तुम्हारा कहना उचित नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण तो व्रात्य भी होता है, किन्तु वह चतुर्वेदाभिज्ञ नहीं। अतः तुम्हारा वचन अनैकान्तिक है।

यहां भी वाक्छल की तरह प्रतिवक्ता निगृहीत है, क्योंकि उसने वक्ता के अभिप्राय को समझकर वक्ता के वचन का विघात किया है अथवा बिना समझे। यदि बिना समझे किया है, तो अप्रतिपत्तिरूप निग्रहस्थान है। यदि समझकर किया है, तो उसके यथार्थ अभिप्राय का अवबोध न होने से विप्रतिपत्तिरूप निग्रहस्थान है, क्योंकि वादी ने ब्राह्मणत्व को चतुर्वेदाभिज्ञत्व में कारण नहीं बतलाया है जिससे कि व्रात्य में साध्यव्यभिचारोद्भावना की जाय और न ब्राह्मणत्व को वेदाभिज्ञत्व का उत्पादक ही बतलाया है। किन्तु जहां ब्राह्मणत्व होता है, वहां चतुर्वेदाभिज्ञत्व भी हो सकता है क्योंकि लोक में बहुधा ऐसा देखा जाता है। यदि ब्राह्मण होने पर भी किसी कारणवैगुण्य से उसमें वेदज्ञता नहीं है, तो वह उस धर्म के अयोग्य नहीं है। जैसे—जहां अच्छा खेत होता है, वहां अच्छा धान उपजता है। यहां सुक्षेत्रत्व शालिसम्पत्ति का लिंग नहीं है, किन्तु सुक्षेत्र में शालिसम्पत्ति की योग्यता है, इतना ही अभिप्राय है। सुक्षेत्र होने पर भी वृक्षादि कारणों के अभाव से शालिसम्पत्ति नहीं हो सकती।

उपचारच्छल

वक्ता द्वारा गौण शब्द का प्रयोग करने पर मुख्यार्थकल्पना के द्वारा उसका प्रतिषेध उपचारच्छल कहलाता है। सूत्रकार ने 'धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम्'[2] —यह लक्षण किया है। जैसे, वादी ने मंचस्थ पुरुषों के अभिप्राय से लाक्षणिक मंच शब्द का प्रयोग 'मंचाः क्रोशन्ति' इस रूप से किया।

1. न्यायसूत्र, १।२।१३
2. „ १।२।११

यहां वक्ताने गौणार्थ (मंचस्थ पुरुष) के अभिप्राय को लेकर मंच शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु छलवादी मंच शब्द के मुख्यार्थ को लेकर यदि यह कहे कि मंचस्थ पुरुष चिल्लाते हैं, मंच नहीं, क्योंकि मंच अचेतन है। इस प्रकार जो वादी के वचन का प्रतिषेध किया जाता है, वह उपचार छल है।

यहां भी छलवादी निगृहीत है, क्योंकि यदि प्रतिवादी के अभिप्राय को न समझ कर उसके वचन का प्रतिषेध करता है, तो अप्रतिपत्ति निग्रहस्थान से निगृहीत है। यदि समझ कर करता है, तो वक्ता के अभिप्राय से विपरीत अर्थ समझने के कारण विप्रतिपत्तिरूप निग्रहस्थान में निगृहीत है, क्योंकि लोक और शास्त्र में मुख्य तथा गौण दोनों प्रकार से शब्दों का प्रयोग देखा जाता हैं। जहां मुख्यार्थ के अभिप्राय से प्रयोग होता है, वहां मुख्यार्थ का ही स्वीकार या प्रतिषेध होना चाहिये तथा जहां वक्ता ने गौण शब्द का प्रयोग किया है, वहां उसके गौण अर्थ का ही स्वीकार या प्रतिषेध करना चाहिए। किन्तु यहां वैपरीत्य है। वक्ता ने गौणार्थ के अभिप्राय से शब्द का प्रयोग किया है और प्रतिवादी मुख्यार्थ के अभिप्राय से उसका प्रतिषेध कर रहा है।

जातिलक्षणविमर्श :

भासर्वज्ञ ने जाति का सामान्य लक्षण 'प्रयुक्ते हि हेतौ समीकरणाभिप्रायेण प्रसंगो जातिः'[1] किया है। अर्थात् किसी साध्य-विशेष की अनुमिति के लिये वादी द्वारा हेतु का प्रयोग करने पर प्रतिवादी वादी के पक्ष के साथ समानता (समीकरण[2]) के अभिप्राय से जो दोषोद्भावन करता है, उसे जाति कहते हैं। जैसे-वादी नैयायिक अथवा वैशेषिक शब्द के अनित्यत्व के साधक 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् पटवत्' इस अनुमानवाक्य का प्रयोग करता है। इस पर जातिवादी मीमांसक वादी के अनुमानवाक्य में दोषान्वेषण करने में असमर्थ होकर निरर्थक अनिष्ट आपत्तियां उठाने का प्रयास करता है कि जैसे शब्द पट की तरह कृतक होने से अनित्य है, उसी प्रकार शब्द अमूर्त होने के कारण आकाश की तरह नित्य होना चाहिये। इस प्रकार शब्द में अनित्यत्वसिद्धि के लिये वादी द्वारा कृतकत्व हेतु प्रयुक्त करने पर प्रतिवादी वादी के पक्ष से साम्यप्रतिपादन की दृष्टि से शब्द में 'शब्दो नित्योऽमूर्तत्वादाकाशवत्' इत्याकारक अनुमानवाक्य का प्रयोग कर नित्यत्व की सिद्धि के लिए अमूर्तत्व हेतु का प्रयोग करता है। अनित्यत्व का खण्डन करता हुआ प्रतिपक्षी वादी के साथ समता सिद्ध करता है। अर्थात् जैसे नैयायिक पटादिदृष्टान्त से कृतकत्व हेतु के द्वारा शब्द में अनित्यता सिद्ध कर सकता है, तो मैं मीमांसक भी आकाशदृष्टान्त से अमूर्तत्व हेतु के द्वारा शब्द में नित्यत्व सिद्ध कर सकता हूं। इस प्रकार अनित्यत्वसाधक कृतकत्व हेतु में दोषोद्भावन करता है, इसे ही जाति

1. न्यायसार, पृ. १७
2 (अ) प्रतिपक्षेणाविशेषप्रतिपादनं समीकरणम्।—न्यायभूषण, पृ, ३४२
(ब) समीकरणार्थः प्रयोगः समः।—न्यायवार्तिक, ५।२।१

कहते हैं। प्रयुक्त हेतु में समीकरणाभिप्राय से वादी का दोषोद्भावन साधर्म्य व वैधर्म्य दोनों से होता है। इसीलिये सूत्रकार ने 'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः'[1] यह जाति का लक्षण बतलाया है। अतः सूत्रलक्षण का हमारे जातिलक्षण से कोई विरोध नहीं है, क्योंकि उसमें जिन प्रकारों से वादी के पक्ष का प्रतिषेध किया जाता है, उनका दिग्दर्शन है।

भाष्यकारोक्त 'प्रयुक्ते हि हेतौ यः प्रसंगो जायते, स जातिः'[2] इस जातिलक्षण से समानता के कारण भासर्वज्ञ ने उपर्युक्त जातिलक्षण न्यायभाष्य के अनुसार किया है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। अपि च, जाति के भाष्यकारकृत सामान्यलक्षण का परिष्कार करते हुए भासर्वज्ञ ने उसमें 'समीकरणाभिप्रायेण' इतना अंश और जोड़ दिया है। जाति के भाष्यकार तथा भासर्वज्ञकृत सामान्यलक्षण में प्रयुक्त 'प्रसंग'[3] शब्द में सूत्रकार के जातिलक्षण[4] का अर्थ समाविष्ट हो जाता है।

'प्रसंगो जातिः' इतना ही जाति का लक्षण करने पर प्रत्यक्षाभास आदि में जातिलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी, एतदर्थ लक्षण में 'हेतौ प्रयुक्ते' यह दिया गया है। असिद्धत्वादि दोष की उद्भावना द्वारा भी प्रतिवादी वादी के पक्ष का प्रतिषेध करता है और वह हेतुप्रयोग द्वारा ही होता है। इस प्रकार जातिलक्षण की असिद्धत्वादि दोषों में अतिव्याप्ति हो जाती है। एतदर्थ 'समीकरणाभिप्रायेण' पद दिया गया है। इसके देने से अतिव्याप्ति का निवारण हो जाता है, क्योंकि असिद्धत्वादि का उद्भावन परपक्षखण्डन के लिये किया जाता है, स्वपक्ष की पर-पक्ष से समानता बतलाने के लिए नहीं।

अपरार्क का कहना है कि केवल प्रसंग जाति नहीं, इस प्रयोजन से 'समीकरणाभिप्रायेण' पद दिया गया है। अर्थात् प्रतिपक्ष से साम्य बतलाने के उद्देश्य से किया गया प्रतिषेधमात्र जाति नहीं होती, क्योंकि प्रतिपक्ष से साम्यप्रति-पादन के अभिप्राय से किया गया सम्यक् प्रसंग जाति नहीं कहलाता। अतः अपरार्क का कथन है कि यहां सम्यक् पद का अध्याहार कर लेना चाहिये और इस प्रकार असमीचीन प्रसंग अर्थात् प्रसंगाभास जाति है न कि सम्यक् प्रसंग।[5] परन्तु

1 न्यायसूत्र, १।२।२८

2. न्यायभाष्य, १।२।२८

3. स च प्रसंगः साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानमुपालम्भः प्रतिषेध इति।

—न्यायभाष्य, १।२।१८

4 साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः।—न्यायसूत्र, १।२।१८

5. न्यायमुक्तावली, प्रथम भाग, पृ. २५३

वस्तुस्थिति यह है कि जाति असदुत्तर के रूप में प्रसिद्ध है, इसलिये जातिवादी द्वारा किया जाने वाला प्रसंग प्रसंगाभास ही होता है न कि सम्यक् प्रसंग, क्योंकि प्रतिवादी अपने अभिमान से साम्य बतलाता है, वह साम्य वास्तविक नहीं हो सकता। यदि असदुत्तररूप जाति के द्वारा उपस्थापित साम्य वास्तविक होगा, तो न्यायशास्त्र में प्रसिद्ध जाति की असदुत्तरस्वरूपता व्याहत हो जायेगी, जो कि अभीष्ट नहीं है। अतः सम्यक् प्रसंग की निवृत्ति के लिये असम्यक् पद का अध्याहार करना निरर्थक है।

न्यायसार के टीकाकार जयसिंह सूरि तथा वासुदेव सूरि का कथन है कि भासर्वज्ञ द्वारा प्रस्तुत जातिलक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है। प्राप्तिसम, अप्राप्तिसम आदि जातियों में इसकी व्याप्ति नहीं है, क्योंकि उनमें समीकरण के अभिप्राय से प्रवृत्ति नहीं होती।[1] अतः वासुदेव का मत है कि बहुलता की अपेक्षा से यह लक्षण किया गया है[2] अर्थात् अधिकांश जातिभेदों में यह लक्षण घटित हो जाता है।

जातिभेद निरूपण

सूत्रकार ने 'तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम्'[3] इस सूत्र द्वारा जातिभेदों का बाहुल्य बतलाया है। सूत्र में बहुत्व पद से असंख्यात अर्थ विवक्षित है न कि केवल बहुत्व। अन्यथा साधर्म्यसम, वैधर्म्यसम आदि जातिभेदों के उल्लेख द्वारा ही बहुत्व का लाभ हो जाने से उपर्युक्त सूत्र में बहुत्व पद का नैरर्थक्य हो जाता। उपर्युक्त रीति से जातिभेदों के असंख्यात होने पर भी जाति के मुख्य भेदों का परिगणन न्यायसूत्र में किया गया है—'साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्य-प्राप्तिप्रसंगप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणाहेत्वार्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमा इति'।[4] 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसंबध्यते'—इस नियम के अनुसार 'सम' शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होता है। जैसे—साधर्म्यसम, उत्कर्षसम, वैधर्म्यसम, अपकर्षसम आदि।

(१) साधर्म्यसम तथा (२) वैधर्म्यसम

सूत्रकार ने साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम इन दो जातिभेदों का सम्मिलित रूप से एक ही सूत्र में लक्षण दे दिया है—'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ'।[1] साधर्म्य अर्थात् अन्वय से और वैधर्म्य अर्थात् व्यतिरेक से

---

1. (अ) न्यायतात्पर्यदीपिका, पृ. १६७
   (ब) न्यायसारपदपञ्चिका, पृ. ६५
2. न्यायसारपदपञ्चिका, पृ. ६५
3. न्यायसूत्र, १।२।२०
4. „ ५।१।१

दृष्टान्त का कथन करने पर दृष्टान्तधर्म के विपर्यय अर्थात् प्रतिदृष्टान्तधर्म के संभव से वादिप्रतिपादित धर्म का जो प्रतिषेध किया जाता है, उन्हें क्रमशः साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम कहते हैं। जैसे—वादी द्वारा 'अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् पटवत्' इस प्रकार शब्द में अनित्यत्वसिद्धि के लिये अन्वयव्याप्ति के उदाहरण का कथन करने पर प्रतिवादी उसके पक्ष का खण्डन करता है कि यदि अनित्य पट से समानता के कारण शब्द को अनित्य माना जाता है, तो नित्य आकाश से अमूर्तत्वरूप समानता के कारण शब्द को नित्य क्यों न माना जाय? अनित्य पट से साधर्म्य के कारण शब्द को अनित्य ही माना जाय, नित्य आकाश से साधर्म्य होने पर भी शब्द को नित्य नहीं माना जाय—इस प्रकार शब्द और पट के कृतकत्वरूप साधर्म्य के आधार पर शब्द को वादी द्वारा अनित्य बतलाने पर प्रतिवादी शब्द और आकाश में अमूर्तत्वसाधर्म्य से शब्द को नित्य बतलाता है। साधर्म्य से प्रयुक्त हेतु का साधर्म्य से प्रतिषेध करने के कारण यह साधर्म्यसम जाति कहलाती है।

इसी प्रकार नित्य आकाश से अमूर्तत्व साधर्म्य के बल से जब प्रतिवादी शब्द के अनित्यत्व का खण्डन करता है, तो वादी अपने पक्ष को पुनः सिद्ध करने के लिये 'यन्नित्यं तदकृतकं दृष्टं यथाकाशम्' इस प्रकार वैधर्म्य अर्थात् व्यतिरेक-व्याप्ति से साधन का प्रयोग करता है। तब प्रतिवादी भी शब्द को नित्य सिद्ध करने के लिये कहता है कि यदि नित्य आकाश से वैधर्म्य के कारण शब्द को अनित्य मानते हो, तो अनित्य घट के साथ शब्द के नीरूपत्व तथा अमूर्तत्वरूप वैधर्म्य के कारण शब्द को नित्य मानना चाहिये। प्रतिवादी का अनुमानवाक्य 'नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात्, यदनित्यं तन्मूर्तं दृष्टं तथा घटः' इत्याकारक है। इस मान्यता में कोई विशेष हेतु दृष्टिगोचर नहीं होता है कि नित्य आकाश से कृत-कत्वरूप वैधर्म्य के कारण शब्द अनित्य है और अनित्य घटादि से अमूर्तत्वरूप वैधर्म्य के कारण नित्य नहीं। इस प्रकार नित्य आकाश से वैधर्म्य (कृतकत्व) के कारण वादी द्वारा शब्द को अनित्य सिद्ध करने पर प्रतिवादी अनित्य घट से वैधर्म्य (अमूर्तत्व) के बल से शब्द के अनित्यत्व का खण्डन करता है, अतः यह वैधर्म्यसम जाति कहलाती है।

इन दो जातियों का समाधान प्रस्तुत करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है—'अविनाभाविनः साधर्म्यस्य वैधर्म्यस्य च हेतुत्वाभ्युपगमादप्रसंगो धूमादिवदिति'।[1] अविनाभूत अर्थात् पंचरूपोपपन्न हेतु से ही किसी साध्यविशेष की सिद्धि होती है, अन्य से नहीं। जैसे—अग्निमान् समस्त महानसादि सपक्षों से साधर्म्य के कारण तथा अग्निरहित समस्त महानसादि विपक्षों से वैधर्म्य के कारण धूम से ही पर्वतादि पक्ष में अग्निमत्त्व की सिद्धि होती है। अर्थात् 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः, यथा महानसे' 'यत्र वह्न्यभावस्तत्र धूमाभावः यथा महाह्रदे:' —इत्याकारक

---

1. न्यायसार, पृ. १८

दोनों व्याप्तियों से धूम का वह्नि से अव्यभिचरित साहचर्य सिद्ध होता है। परन्तु इसके विपरीत अग्निमान् तथा अग्निरहित दोनों प्रदेशों में विद्यमान वृक्षादि के सम्बन्ध को देखकर यदि कोई कहे—'पर्वतो वह्निमान्, वृक्षादिसम्बन्धात्, तो यह सर्वथा असंगत होगा, क्योंकि 'यत्र वृक्षादिसम्बन्धस्तत्र वह्निः', 'यत्र वह्न्यभावस्तत्र वृक्षादिसम्बन्धाभावः' —ये व्याप्तियां कदापि नहीं बन सकतीं। अतः समस्त अनित्यों में विद्यमान तथा समस्त नित्यों में अविद्यमान अविनाभूत कृतकत्वादि धर्म ही अनित्यत्व को सिद्ध करने में समर्थ हैं, न कि अविनाभावरहित अमूर्तत्व आदि धर्म, क्योंकि अमूर्तत्व एकान्ततः नित्यों में न होकर अनित्य बुद्धि आदि में ही रहता है।

नित्य आकाश से साधर्म्य के कारण शब्द नित्य नहीं है तथा अनित्य पट से साधर्म्य के कारण अनित्य है—इस मान्यता में कोई विशेष कारण नहीं है, जातिवादी का यह कथन भी असंगत है, क्योंकि 'कृतकत्व' हेतु में स्वसाध्य अनित्यत्व से अविनाभावित्व है और 'अमूर्तत्व' हेतु में स्वसाध्य नित्यत्व से अविनाभावित्व नहीं है, अतः दोनों हेतुओं में स्पष्टतया ज्ञायमान विशेष को नकारना निरी मूर्खता है।

उत्कर्षसम, अपकर्षसम, वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम, विकल्पसम तथा साध्यसम इन ६ जातिभेदों का निरूपण करते हुए भासर्वज्ञ ने सूत्रकारोक्त लक्षणसूत्र ही न्यायसार में उद्धृत कर दिया है—'साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः'।[1] इस सूत्र को उद्धृत करते हुए कहा है कि यहां ६ जातिभेदों के लक्षण कहे गये हैं, अतः ६ वाक्य समझे जाने चाहिये।[2] उन छह वाक्यों का उल्लेख उत्कर्षसमादि जातिभेदों का उदाहरण देते हुए किया गया है।

(३) उत्कर्षसम

भासर्वज्ञ ने उत्कर्षसम का 'साध्ये दृष्टान्तादनिष्टधर्मप्रसंगः उत्कर्षसमः'[3] यह लक्षण किया है अर्थात् साध्यधर्म वाले पक्ष में दृष्टान्त की समानता से अविद्यमान धर्म का आपादान उत्कर्षसम जाति कहलाती है। जैसे, वादी द्वारा 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् घटवत्' इस अनुमान से शब्द में अनित्यत्व का अनुमान करने पर प्रतिवादी उसका खण्डन करता हुआ कहता है कि यदि कृतकत्व के कारण घट की तरह शब्द अनित्य है, तब घट की तरह वह सावयव भी होना चाहिये। इस प्रकार दृष्टान्त घट की समानता से पक्ष शब्द में अविद्यमान सावयवत्व धर्म का आपादन उत्कर्षसम जाति है।

1. न्यायसूत्र, ५।१।४
2. न्यायभूषण, पृ. ३४३
3. न्यायसार, पृ. १८

(४) अपकर्षसम

यहां भी उत्कर्षसम की तरह दृष्टान्त की समानता से पक्ष में अनिष्ट धर्म का आपादन होता है. किन्तु उत्कर्षसम में दृष्टान्त की समानता से पक्ष में अविद्यमान अनिष्ट धर्म का आपादन होता है और अपकर्षसम में दृष्टान्त की समानता से पक्ष में विद्यमान इष्ट धर्म के अभाव का आपादन। अतः विद्यमान इष्ट धर्म की निवृत्तिरूप अपकर्ष के कारण इसे अपकर्षसम संज्ञा प्रदान की गई है। जैसे—यदि कृतकत्व होने पर भी शब्द में सावयवत्व अभीष्ट नहीं है, तब उसमें अनित्यत्व भी नहीं माना जा सकता। अपकर्षसम का दूसरा उदाहरण है—कृतक घट श्रवणेन्द्रियग्राह्य नहीं है, इसलिये शब्द भी कृतकत्व के कारण श्रावण नहीं है, तो विशेषाभाव के कारण अनित्य भी नहीं होना चाहिये। उदाहरण के अनुसार अपकर्षसम का यह लक्षण किया जा सकता है—'साध्ये इष्टधर्मनिवृत्तिरपकर्षसमः'।

(५) वर्ण्यसम (६) अवर्ण्यसम

शब्द की तरह घट में भी कृतकत्वामनुमान से वर्ण्यता का आपादन वर्ण्यसम जाति है। जैसे—'शब्दः अनित्यः कृतकत्वात् घटवत्' इस अनुमान में जैसे शब्द कृतकत्व के द्वारा वर्ण्य है वैसे दृष्टान्त घट भी कृतकत्व के द्वारा ही वर्ण्य होगा और ऐसा मानने पर वह साध्य हो जायेगा और उसकी सिद्धि के लिये अन्य दृष्टान्त का उपादान करना होगा। अन्य दृष्टान्त भी पूर्व दृष्टान्त की तरह वर्ण्य होगा। इस प्रकार उत्तरोत्तर दृष्टान्तों के कृतकत्वानुमान द्वारा वर्ण्य मानने पर अनवस्था दोष की आपत्ति होगी। अनवस्था दोष के परिहारार्थ यदि घट को अवर्ण्य माना जायेगा, तो शब्द को भी घट की तरह अवर्ण्य मानना होगा और तब अवर्ण्यसम जाति होगी।

'न्यायसार' में इनके निरूपण न करने का कारण इन दोनों भेदों की वस्तुतः साध्यसम से अभिन्नता है।[1]

(७) विकल्पसम

समान धर्म वाले पदार्थों में विद्यमान धर्मभेद के साम्य से प्रकृत में भी धर्मभेद मानकर अनिष्ट धर्म का आपादन विकल्पसम जाति है। जैसे, कृतकत्व धर्म से युक्त सभी पदार्थ एक जैसे नहीं देखे जाते हैं, किन्तु उनमें धर्मभेद देखा जाता है। जैसे—बुद्धि, पट और घट तीनों कृतक हैं, परन्तु बुद्धि अमूर्त है, पट मूर्त और घट कठिन। इस तरह कृतक पदार्थों में धर्मभेद अनुभवसिद्ध है। इसी प्रकार घट की तरह शब्द के कृतक होने पर भी उनमें नित्यत्व व अनित्यत्व अवान्तर धर्मभेद मानकर शब्द में कृतकत्व के अवान्तर धर्म नित्यत्व का आपादान विकल्पसम जाति है।

1. एतौ च साध्यसमादुक्तिभेदमात्रेण भिन्नौ तेन संग्रहे न व्याख्यातो। —न्यायभूषण, पृ. ३४५

(८) साध्यसम

समान धर्म वाले पदार्थों में एक के साध्य होने से तत्साम्य से दूसरे सिद्ध पदार्थ में भी साध्यता का आपादन साध्यसम जाति है। जैसे—यदि कृतक होने से शब्द और घट दोनों अनित्य हैं, तब अनित्य होने से दोनों को साध्य मानना चाहिये या किसी को नहीं। यदि समान रूप से दोनों के कृतक होने पर भी दोनों में साध्यत्व नहीं, किन्तु एक में है, तो इसी साम्य से दोनों में अनित्यत्व नहीं मानना चाहिये। इस रीति से शब्द में अनित्यत्वाभावरूप अनिष्ट का आपादन साध्यसम जाति है।

उत्कर्षसमादि ६ जातियों का उत्तर

इन जातियों का उत्तर सूत्रकार गौतम ने 'किंचित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः'[1] इस सूत्र के द्वारा दिया है। सूत्र में उपसंहार शब्द क्रमशः अधिकरण-व्युत्पत्ति से दृष्टान्त तथा साध्य का बोधक है। सिद्धि का अर्थ निश्चय है। महानसादि सपक्षों में तथा पर्वतादि पक्षों में धूमवत्त्वरूप किंचित् साधर्म्य ही है, पूर्ण साधर्म्य नहीं। किंचित् साधर्म्य से इनमें उपसंहारव्यवस्था (साध्यदृष्टान्तभावव्यवस्था) हो जाती है। यह आवश्यक नहीं कि पर्वतादि पक्षों और महानसादि दृष्टान्तों में सभी धर्म समान हों। धर्मविकल्प होने पर भी उनमें सर्वलोकप्रसिद्ध साध्यदृष्टान्तभावव्यवस्था देखी गई है तथा महानसादि के समस्त धर्मों की पर्वतादि में सिद्धि नहीं होती, अपि तु अग्निमत्त्व की होती है और महानसीय समस्त धर्मों की पर्वत में सिद्धि न होने पर भी पर्वत में अग्निमत्त्व का अभाव नहीं माना जा सकता और न पर्वतादि में दृष्ट धर्मों की महानसादि में अनुपलब्धिमात्र से निवृत्ति होती है। न धूमवान् महानसादि प्रदेशों में धर्मभेद की तरह अग्निमत्त्व का भेद होता है। इसी प्रकार सपक्ष महानसादि में अग्नि के अनुमेय होने से महानसीय अग्नि को अनुमेय माना जा सकता है। यह सब व्यवस्था व्यवहार में प्रसिद्ध है तथा शास्त्रों में स्वीकृत है। इसका अपलाप करने पर लोक और शास्त्र से विरोध होगा तथा समस्त अनुमान अप्रमाण हो जायेंगे और इस प्रकार सभी अनुमानों में उत्कर्षसम और अपकर्षसमादि जातियां उद्भावित होने लग जायेंगी। इसलिये यह मानना होगा कि साध्य और दृष्टान्त में किंचित् साधर्म्य से साध्यदृष्टान्तभावव्यवस्था हो जाने पर अन्य असमानताओं (वैधर्म्यों) के आधार पर उस व्यवस्था का प्रतिषेध उचित नहीं।

'साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः'[1] —इस न्यायसूत्र से भी यह सिद्ध है कि वादिप्रतिवादिसम्मत जिस वस्तु के द्वारा पक्ष में साध्य का अतिदेश किया जाता है, वह दृष्टान्त ही होता है, साध्य नहीं।

---

1. न्यायसूत्र, ५।१।६

(९) प्राप्तिसम (१०) अप्राप्तिसम

प्राप्तिसम और अप्राप्तिसम का लक्षण 'प्राप्य साध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्या विशिष्टत्वादप्राप्त्या साधकत्वाच्च प्राप्त्यप्राप्तिसमौ'[1] इस न्यायसूत्र में निर्दिष्ट है। अर्थात् हेतु साध्य से सम्बद्ध होकर साध्य को सिद्ध करेगा, तो दोनों में प्राप्ति के कारण समानता से साध्यसाधनभाव नहीं होगा, यह प्राप्तिसम है और असम्बद्ध हेतु से साध्यसिद्धि मानने पर असम्बद्धता के कारण वह साध्य को सिद्ध नहीं कर सकेगा, यह अप्राप्तिसम जाति है। तात्पर्य यह है कि हेतु साध्य से सम्बन्धित होकर साध्य की सिद्धि करता है अथवा असम्बद्ध होकर। असम्बद्ध होकर साध्य-सिद्धि नहीं कर सकता, क्योंकि साध्य और हेतु दोनों सम्बद्धत्वेन समान हैं। ऐसी स्थिति में जैसे संयुक्त दो अंगुलियों में साध्यसाधनभाव नहीं हो सकता, उसी प्रकार सम्बद्ध हेतु और साध्य में साध्यसाधनभाव नहीं उपपन्न होगा। साध्य से असम्बद्ध हेतु भी साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता, क्योंकि जिस प्रकार असम्बद्ध काष्ठ को अग्नि जला नहीं सकता, असंयुक्त घटादि को प्रदीप प्रकाशित नहीं कर सकता, उसी प्रकार असम्बद्ध हेतु साध्यसिद्धि में समर्थ नहीं हो सकेगा।

इन दो जातियों का उत्तर सूत्रकार ने 'घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडने चाऽभिचारादप्रतिषेधः'[2] इस सूत्र के द्वारा दिया है। इस सूत्र के प्रथमार्ध में प्राप्तिसम का खण्डन है और उत्तरार्द्ध में अप्राप्तिसम का। अर्थात् जैसे यद्यपि मृत्पिण्ड और कुम्भकार संयुक्त हैं तथापि कुम्भकारादि द्वारा मृत्पिण्ड ही घटरूप से निर्मित होता है न कि मृत्पिण्ड से कुम्भकार। तथा प्रदीप और घटसंयुक्त हैं, परन्तु प्रदीप घट को प्रकाशित करता है, न कि घट प्रदीप को। इसी प्रकार वह्नि और धूम दोनों प्राप्त (संयुक्त) हैं, परन्तु साधकत्व धूम में ही है, वह्नि में नहीं—यह लोकव्यवस्था है। अभिचारादि कर्म दूरस्थ पुरुष से संयुक्त न होता हुआ भी उसे पीडित कर देता है। इसलिये यह कोई ऐकान्तिक नियम नहीं कि हेतु साध्य से संयुक्त अथवा असंयुक्त होकर ही उसकी सिद्धि करे। पदार्थों के धर्म व्यवस्थित हैं, अतः धूम तथा वह्नि के सम्बन्ध या असम्बन्ध के दोनों में समानरूप से रहने पर भी धूमादि में साधनत्व ही है और वह्न्यादि में साध्यत्व धर्म ही है। इन धर्मों की प्रतिनियत-पदार्थवृत्तिता का अपलाप नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनका अपलाप या निराकरण करना सर्वप्रमाणविरुद्ध है।

(११) प्रसंगसम और (१२) प्रतिदृष्टान्तसम

प्रसंगसम और प्रतिदृष्टान्तसम जातियों का लक्षण सूत्रकार ने 'दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसंगप्रतिदृष्टान्तसमौ'[3] इस सूत्र के द्वारा बतलाया है। किसी अनुमान के दृष्टान्तभूत पदार्थ में कारण अर्थात् दृष्टान्त का

1. वही, ५।१।७
2. न्यायसूत्र, ५।१।८
3. न्यायसूत्र, ५।१।९

कथन न करना प्रसंगसम है। जैसे—'शब्दः अनित्यः कृतकत्वात् घटवत्' इस शब्दानित्यत्वसाधक अनुमान में दृष्टान्तभूत घट की अनित्यता में किसी दृष्टान्त का न बतलाना प्रसंगसम जाति है। क्योंकि घट की अनित्यता में कारण अर्थात् दृष्टान्त बतलाये बिना घट में ही अनित्यता की सिद्धि नहीं, तब उसके दृष्टान्त से शब्द में अनित्यता कैसे सिद्ध हो सकती है?

प्रतिदृष्टान्त के द्वारा साध्य का प्रतिषेध प्रतिदृष्टान्तसम जाति है। जैसे—वादी 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् घटवत्' इस अनुमान द्वारा घट दृष्टान्त उपन्यस्त कर कृतकत्व हेतु से शब्द में अनित्यत्व सिद्ध कर रहा है। किन्तु 'शब्दः नित्यः श्रोत्रग्राह्यत्वात्' इस अनुमान द्वारा शब्दत्वरूप प्रतिदृष्टान्त पूर्व अनुमान द्वारा साध्य अनित्यत्व का प्रतिषेध करता है; क्योंकि घटादि दृष्टान्त से शब्द अनित्य ही हो और शब्दत्वदृष्टान्त से नित्य नहीं, ऐसा मानने में कोई विशेष कारण नहीं दीखता।

न्यायसार में प्रसंगसम और प्रतिदृष्टान्तसम का निरूपण नहीं किया गया है। इस विषय में स्पष्टीकरण करते हुए भासर्वज्ञ ने न्यायभूषण में कहा है कि प्रसंगसम में साध्यसम से कोई विशेषता नहीं।[1] साध्यसम की तरह प्रसंगसम में भी दृष्टान्त घट को साध्य ही मान लिया जाता है। अतः केवल नाम का भेद है। इसी प्रकार प्रतिदृष्टान्तसम साध्यसम व वैधर्म्यसम से अविशिष्ट है, उनमें नाममात्र का भेद है। क्योंकि साधर्म्यसम व वैधर्म्यसम में भी प्रतिदृष्टान्त के द्वारा साध्य का प्रतिषेध या अभाव बतलाया जाता है तथा जाति के कतिपय भेदों के निरूपण की प्रतिज्ञा की है न कि उसके समस्त भेदों के निरूपण की। अतः इनका निरूपण न करने पर भी किसी प्रकार प्रतिज्ञा की हानि नहीं है।

प्रसंगसम जाति दोष का उद्धार सूत्रकार ने 'प्रदीपोपादानप्रसंगविनिवृत्तिवत्तद्विनिवृत्तिः'[2] इस सूत्र द्वारा किया है। जिस प्रकार घटादि के प्रकाशन के लिये उपादीयमान प्रदीप के स्वप्रकाश होने से उनके प्रकाशनार्थ अन्य प्रदीप का उपादान अपेक्षित नहीं होता, उसी प्रकार दृष्टान्त में अनित्यत्वादिधर्मसिद्धि के लिये अन्य दृष्टान्त की अपेक्षा नहीं, क्योंकि उसमें अनित्यता की सिद्धि अन्य दृष्टान्त के बिना प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है और प्रत्यक्ष में किसी दृष्टान्त की आवश्यक्ता नहीं।

प्रतिदृष्टान्तसम दोष का उद्धार सूत्रकार ने 'प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाहेतुर्दृष्टान्तः'[3] इस सूत्र के द्वारा किया है। अर्थात् प्रतिवादी ने वादी के अनुमान में प्रतिदृष्टान्त का कथनमात्र किया है, किन्तु दृष्टान्त में किसी प्रकार के दोष का उद्भावन नहीं किया। अतः दृष्टान्त निर्दुष्ट है और वह साध्य का साधक है। प्रतिदृष्टान्त के कथनमात्र से दृष्टान्त साध्य का असाधक नहीं हो सकता।

1. न्यायभूषण, पृ. ३४७
2. न्यायसूत्र, ५।१।१०
3. वही

(१३) अनुत्पत्तिसम

सूत्रकार ने 'प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसमः'[1] यह अनुत्पत्तिसम जाति का लक्षण किया है। अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व शब्द की अनित्यता का कोई कारण नहीं, अतः वह नित्य है और नित्य की उत्पत्ति नहीं। जैसे, अनुत्पत्ति के द्वारा शब्द में अनित्यत्वरूप साध्य का प्रतिषेध किया जाता है अतः इसे अनुत्पत्तिसम कहा गया है। 'अनित्यः शब्दः कार्यत्वात्' इस अनुमान में कार्यत्व हेतु अनुत्पत्तिसम दोष से ग्रस्त है। तात्पर्य यह है कि कार्य उसी पदार्थ को कहा जाता है, जो किसी के प्रयत्न से निष्पादित हो। जब तक शब्द के उत्पादन का प्रयत्न किसी ने नहीं किया, तब तक शब्द को कार्य नहीं कहा जा सकता। अतः उसमें कार्यत्व हेतु का अभाव है। कार्यत्व न होने से अनित्यत्व नहीं, किन्तु नित्यत्व ही है। जब अपनी उत्पत्ति के पहिले शब्द में नित्यता स्थापित हो जाती हैं, तब उसमें कार्यत्व (उत्पाद्यत्व) ही संभव नहीं। तब कार्यत्व से शब्द की अनित्यता कैसे सिद्ध हुई? अतः कार्यत्व हेतु अनुत्पत्तिसम दोष से ग्रस्त है।

इस दोष का उद्धार सूत्रकार ने 'तथाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेरप्रतिषेधः'[2] इस सूत्र द्वारा किया हैं। अर्थात् किसी वस्तु को नित्य या अनित्य तभी कहा जा सकता है, जबकि उसका स्वरूप सिद्ध हो। खपुष्प के समान जिसका स्वरूप ही सिद्ध नहीं, उसे नित्य या अनित्य कुछ भी नहीं कह सकते। अतः उत्पत्ति से पहिले शब्दरूप धर्मी की सत्ता न होने से उसमें नित्यत्व धर्म की सत्ता कैसे कही जा सकती है? प्रयत्नपूर्वक उच्चारित शब्द का स्वरूप जब निष्पन्न होता है, तब उसमें अनित्यता का साधक कार्यत्व उपपन्न हो जाता है, अतः नित्य शब्द की उत्पत्ति अनुपपन्न होने से हेतु को अनुत्पत्तिसम बतलाना अनुचित है।

(१४) संशयसम

संशयसम का लक्षण सूत्रकारने 'सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात् संशयसमः'[3] इस सूत्र द्वारा किया है। अर्थात् ऐन्द्रियकत्व हेतु के नित्य सामान्य और अनित्य घटादि में समानरूप से रहने के कारण उस हेतु के नित्यत्वानित्यत्वसाधारण होने से शब्द में अनित्यत्व का सन्देह बना रहता है। यदि संशय का कारण होने पर भी संशय अभीष्ट नहीं, तब फिर निश्चय का कारण होने पर भी निश्चय नहीं होगा। इस प्रकार यहां संशय द्वारा अनिष्टापादन संशयसम जाति कहलाती है।

---

1. न्यायसूत्र, ५।१।१२
2. वही, ५।१।१३
3. वही, ५।१।१४

इसका उद्धार सूत्रकार ने 'साधर्म्यात्संशये न संशयो वैधर्म्यादुभयथा वा संशयेऽत्यन्तसंशयप्रसंगः । नित्यत्वानभ्युपगमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः'[1] इस सूत्र द्वारा किया है। किसी साधर्म्य के कारण संशय होने पर वैधर्म्य के कारण संशय की निवृत्ति हो जाती है। साधर्म्य तथा वैधर्म्य दोनों से ही संशय मानने पर अत्यन्त संशय होगा और उसकी निवृत्ति नहीं होगी तथा सामान्य सर्वदा संशय का कारण नहीं होगा अर्थात् विशेष दर्शनकाल में सामान्यदर्शन संशय का कारण नहीं होता। अन्यथा शिरःपाण्यादि–विशेष दर्शन–काल में ऊर्ध्वत्वादि धर्म पुरुष में स्थाणुसंशय के कारण हो जाते। तात्पर्य यह है कि सामान्यधर्मदर्शन से संशय तभी तक होता है, जब तक कि विशेषदर्शन न हो। जब स्थाणु में पुरुषत्वव्याप्य शिरःपाण्यादि विशेष का दर्शन हो जाता है, उस समय ऊर्ध्वत्वादि–सामान्यसामग्री संशय को जन्म नहीं दे सकती, क्योंकि विशेषादर्शन भी उसकी एक सामग्री है। विशेषदर्शन के रहते विशेषादर्शनघटित सम्पूर्ण सामग्री का सद्भाव नहीं हो सकता। प्रवृत्त में कार्यत्वहेतुदर्शन विशेष दर्शन है। अतः उसके सद्भाव में ऐन्द्रियकत्वरूप सामान्यदर्शन' 'शब्दो नित्यो न वा' इस प्रकार के संशय का उत्पादन नहीं कर सकता।

न्यायसार में विस्तार के परिहार के लिये इसका पृथक् अभिधान नहीं किया है।[2]

(१४) प्रकरणसम

प्रकरणसम का 'उभयसाधर्म्यात्प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः'[3] यह सौत्र लक्षण है। सूत्र में उभयसाधर्म्य शब्द 'उभयं च तत् साधर्म्यम्' इस व्युत्पत्ति से साधर्म्यद्वय का बोधक है। 'प्रक्रियत इति' इस व्युत्पत्ति से प्रक्रिया शब्द पक्ष और प्रतिपक्ष का बोधक है। अतः साधर्म्यद्वय से या वैधर्म्यद्वय से पक्ष और प्रतिपक्ष की सिद्धि प्रकरणसम जाति है, यह सूत्रार्थ है। अनित्य घटादि के साथ कृतकत्व साधर्म्य के कारण पक्ष की अर्थात् वादी के पक्ष शब्दानित्यत्व की सिद्धि होती है और नित्य आकाशादि के साथ अमूर्तत्व साधर्म्य के कारण प्रतिपक्ष की अर्थात् प्रतिवादी के पक्ष शब्दनित्यत्व की सिद्धि होती है। साधर्म्य का ग्रहण वैधर्म्य का भी उपलक्षण है। अर्थात् जैसे दो साधर्म्यों से पक्ष-प्रतिपक्षसिद्धि प्रकरणसम है, उसी प्रकार उभयवैधर्म्य से भी पक्ष, प्रतिपक्ष की सिद्धि होने पर प्रकरणसम होता है अर्थात् एक वैधर्म्य पक्ष की सिद्धि करता है, तो दूसरा वैधर्म्य प्रतिपक्ष की। जैसे, शब्द में घटादि से अनित्यत्व साधर्म्य के कारण अनित्यत्व की सिद्धि है, तो आकाशादि में वर्तमान अमूर्तत्व साधर्म्य के कारण शब्द में नित्यत्वरूप प्रतिवादी के पक्ष की सिद्धि है, अतः यह प्रकरणसम है।

1. न्यायसूत्र, ५।१।१५
2. न्यायभूषण, पृ. ३४५
3. न्यायसूत्र, ५।१।१६

भासर्वज्ञ की मान्यता है कि इस जातिभेद का भी साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम नामक जातिभेदों से नाममात्र का भेद है ।[1] इस लिये न्यायसार में इसका निरूपण नहीं किया है, परन्तु नाममात्र का भेद बतलाकर भी भासर्वज्ञ ने इसका साधर्म्यसम व वैधर्म्यसम से स्वल्प भेद का प्रतिपादन किया है । विरुद्धाव्यभिचारी की तरह त्रिरूपसाधर्म्य द्वारा साध्य प्रकरणसम होता है और साधर्म्यमात्र से साध्य का प्रतिषेध साधर्म्यसम है— इस प्रकार दोनों का स्वरूप वैलक्षण्य भी है ।[2] इसी लिये अपरार्क ने कहा है कि आंशिक वैलक्षण्य होने पर भी न्यायसार में इसके अकथन का कारण अभेद नहीं, अपितु विस्तारभय ही है ।[3] जब प्रतिवादी के स्तम्भनार्थ ही द्वितीय हेतुप्रयोग होता है, तब विरुद्धाव्यभिचारी हेत्वाभास होता है और जब द्वितीय वादी भी स्वपक्ष के निश्चय का अभिसन्धान कर प्रतिहेतु का प्रयोग करता है, तब प्रकरणसम होता है । इस प्रकार से भी दोनों का भेद अपरार्क ने बतलाया है ।

इस दोष या उद्धार सूत्रकार ने 'प्रतिपक्षात्प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः'[4] इस सूत्र के द्वारा किया है । अर्थात् वादिसम्मत प्रथम साधन से वादिपक्ष की सिद्धि हो जाने पर उस हेतु की निर्दोषता के कारण द्वितीय पक्ष का उत्थान नहीं होता, अतः प्रकरणसम नहीं बन सकता । सूत्र में द्वितीय पक्ष की अपेक्षा से प्रथम साधन ही प्रतिपक्ष कहा गया है । अतः प्रतिपक्ष अर्थात् प्रथम साधन से प्रथम पक्ष की सिद्धि हो जाने पर उसके प्रतिषेध की उपपत्ति ही नहीं होती अर्थात् द्वितीय पक्ष का उत्थान ही संभव नहीं होता, क्योंकि प्रथम साधन निर्दुष्ट है । अतः शब्दानित्यत्व का साधक कृतकत्व निर्दुष्ट साधन है, उससे शब्द में अनित्यत्व सिद्ध हो जाने पर शब्दनित्यत्व के साधक अमूर्तत्वानुमान का उत्थान ही संभव नहीं है । अत यहां प्रकरण समदोष से अनिष्टापादन संभव नहीं हो सकता ।

(१६) अहेतुसम

हेतु की तीनों कालों में असिद्धि अहेतुसम है, जैसाकि सूत्रकार ने कहा है—'त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः' ।[5] अर्थात् वर्तमान, भूत व भविष्यत् किसी भी काल में हेतु की सत्ता उपपन्न न होने पर अहेतुसम कहलाता है । यदि साध्य से पहिले हेतु की सत्ता मानी जाय, तो उस समय साध्याभाव की दशा में हेतु किसका साधन होगा ? साध्य के बाद साधन की सत्ता मानी जाय, तो साधन से पूर्व साधन के बिना साध्य की उत्पत्ति ही कैसे होगी और साध्य के समकाल में अविद्यमान

1. 'अस्यापि साधर्म्यवैधर्म्यसमाभ्यामुक्तिमात्रेण भेदः ।—न्यायभूषण, पृ ३४९
2. न्यायभूषण, पृ. ३४३
3. न्यायमुक्तावली, प्रथम भाग, पृ. २६३
4. न्यायसूत्र, ५।१।१७
5. वही, ५।१।१८

हेतु साधन कैसे हो सकता है ? यदि साध्य और साधन की युगपत् स्थिति मानी जाय, तो दोनों के एककाल में विद्यमान होने से तुल्यता के कारण कौन किसका साधन होगा ? इस प्रकार कालत्रय में हेतु को अहेतु अर्थात् साध्य से अविशिष्ट अनिष्टापादन अहेतुसम जाति कहलाती है ।

इसका समाधान सूत्रकार ने 'न हेतुतः साध्यसिद्धेः'[1] इस सूत्र के द्वारा किया है । कारक या ज्ञापक हेतु के बिना किसी कार्य या ज्ञाप्य साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती । यदि लोकसिद्ध साध्यसाधनभाव का कुतर्कवशात् अपलाप किया जायेगा, तब फिर सभी हेतु अहेतु हो जायेंगे और किसी की कहीं प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति नहीं हो पायेगी । समस्त जगत् अन्धमूक की तरह क्रियाशून्य हो जायेगा। अतः हेतु से ही साध्यसिद्धि माननी होती है। साध्यों के साथ हेतुओं का पूर्वभाव, अपरभाव और सहभाव अनुभव के अनुसार माना जाता है । जैसे—कारक हेतु सदा साध्य कार्य से पहिले ही होता है और ज्ञापक हेतु कोई साध्य से पूर्वभावी होता है । जैसे–ज्ञायमान रूपादि को ज्ञापक चक्षु, सूर्य आदि हेतु । कोई ज्ञापक हेतु साध्य से पश्चाद्भावी होती है । जैसे—अग्नि, आकाश तथा आत्मा के ज्ञापक हेतु धूम, शब्द व इच्छादि गुण साध्य अग्न्यादि के कार्य होने से पश्चाद्भावी हैं । कोई ज्ञापक हेतु साध्यसहभावी होता है । जैसे—रूपादि स्पर्शादि के ज्ञापक हैं और वे ज्ञाप्य ज्ञापक द्रव्य में साथ उत्पन्न होने से सहभावी हैं । अतः कृतकत्वादि हेतु की त्रैकाल्यासिद्धि न होने से उसके हेतु में साध्यस्वरूप अनिष्टापादन संभव नहीं ।

तीनों कालों में प्रतिषेध के अनुपपन्न होने से भी अहेतुसम नहीं बन सकता, जैसाकि सूत्र में कहा गया है—'प्रतिषेधानुपपत्तेश्च' ।[2] प्रतिषेध प्रतिषेध्य से पहिले होता है या पश्चात् या प्रतिषेध्य के साथ अर्थात् एककाल में । यदि पहिले होता है, तब प्रतिषेध्य के अभाव में प्रतिषेध अनुपपन्न होगा । यदि बाद में होता है, तो प्रतिषेध्यकाल में प्रतिषेध के न होने से वह प्रतिषेध्य कैसे कहलायेगा अर्थात् उसे प्रतिषेध्य कहना अनुपपन्न होगा । यदि प्रतिषेध प्रतिषेध्य काल में रहता है, तब जिस प्रकार समानकालिक गोशृंगों में प्रतिषेधप्रतिषेध्यभाव की अनुपपत्ति है उसी प्रकार प्रतिषेध व प्रतिषेध्य के समानकालिक होने से उनमें प्रतिषेध-प्रतिषेध्यभाव की अनुपपत्ति होगी । इस प्रकार त्रैकाल्यासिद्धि के कारण प्रतिषेध की उपपत्ति नहीं होती और उसकी अनुपपत्ति में हेतु की निर्दोषता सिद्ध है ।

---

1. न्यायसूत्र, ५।१।१९
2. „ ५।१।२०

(१७) अर्थापत्तिसम

अर्थापत्तिसम का लक्षण सूत्रकार ने 'अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः'[1] इस प्रकार किया है अर्थात् अर्थापत्ति के कारण जहाँ प्रतिपक्ष अर्थात् साध्यरूप धर्म से विपरीत धर्म साध्याभाव का आपादन होता है, उसे अर्थापत्तिसम कहते हैं। जैसे-यदि अनित्य घटादि पदार्थों से कार्यत्वरूप साधर्म्य के कारण शब्द में अनित्यत्व वादी द्वारा सिद्ध किया जा रहा है, वहां अर्थात् प्राप्त नित्य द्रव्य आकाशादि के साथ अस्पर्शत्वरूप साधर्म्य से शब्द में नित्यत्व का आपादन अर्थापत्तिसम है। इसी प्रकार शब्द में नित्य आकाशादि पदार्थों के साथ कार्यत्वरूप वैधर्म्य के कारण अनित्यत्व की सिद्धि वादी करता है, तब अनित्य पदार्थ घटादि के साथ अस्पर्शवत्त्वरूप वैधर्म्य के कारण शब्द में अनित्यत्वाभावरूप नित्यत्व की सिद्धि का आपादन भी अर्थापत्तिसम है।

आचार्य भासर्वज्ञ ने न्यायसार में इसका उल्लेख नहीं किया है, क्योंकि साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम से इसका नाममात्र का भेद है![2] परन्तु उन्होंने साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम से भेद भी बतलाया है। साधर्म्य से वादी द्वारा शब्द में अनित्यत्व सिद्ध करने पर साधर्म्य से ही प्रतिवादी द्वारा प्रतिपक्षसिद्धिरूप अनिष्ट का आपादान साधर्म्यसम है तथा वैधर्म्य से वादी द्वारा अनित्यत्वरूप पक्ष की सिद्धि करने पर वैधर्म्य से ही प्रतिवादी द्वारा नित्यत्वरूप प्रतिपक्ष का आपादन वैधर्म्यसम है। परन्तु वादी द्वारा वैधर्म्य से अनित्यत्वपक्ष की सिद्धि प्रस्तुत करने पर साधर्म्य से प्रतिवादी द्वारा प्रतिपक्षसिद्धिरूप अनिष्ट का आपादन अर्थापत्तिसम कहलाता है। जैसे-आकाशादि नित्य पदार्थों के साथ कार्यत्वरूप वैधर्म्य से शब्द में अनित्यत्व सिद्ध करने पर नित्य पदार्थों के साथ अस्पर्शत्वरूप साधर्म्य के कारण शब्द में आकाशादि की तरह नित्यत्व का आपादन अर्थापत्तिसम है। अर्थापत्तिसम का इस प्रकार स्वरूपभेद होने पर भी न्यायसार में इसका अनभिधान विस्तारभय से ही है, जैसाकि अपरार्क ने कहा है—'तर्हि सम्भवत्येवंविधे भेदे विस्तरभयादनभिधानं संग्रहे'।[3]

इसका समाधान सूत्रकार ने 'अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वात्'[4] इस सूत्र से किया है। अनुक्त नित्यत्वरूप पक्ष की अर्थापत्ति द्वारा सिद्धि चाहने वाले के मत में अनुक्तत्वसाधर्म्य के कारण नित्यत्वरूप पक्ष की हानि भी प्राप्त हो जाती है। अर्थात् जिस प्रकार अनुक्त नित्यत्वपक्ष की सिद्धि अर्थापत्ति से प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार अनुक्त अनित्यत्व की भी सिद्धि अर्थापत्ति से प्राप्त हो जाती है। दूसरी बात यह है कि जिसके बिना जिसकी उपपत्ति नहीं होती,

1. न्यायसूत्र, ५।१।२१
2. अस्यापि साधर्म्यवैधर्म्यसमाभ्यामुक्तिमात्रेण भेदः। —न्यायभूषण, पृ ३५०
3. न्यायमुक्तावली, पूर्वभाग, पृ. २६५
4. न्यायसूत्र, ५।१।२१

उस अनुपपद्यमान वस्तु का उपपादन करना अर्थापत्ति का स्वरूप है। यदि आकाशादि नित्य पदार्थों के साथ अस्पर्शवत्त्व साधर्म्य से शब्द में नित्यत्वसिद्धि के बिना शब्द के अनित्यत्व की उपपत्ति न होती तो अनुपपद्यमान शब्दानित्यत्व से उसके उपपादक शब्दनित्यत्व का सिद्धि हो जाती, किन्तु उसके बिना भी कृतकत्व हेतु से शब्द में अनित्यत्व उपपन्न है। अतः अर्थापत्ति द्वारा शब्द में नित्यत्वरूप प्रतिपक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती। तथा शब्द में घटादि पदार्थों के साथ कार्यत्वरूप साधर्म्य से आकाशादि नित्य द्रव्यों के साथ अस्पर्शत्वरूप साधर्म्य की भी अर्थात् प्राप्तिरूप जो वाक्यार्थ-विपर्ययरूप अर्थापत्ति है, वह अव्यभिचारिणी नहीं, अपितु व्यभिचारिणी है, क्योंकि वाक्यार्थविपर्ययरूप अर्थापत्ति मानने पर 'घन शिलाद्रव्य का पतन होता है' यह कहने पर द्रवद्रव्यों का पतन नहीं होता, इस अर्थ की अर्थात् आपत्ति होती है और यह अर्थ व्यभिचारी है, क्योंकि जलरूप द्रवद्रव्य का भी पतन अनुभवसिद्ध है। अतः ऐसी व्यभिचारिणी अर्थापत्ति को लेकर अनिष्टापादन संभव नहीं है। इसी अभिप्राय से सूत्रकार ने कहा है—'अनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः'।[1]

(१८) अविशेषसम

कुछ द्रव्यों में एक धर्म के होने से उनमें समानता मानने पर सत्त्वेन सभी पदार्थों की समानतारूप अनिष्ट का आपादन अविशेषसम जाति है, जैसाकि सूत्रकार ने कहा है—'एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसंगात्सद्भावोपपत्तेर-विशेषसमः'।[2] जैसे, घट और शब्द में कार्यत्व नामक एक धर्म के होने से दोनों में अनित्यत्वेन समानता मानने पर सभी पदार्थों में सत्त्वधर्म के सद्भाव से सभी में अविशेषता का आपादन अविशेषसम है।

इसका समाधान निम्न प्रकार से किया गया है—सत्तारूप एक धर्म की उपपत्ति से समस्त पदार्थों में सर्वथा साम्य सिद्ध करने पर प्रत्यक्षादि से विरोध उपस्थित होता है। यदि किसी रूप से साम्य सिद्ध किया जाता है, तो प्रमेयत्वादि धर्म से सभी पदार्थों में साम्य सिद्ध होने से उसका साधन सिद्धसाधन है। अतः यह सिद्ध-साधन है। यदि नित्यत्व अथवा अनित्यत्व से सभी के साम्य का आपादन किया जाय, तो वह अनुमानादि प्रमाण से विरुद्ध है। जैसा कि सूत्रकार ने कहा है—'क्वचित्तद्धर्मोपपत्तेः क्वचिच्चानुपपत्तेः प्रतिषेधाभावः'।[3] अर्थात् कहीं घटादि में अनित्यत्व धर्म की उपपत्ति है क्योंकि कार्यत्वरूप प्रमाण से सिद्ध है और कहीं आकाशादि में अनित्यत्व धर्म का संभव नहीं, क्योंकि आकाशादि में प्रमाण से अनित्यत्व सिद्ध नहीं है। अतः सभी पदार्थों में अविशेषतारूप अनिष्ट का आपादन प्रमाणविरुद्ध होने से सम्भव नहीं। अथवा घटादि तथा शब्द में अनित्यत्व के

---

1. न्यायसूत्र, ५।१।२२
2. वही, ५।१।२३
3. वही, ५।१।२४

साधक कार्यत्व धर्म की कारणत्वेन उपपत्ति संभव है, अतः उनमें समत्व का आपादन किया जा सकता है, किन्तु सभी पदार्थों में अविशेषता के आपादक किसी धर्म की कारणत्वेन उपपत्ति संभव नहीं, अतः उनमें समतापादनरूप अनिष्ट का आपादन संभव नहीं। सभी पदार्थों में समतापादक सत्तारूप हेतु भी संभव नहीं, क्योंकि अनवस्थादि दोषों के कारण सामान्यादि में सत्ता की स्थिति संभव नहीं है।

(१९) उपपत्तिसम

अनित्यत्व व नित्यत्व दोनों के साधक कारणों की उपपत्ति द्वारा साध्य का प्रतिषेध या साध्याभावरूप अनिष्ट का आपादन उपपत्तिसम जाति है, जैसाकि सूत्रकार ने कहा है—'उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः'।[1] जैसे, अनित्यत्व के कारण कार्यत्व की उपपत्ति होने से शब्द में अनित्यत्व मानने पर नित्यत्व के कारण अस्पर्शत्व धर्म की भी उपपत्ति होने से उसमें साध्य अनित्यत्व का प्रतिषेध करना या साध्याभावरूप नित्यत्व का आपादन उपपत्तिसम है। वस्तुतः इसका साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम से नाममात्र का भेद है। इसलिये भासर्वज्ञ ने इस जाति-भेद का न्यायसार में निरूपण नहीं किया है।[2]

उपपत्तिसमदोष का समाधान सूत्रकार ने 'उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः'[3] इस सूत्र द्वारा किया है। अर्थात् शब्द में अनित्यत्व के कारण कार्यत्व की उपपत्ति से अनित्यत्व अनुज्ञात है और अनुज्ञात का प्रतिषेध उचित नहीं। अतः अस्पर्शवत्व के द्वारा शब्द में अनित्यत्व का प्रतिषेध संभव नहीं। तथा अस्पर्शवत्त्व के आकाशादि में व्यभिचारी होने से अस्पर्शवत्व का कारणत्व ही स्वीकृत नहीं है, क्योंकि अव्यभिचारी हेतु ही हेतु होता है, व्यभिचारी नहीं। अतः अस्पर्शवत्व के नित्यत्व का साधक न होने से उसके द्वारा शब्द में नित्यत्वापादन या अनित्यत्व का निषेध नहीं किया जा सकता।

(२०) उपलब्धिसम

निर्दिष्ट कारण के न होने पर भी कार्यत्वरूप साध्य की बुद्धयादि में उपलब्धि होती है, अतः इस उपलब्धि के द्वारा वह कारण साध्य का साधक नहीं, यह अनिष्टापादन उपलब्धिसम है, जैसाकि सूत्रकार ने कहा है—'निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसमः'[4]। जैसे, पृथिव्यादि में कार्यत्व का साधक सावयवत्वरूप हेतु कारणत्वेन निर्दिष्ट है, किन्तु बुद्धयादि में सावयवत्व के अभाव में भी कार्यत्व की उपलब्धि देखी जाती है। अतः यह सावयवत्व हेतु कार्यत्व का साधक नहीं है, यह अनिष्टापादन उपलब्धिसम कहलाता है।

---

1. न्यायसूत्र, ५।१।२४
2. न्यायभूषण, पृ. ३५२
3. न्यायसूत्र, ५।१।२६
4. न्यायसूत्र, ५।१।२७

इसका उद्धार भासर्वज्ञ ने 'सपक्षैकदेशस्यापि धूमादेर्गमकत्वदर्शनाद्प्रतिषेधः,[1] इस वचन के द्वारा बतलाया है। अर्थात् सर्वसपक्षवृत्ति हेतु ही साध्य का साधक हो, यह नियम नहीं। तप्त अयोगोलकादिरूप सपक्षों में न रहने के कारण महानसादिरूप सपक्षैकदेश में रहने वाले धूमादि हेतुओं में भी पर्वतादि में वह्निरूप साध्य की साधकता दृष्ट है। अतः प्रकृत में भी सावयवत्व हेतु कार्य बुद्ध्यादि में न रहने के कारण सपक्षैकदेशवृत्ति है, फिर भी पृथिव्यादि में कार्यत्व का साधक बन सकता है, अतः उसमें अप्रयोजकत्व दोष नहीं है। जिस प्रकार स्थानरूप निमित्त से मंच की मंचस्थ पुरुषों में लक्षणा है, उसी प्रकार प्रकृत सूत्र में सपक्षैकदेश शब्द लक्षणया अथवा 'सपक्षस्य एकदेशोऽस्त्यस्य' इस बहुव्रीहि समास से सपक्षैकदेशवृत्ति हेतु का बोधक है। बुद्ध्यादि में सावयवत्व के द्वारा कार्यत्व की सिद्धि यहाँ अभीष्ट नहीं है। इस प्रकार बुद्ध्यादि के पक्षत्वेन अभीष्ट न होने के कारण बुद्ध्यादिरूप पक्ष में सावयवत्व हेतु के न रहने से भागासिद्धत्व की प्रसक्ति भी नहीं कही जा सकती। बुद्ध्यादि में सावयवत्व हेतु द्वारा कार्यत्व की सिद्धि न होने पर भी 'बुद्ध्यादिकं कार्यम् अनुपलब्धिकारणेष्वसत्सु प्रागूर्ध्वं चानुपलब्धेः'[2] इस अनुमानान्तर से कार्यत्वसिद्धि हो जाती है, अतः उनमें कार्यत्व की अनुपपत्ति नहीं है। इसी अभिप्राय से सूत्रकार ने कहा है—'कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेधः'[3] अर्थात् जिस प्रकार तप्त अयोगोलकादि में धूम के न होने पर भी स्पार्शन प्रत्यक्ष अथवा दाहकत्वादिरूप अनुमानान्तर के द्वारा अग्नि की सिद्धि है, अतः निर्धूम अग्नि की असिद्धि नहीं मानी जा सकती, उसी प्रकार बुद्ध्यादि में अनुमानान्तर के द्वारा कार्यत्वसिद्धि हो जाने से उन्हें अकार्य नहीं माना जा सकता।

(२१) अनुपलब्धिसम

बुद्ध्यादिरूप कार्य की अनुपलब्धि का उपलम्भ न होने से अनुपलब्धि का अभाव सिद्ध होने के कारण तद्विपरीत बुद्ध्यादि की उपलब्धि द्वारा पूर्वकाल या उत्तरकाल में बुद्ध्यादि की सत्तारूप अनिष्ट का आपादन अनुपलब्धिसम जाति है। अनुपलब्धि का अनुपलब्धि से इसका आपादन हुआ है, अतः इसे अनुपलब्धिसम संज्ञा दी गई है, जैसाकि सूत्रकार ने कहा है 'तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमः।'[4] अर्थात् बुद्ध्यादि कार्य की जो अनुपलब्धि है, वह भी उपलब्ध नहीं होती। यदि उपलब्ध हो, तब तो वह उपलब्धि ही हो जायेगी। इसलिये अनुपलब्धि के अनुपलम्भ के कारण अनुपलब्धि के अभाव की सिद्धि होती है और अनुपलब्ध्यभाव की सिद्धि होने पर अनुपलब्धि से विपरीत बुद्ध्यादि की सत्ता का पूर्वकाल व उत्तरकाल में आपादन हो जाता है, यही अनुपलब्धिसम है।

---

1. न्यायसार, पृ. २१
2. न्यायभूषण, पृ. ३५३
3. न्यायसूत्र, ५।१।२८
4. वही, ५।१।२९

इस दोष का उद्धार सूत्रकार ने 'अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः'[1] इस सूत्र के द्वारा किया है अर्थात् 'नास्ति' इत्याकारक ज्ञान ही अनुपलब्धि है और वह ज्ञान अभावत्वेन ही सर्वानुभवसिद्ध है और उसी रूप से सबको उपलब्ध है। अतः अनुपलब्धि की अनुपलब्धि नहीं बन सकती और अनुपलब्धि की अनुपलब्धि न होने से अनुपलब्धि का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता, अतः तद्विपरीत बुद्ध्यादि की सत्तारूप अनिष्ट का आपादन भी संभव नहीं।

(२२) अनित्यसम

किसी साधर्म्य के कारण तत्तुल्य धर्म की उपपत्ति मानने पर सभी पदार्थों में अनित्यत्वरूप अनिष्ट का आपादन अनित्यसम है, जैसाकि सूत्रकार ने कहा है—'साधर्म्यात् तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसंगादनित्यसमः।'[2] जैसे–शब्द में घट के साथ कार्यत्वरूप साधर्म्य के कारण घट के अनित्यत्व धर्म की तरह शब्द में अनित्यत्व मानने पर सभी पदार्थों में अनित्यत्व की प्रसक्ति होगी। क्योंकि शब्द और घट में जैसे कार्यत्व साधर्म्य है, उसी प्रकार अस्तित्व-रूप धर्म को लेकर घट का सभी पदार्थों में घटतुल्य धर्म अनित्यता का आपादन होने लग जायेगा, यही अनित्यसम है। अनित्यसम अविशेषसम ही है, केवल शब्दमात्र का भेद है, अतः उसमें जो समाधान प्रस्तुत किया गया, वही इसका समाधान है। अर्थात् अस्तित्वमात्र साधर्म्य के कारण सब पदार्थों में घट की तरह अनित्यत्व का आपादन प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोध के कारण संभव नहीं।

इस समाधान के होने पर भी व्युत्पत्त्यर्थ दूसरा समाधान भी सूत्रकार ने 'साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्यसाधर्म्यात्'[3] इस सूत्र द्वारा प्रस्तुत किया है अर्थात् घट के साथ अस्तित्वरूप साधर्म्य के कारण सभी पदार्थों में अनित्यत्वापादन का प्रयोजन क्या है? शब्दानित्यत्वप्रतिषेध तो बन नहीं सकता, क्योंकि सभी पदार्थों में अनित्यत्व के सिद्ध होने पर शब्द में भी अनित्यत्व ही सिद्ध होता है, तद्विपरीत नित्यत्व नहीं। साध्य के असाधक वचनमात्र कार्यत्वरूप घटसाधर्म्य से शब्द में अनित्यत्व मानने पर अस्तितारूप वचनमात्र घटसाधर्म्य के सभी पदार्थों में होने से उनमें भी अनित्यत्व का आपादन होगा। यह मानने पर यही निष्कर्ष आता है कि साध्यासाधक वचनमात्र साधर्म्य के कारण किसी धर्म की सिद्धि नहीं हो सकती। अर्थात् असाधक वचनमात्र हेतु नहीं कहलाता। ऐसा मानने पर शब्द में त्वदुक्त अनित्यत्व का प्रतिषेध भी अनुपपन्न हो जायगा, क्योंकि प्रतिषेध का प्रतिषेध्य अनित्यत्व के साथ अभिधेयत्वादिरूप वचनमात्र ही साधर्म्य है, न कि साध्यासाधक साधर्म्य।

---

1. न्यायसूत्र, ५।१।३०
2. वही, ५।१।३२
3. „ ५।१।३३

(२३) नित्यसम

सूत्रकार ने नित्यसम का 'नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः'[1] यह लक्षण किया है अर्थात् शब्द में अनित्यत्व धर्म के सदा विद्यमान होने से अनित्यत्व धर्म वाले शब्द धर्मी की नित्य सत्ता होगी, क्योंकि धर्मी के बिना धर्म की स्थिति सम्भव नहीं। और यदि शब्द में अनित्यत्व धर्म की सत्ता सर्वदा नहीं मानी जाय, तो अनित्यता के अभाव से उसमें स्वतः नित्यत्व सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार शब्द में अनित्यत्व का प्रतिषेध अर्थात् नित्यत्वरूप अनिष्ट का आपादन नित्यसम है।

सूत्रकार ने इसका परिहार 'प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः'[2] इस सूत्र के द्वारा किया है। अर्थात् प्रतिवादी ने शब्द में अनित्यत्वरूप धर्म की सदा स्थिति मानकर शब्द का अनित्यत्व स्वीकार कर लिया, अब उसका प्रतिषेध नहीं बन सकता, क्योंकि अभ्युपगत का प्रतिषेध अनुचित है। यदि सर्वदा वह शब्द में अनित्यत्व स्वीकार नहीं करता, तो फिर 'नित्यमनित्यभावात्' को हेतु बतलाना असंगत है, क्योंकि असाधक हेतु नहीं होता। यदि वह यह कहे कि मैं शब्द में अनित्यत्व का निषेध नहीं करता, अपितु नित्यत्व भी बतलाता हूं, तो यह कहना सर्वथा असंगत है, क्योंकि एक ही शब्दरूप धर्मी में दो विरोधी धर्मों में नित्यत्व व अनित्यत्व की सत्ता नहीं हो सकती।

दूसरी बात यह है कि शब्दप्रध्वंस ही शब्द की अनित्यता है। शब्दप्रध्वंस काल में शब्द की सत्ता न होने से सर्वदा शब्द की सत्ता कैसे कही जा सकती है?

(२४) कार्यसम

प्रयत्नसाध्य कार्यों के अनेकविध होने से प्रयत्न द्वारा शब्द में उत्पत्तिरूप कार्य की तरह पूर्वविद्यमान शब्द में प्रयत्न द्वारा अभिव्यक्तिरूप कार्य के भी संभव होने से अभिव्यक्तिरूप कार्य की दृष्टि से शब्दनित्यतारूप अनिष्ट का आपादन कार्यसम जाति है। अर्थात् जैसे 'शब्दोऽनित्यः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्, घटवत्' इस अनुमान के द्वारा वादी प्रयत्नजन्यत्व हेतु से शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि करता है, किन्तु प्रतिवादी कहता है कि प्रयत्न से वस्तु की केवल नवीन उत्पत्ति नहीं होती, अपितु पूर्व विद्यमान की अभिव्यक्ति भी होती है। जैसे, दीपक द्वारा कमरे में पूर्व विद्यमान घट की। स्थानप्रयत्नादिसंयोग या क्रियारूपप्रयत्न से शब्द में अभिव्यक्तिरूप कार्य मानने पर शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि के विपरीत नित्यत्व ही सिद्ध होता है, अतः प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु शब्द में अनित्यत्व सिद्ध करने में असमर्थ है। यहां प्रतिवादी अभिव्यक्तिरूप कार्यविशेष से शब्द में

---

1. न्यायसूत्र, ५।१।३५
2. ,, ५।१।३६

अनित्यत्व का प्रतिषेध करता है। अतः इसे कार्यसम कहा गया है। इसी अभिप्राय से सूत्रकार ने 'प्रयत्नकार्यानेकत्वात् कार्यसमः'[1] यह कार्यसम का लक्षण किया है।

सूत्रकार ने इस दोष का परिहार करते हुए कहा है—'कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः'।[2] अर्थात् यदि विद्यमान शब्द की अनुपलब्धि के कारण व्यवधानादि की सत्ता होती, तो प्रयत्न हेतु शब्द में अभिव्यक्तिव्यतिरक्त जन्यतारूप कार्यान्यत्व का साधक नहीं हो सकता था। किन्तु शब्द की अनुपलब्धि के कारण व्यवधानादि की सत्ता उपलब्ध नहीं है। अतः परिशेषात् प्रयत्न शब्द में आत्मलाभरूप जन्यता का असाधक नहीं, अपितु साधक ही है।

अथवा शब्द में जन्मव्यतिरिक्त अभिव्यक्तिरूप कार्य के प्रति प्रयत्न कारण नहीं हो सकता, क्योंकि विद्यमान शब्द की अनुपलब्धि का कारण कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। जहां विद्यमान वस्तु की अनुपलब्धि में कोई कारण होता है, वहीं प्रयत्न अभिव्यक्तिरूप कार्य का हेतु होता है, अन्यत्र नहीं।

अपि च, प्रयत्नतारतम्य से शब्द में तीव्रमध्यमन्दादिभाव उपलब्ध होते हैं. वे प्रयत्न द्वारा शब्द की उत्पत्ति मानने पर ही उपपन्न हो सकते हैं। अभिव्यक्ति में प्रयत्नतारतम्य से कहीं तीव्रमन्दादिभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः प्रयत्न शब्द में उत्पत्तिरूप कार्य का ही हेतु है, न कि अभिव्यक्तिरूप कार्य का।

उपर्युक्त जातिभेदों से भिन्न अन्य भी जातिभेद हैं। किन्तु उनके अनन्त होने से सब जातिभेदों का उदाहरण प्रदर्शित करना शक्य नहीं है, अतः उनका निरूपण नहीं किया जा रहा है। सूत्र में २४ ही जातिभेदों का उल्लेख दिङ्मात्र-प्रदर्शनार्थ है, जातिभेदों की इयत्ता का प्रदर्शक नहीं। अतः जातिभेदों के आनन्त्य में सूत्रविरोध उपस्थित नहीं होता। इसीलिये सूत्रकारने पूर्वपक्ष प्रदर्शित करते हुए अनन्यसम, सम्प्रतिपत्तिसम, जातियों का भी सूत्रों में उल्लेख किया है।[3]

निग्रहस्थाननिरूपण

विप्रतिपत्ति अर्थात् विरुद्धज्ञान और अप्रतिपत्ति अर्थात् ज्ञानाभाव निग्रहस्थान कहलाता है, क्योंकि वादी द्वारा कथित का प्रतिवादी को तथा प्रतिवादी द्वारा कथित का वादी को जब विरुद्ध ज्ञान होता है या ज्ञान नहीं होता है, तब वह निग्रहस्थान से निगृहीत हो जाता है। इसीलिये सूत्रकार ने 'विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्'[4] इस सूत्र के द्वारा विप्रतिपत्ति व अप्रतिपत्ति को निग्रहस्थान बतलाया है। विप्रतिपत्ति व अप्रतिपत्ति के भेदों के अनन्त होने से निग्रहस्थानों की गणना नहीं की जा

1. न्यायसूत्र, ५।१।३७
2. वही, ५।१।३८
3. न्यायभूषण, पृ. ३५६
4. न्यायसूत्र, १।२।१९

सकती । अतः संक्षेप से उनका निरूपण किया जा रहा है। संक्षेपतः निग्रहस्थान २२ प्रकार के हैं, जैसाकि 'प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि'[1] इस न्यायसूत्र में कहा गया है। प्रतिज्ञाहानि आदि विप्रतिपत्ति तथा अप्रतिपत्ति के कारण होने से पराजय करा देते हैं अतः इन्हें निग्रहस्थान कहा गया है।

(१) प्रतिज्ञाहानि

'साध्ये प्रतिदृष्टान्तधर्मानुज्ञा प्रतिज्ञाहानिः'[2] यह प्रतिज्ञाहानि का लक्षण है। लक्षण में साध्य शब्द 'साधनमर्हति' इस व्युत्पत्ति से साध्यधर्मवान् पक्ष का बोधक है। इस प्रकार पक्ष में प्रतिदृष्टान्त अर्थात् साध्यविरुद्ध धर्म की स्वीकृति प्रतिज्ञाहानि है। जैसे-'शब्दः अनित्यः कृतकत्वात् घटवत्' इस अनुमान-प्रयोग के द्वारा वादी ने शब्दरूप पक्ष में अनित्यत्व धर्म की प्रतिज्ञा की है। यहां प्रतिवादी यह कहे कि जैसे घटादि शब्द का अनित्यत्व-साधर्म्य होने के कारण उसे अनित्य माना जाता है, वैसे ही आकाश के साथ अमूर्तत्वसाधर्म्य के कारण शब्द को नित्य क्यों नहीं मान लिया जाय ? इस प्रकार के जातिप्रयोग अथवा अन्य किसी कारण से आकुल होकर वादी यह कह दे कि शब्द को नित्य मान लिया जाय, तब वादी ने शब्दरूप पक्ष में प्रतिदृष्टान्त आकाश के धर्म नित्यत्व को स्वीकार कर अपनी अनित्यत्व-प्रतिज्ञा का भंग कर दिया, अतः वह प्रतिज्ञाहानिरूप निग्रहस्थान में पतित हो जाता है।

सूत्रकार ने यद्यपि 'प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः'[3] यह प्रतिज्ञाहानि का लक्षण किया है। अर्थात् स्वदृष्टान्त घटादि में प्रतिदृष्टान्त आकाशादि के नित्यत्वधर्म की अभ्यनुज्ञा प्रतिज्ञाहानि है। किन्तु प्रतिज्ञाहानि का यह लक्षण मानने पर स्वदृष्टान्त घटादि में प्रतिदृष्टान्त आकाशादि के धर्म नित्यत्व की अभ्यनुज्ञा मानने से घटादि के अनित्यत्व साध्य से विकल होने के कारण साध्य-विकलत्व ही निग्रह का निमित्त सिद्ध होता है, न कि प्रतिज्ञा-हानि। यदि यह कहा जाय कि प्रतिदृष्टान्त आकाशादि के धर्मों को स्वीकार करके वादी स्वदृष्टान्त घटादि का परित्याग कर देता है और उस दृष्टान्त का परित्याग करता हुआ 'तस्मादनित्यः शब्दः' इस निगमनान्त पक्ष का ही परित्याग कर देता है, अतः प्रतिज्ञाहानि उपपन्न हो जाती है, तो यह समाधान भी उचित नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर प्रकारान्तर से अर्थात् उपचार से दृष्टान्तहानि ही प्रतिज्ञाहानि होगी। अतः वार्तिककार उद्योतकर ने सूत्रस्थ स्वदृष्टान्त पद में 'दृष्टश्चासावन्ते व्यवस्थित इति दृष्टान्तः स्वश्चासौ दृष्टान्तश्च'[4]

1. न्यायसूत्र, ५।२।१
2. न्यायसार, पृ. २३
3. „ ५।२।२
4. न्यायवार्तिक, ५।२।२

इस व्युत्पत्ति से स्वदृष्टान्त शब्द का स्वपक्ष तथा प्रतिदृष्टान्त शब्द का प्रतिपक्ष अर्थ मानकर स्वपक्ष में प्रतिपक्ष आकाशादि के धर्म नित्यत्व की अभ्यनुज्ञा प्रतिज्ञाहानि है, यह समाधान प्रस्तुत किया है। किन्तु भासर्वज्ञ का कथन है कि सूत्र में दृष्टान्त शब्द साधनाधिकरणत्वसाम्य के कारण लक्षणा से ही पक्ष का तथा प्रतिदृष्टान्त शब्द प्रतिपक्ष का बोधक हो सकता है।[1] अतः उपर्युक्त क्लिष्ट कल्पना की क्या आवश्यकता है? सहचरणादि-सूत्र[2] में साधनाधिकरणत्व का लक्षणकारणों में परिगणन न होने पर भी दोष नहीं, क्योंकि सूत्र में सहचरणादि कारण उदाहरणमात्र-प्रदर्शनार्थ हैं न कि इयत्ताबोधक। प्रयोजन के बिना लक्षणा कैसे होगी, यह भी कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि 'मंचाः क्रोशन्ति' इत्यादि में बिना प्रयोजन के भी मंचशब्द की मंचस्थ पुरुषों में लक्षणा दृष्ट है। यदि प्रयोजन का आग्रह ही हो, तो प्रकृत में भी प्रतिदृष्टान्त धर्म को न स्वीकार करने पर भी पक्ष में प्रतिपक्ष धर्म स्वीकार करने पर प्रतिज्ञात अर्थ की हानि से प्रतिज्ञाहानि हो जाती है, यह प्रयोजन लक्षणाश्रयण में विद्यमान है।

धर्मकीर्ति ने यहां एक शंका प्रस्तुत की है कि वादी स्वयं शब्द को अनित्य स्वीकार कर उसे पुनः नित्य कैसे मान सकता है और यदि स्वीकार कर भी लेता है, तो शब्द में अनित्यत्व धर्म की उपलब्धि से वादी संशयग्रस्त हो सकता है कि शब्द नित्य है अथवा अनित्य। अतः यहां प्रतिज्ञाहानि का प्रश्न उपस्थित नहीं होता।[3] भासर्वज्ञ ने इसका परिहार करते हुए कहा है कि प्रतिवादी की उक्ति में दोष का परिज्ञान न होने से सिद्धसाध्यतादोष से अपहृत चित्त वाला वादी नित्यता का स्वीकार कर सकता है, क्योंकि भ्रान्ति पुरुष का धर्म है, और उसका कोई निश्चित कारण नहीं। शब्द में अनित्यत्व धर्म के दर्शन से वादी यद्यपि शब्द नित्य है अथवा अनित्य, ऐसे संशय में पड़ जाता है, तथापि विजयाकांक्षी होने से वह अपने संशय को प्रकट नहीं करता। अतः शब्द में प्रतिज्ञात अर्थ अनित्यत्व धर्म का परित्याग करने से वह प्रतिज्ञाहानिरूप निग्रहस्थान का भागी बन जाता है।[4]

(२) प्रतिज्ञान्तर

प्रतिज्ञात अर्थ का प्रतिषेध हो जाने पर धर्मभेद से दूसरी प्रतिज्ञा स्वीकार करना प्रतिज्ञान्तर है जैसाकि सूत्रकार ने कहा है—'प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम्।'[5] जैसे, वादी ने शब्द को अनित्य सिद्ध करने

---

1. वयं तु ब्रूमः—साधनाधिकरणत्वादिसाधर्म्यात् पक्षोऽत्र दृष्टान्तशब्देनोपचरितः।
—न्यायभूषण, पृ. ३५८

2. न्यायसूत्र, २।२।६१

3. वादन्याय, पृ ७४

4. न्यायभूषण, पृ. ३५८, ३५९

5. न्यायसूत्र, ५।२।३

के लिये 'अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वात्' यह अनुमान प्रस्तुत किया। यहां पर इन्द्रियग्राह्य सत्ता आदि जाति में अनित्यत्व का व्यभिचार होने से शब्द में प्रतिज्ञात अर्थ अनित्यत्व का प्रतिषेध हो जाने पर वादी धर्मभेद के साथ दूसरी प्रतिज्ञा करता है। जिस प्रकार घट असर्वगत अर्थात् अव्यापक है, उसी प्रकार शब्द भी अव्यापक है। अव्यापक होने से घटादि की तरह शब्द अनित्य है। यहां साध्यसिद्धि के लिये वादी में असर्वगतत्व धर्म का शब्द में निर्देश किया है, किन्तु जैसे शब्द में अनित्यत्व की प्रतिज्ञा ही है. वैसे असर्वगतत्व को भी प्रतिज्ञा ही है। एक प्रतिज्ञा दूसरी प्रतिज्ञा को सिद्ध करने में असमर्थ है। इस प्रकार असमर्थ वस्तु का उपादान करने से यह निग्रहस्थान है, ऐसा भाष्यकार ने सूत्र का व्याख्यान किया है,[1] किन्तु यह व्याख्यान उचित नहीं है, जैसाकि धर्मकीर्ति ने कहा है कि शब्द असर्वगत है, यह दूसरा हेतु है, न कि दूसरी प्रतिज्ञा।[2] क्योंकि असर्वगतत्व का ऐन्द्रियकत्व हेतु के विशेषण रूप से उपादान है। तथा एक प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिये कथ्यमान प्रतिज्ञा प्रतिज्ञान्तर नहीं कहलाती, क्योंकि प्रतिज्ञादि की सिद्धि हेत्वादि से होती है, न कि प्रतिज्ञादि से। इसलिये भासर्वज्ञ ने इस सूत्र की दूसरी व्याख्या प्रस्तुत की है। उनकी रीति से 'सर्वमनित्यं सत्त्वात्' इस अनुमान में सर्वमात्र के पक्षनिविष्ट होने से प्रतिज्ञावाक्य में तद्भिन्न दृष्टान्त के न होने से प्रतिवादी द्वारा प्रतिज्ञात अर्थ का उच्छेद कर देने पर विवादास्पदीभूतत्वरूप धर्म के भेद के साथ प्रतिज्ञा का पुनः कथन प्रतिज्ञान्तर है।[3] अर्थात् पहिले वादी ने प्रतिज्ञा के विशेषणरूप में विवादास्पदीभूतत्व धर्म का कथन नहीं किया था, बाद में किया है। सूत्र में 'तदर्थनिर्देशः' इस पद में 'तत्' शब्द प्रतिषेध का परामर्शक है और अर्थ शब्द 'मशकार्थो धूमः' की तरह निवृत्ति का वाचक है। अतः तदर्थ का अभिप्राय है—प्रतिषेध की निवृत्ति के लिये। निर्देश शब्द विवादास्पदीभूतत्वरूप विशेषण-सहित 'सर्वम् अनित्यम्' इस प्रतिज्ञान्तर का बोधक है। निष्कर्ष यह है कि पहिले वादी ने सामान्यतः सब अनित्य है, यह प्रतिज्ञा की थी, किन्तु इसमें पक्षभिन्न दृष्टान्त न मिलने से प्रतिज्ञात अनित्यत्व अर्थ का प्रतिषेध हो जाने पर उसके परिहार के लिये प्रतिज्ञाविशेषण रूप में विवादास्पदीभूतत्वरूप धर्म का निर्देश कर दिया गया है। अतः जैसे सामान्यतः कथित हेतु का प्रतिवादी द्वारा प्रतिषेध कर देने पर उस हेतु में पश्चात् विशेषण का उपादान करने वाला वादी हेत्वन्तररूप निग्रहस्थान से ग्रस्त होता है, वैसे ही सामान्यतः प्रतिज्ञा का प्रतिवादी द्वारा प्रतिषेध कर देने पर विशेषणोपादानपूर्वक विशिष्ट प्रतिज्ञा का कथन करने वाला वादी प्रतिज्ञान्तररूप निग्रहस्थान से ग्रस्त हो जाता है।

---

1. न्यायभाष्य, ५।२।३
2. वादन्याय, पृ. ७६
3. न्यायभूषण, पृ, ३५९-३६०

(३) प्रतिज्ञाविरोध

प्रतिज्ञा तथा हेतु का विरोध प्रतिज्ञाविरोध कहलाता है, जैसाकि सूत्रकार ने कहा है—'प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः'।[1] जैसे, वादी द्रव्य को गुण से भिन्न सिद्ध करने के लिये 'गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं भेदेनाऽनुपलम्भात्'—इस अनुमान का प्रयोग करता है, तो 'गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यम्' इस प्रतिज्ञा-वाक्य का 'भेदेनानुपलम्भात्' हेतु से विरोध है, अतः यह प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थान है। धर्मकीर्ति ने यहां प्रश्न उपस्थित किया है कि यदि वस्तुतः प्रतिज्ञा और हेतु में विरोध हो तो प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थान हो सकता है, किन्तु दो भिन्न वस्तुओं का भी यदि किसी कारण से भिन्न रूप से उपलम्भ न हो, तो यह निग्रहस्थान नहीं माना जा सकता। जैसे, किसी पर्वत के पास विद्यमान पिशाचादि का पर्वत से भेद होने पर भी उससे भिन्न उपलम्भ नहीं होता।[2] इसका समाधान करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि यदि वादी को द्रव्य और गुणों के भेद का परिज्ञान नहीं है, तो वह दूसरे को समझाने के लिये उसकी प्रतिज्ञा क्यों करता है? क्योंकि अव्युत्पन्न पुरुष दूसरे को समझाने वाला नहीं हो सकता और यदि उसको उनके भेद का उपालम्भ है, तो उसका 'भेदेनानुपलम्भात्' यह हेतुवाक्य व्याघातदोषग्रस्त है। अतः प्रतिज्ञा और हेतु का विरोध होने से प्रतिज्ञाविरोध की अनुपपत्ति नहीं है।[3]

(४) प्रतिज्ञासंन्यास

अपने पक्ष का निषेध हो जाने पर प्रतिज्ञात अर्थ का निह्नव करना प्रतिज्ञासंन्यास निग्रहस्थान है। सूत्रकार ने भी कहा है—'पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः'[4]। सूत्र में अपनयन पद अपह्नवार्थक है। प्रतिज्ञाहानि में वादी असामर्थ्य के कारण प्रतिज्ञात अर्थ का परित्याग करता है और प्रतिज्ञासंन्यास में 'मैंने ऐसी प्रतिज्ञा नहीं की' इस प्रकार प्रतिज्ञातार्थ का अपह्नव करता है। अतः दोनों में भेद है। जैसे—'अनुष्णः अग्निः' ऐसी प्रतिज्ञा करने पर अग्नि में अनुष्णता का स्पार्शन प्रत्यक्ष द्वारा बाध होने से प्रतिज्ञात अनुष्णता का प्रतिषेध होने पर यदि वादी यह कहता है—'हे मध्यस्थ व साक्षियों, देखो, मैंने अग्नि अनुष्ण है, ऐसा नहीं कहा। यह प्रतिवादी मेरे द्वारा अनुक्त वस्तु को लेकर दोष दे रहा है', ऐसा वादी का कथन प्रतिज्ञासंन्यास निग्रहस्थान है।

(५) हेत्वन्तर

वादी द्वारा सामान्यतः कथित हेतु का प्रतिवादी द्वारा प्रतिषेध कर देने पर विशेषणविशिष्ट हेतु का जहां वादी द्वारा प्रयोग किया जाता है, वहां हेत्वन्तर

---

1. न्यायसूत्र, ५।२।४
2. वादन्याय, पृ. ७९
3. न्यायभूषण, पृ. ३६०
4. न्यायसूत्र, ५।२।५

निग्रहस्थान होता है, जैसाकि सूत्रकार ने कहा है—'अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम्'।[1] जैसे—किसी ने वेदों को नित्य सिद्ध करने के लिये अस्मर्यमाणकर्तृकत्व हेतु का उपादान किया, किन्तु यह हेतु जीर्णकूपादि में व्यभिचरित है. क्योंकि उनके निर्माण करने वाले का ज्ञान नहीं। अतः इस हेतु के प्रतिवादी द्वारा निषेध कर देने पर 'सम्प्रदायाविच्छेदे सति' यह विशेषण जोड़कर वादी द्वारा पुनः उस हेतु का उपादान हेत्वन्तरनामक निग्रहस्थान है।

(६) अर्थान्तर

प्रकृत अर्थ से असम्बद्ध अर्थ का कथन अर्थान्तर निग्रहस्थान है, जैसाकि सूत्रकार ने कहा है—'प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम्'।[2] जैसे—किसी ने शब्द को नित्य सिद्ध करने के लिये 'नित्यः शब्दः अस्पर्शत्वात्' इस प्रकार अस्पर्शत्व हेतु का उपादान किया। यहां पर कोई यह कहे कि हेतु शब्द 'हि' धातु से 'तुम्' प्रत्यय करने पर बनता है और यह कृदन्त पद है। पद नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात भेद से चार प्रकार के हैं। नाम सत्त्वप्रधान होता है, इत्यादि का कथन करता है, तो वह प्रकृत विषय से असम्बद्ध अर्थ का कथन करने के कारण अर्थान्तररूप निग्रहस्थान से ग्रस्त है। धर्मकीर्ति ने भी इस निग्रहस्थान को स्वीकार किया है।

(७) निरर्थक

वर्णक्रमनिर्देश अर्थात् सिद्धमातृका-पाठ के समान कथन निरर्थक निग्रहस्थान कहलाता है, जैसाकि सूत्रकार ने कहा है—'वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम्'[1] अर्थात् जहां प्राश्निक और प्रतिवादी को वादी द्वारा कथित वाक्यों के पदार्थों का भी ज्ञान नहीं होता है, उसे निरर्थक कहते हैं। जैसे, किसी वादी ने शब्द में नित्यत्व सिद्ध करने के लिये 'नित्यः शब्दः कचटतपानां जबगडदशत्वात्, झभघढधषवत्' इस अनुमानवाक्य का यदि प्रयोग किया, तो प्राश्निक (मध्यस्थ) और प्रतिवादी का हेत्वादिवाक्यों द्वारा किसी अर्थ का परिज्ञान न होने से यह निरर्थकनामक निग्रहस्थान है।

सूत्र में 'वर्णक्रमनिर्देशवत्' पद में तुल्यार्थ में वति प्रत्यय है न कि 'तदस्यास्ति' इस अर्थ में मतुप् प्रत्यय। अतः क च ट त प आदि वर्णो का भी किसी प्रकरण में अर्थ होने से इसे निरर्थक कैसे कहा जा सकता है, धर्मकीर्ति की इस आशंका का परिहार हो जाता है, क्योंकि किसी प्रकरण में उनका अर्थ होने पर भी यहां जो हेतु रूप से क, च, ट, त, आदि वर्णों का प्रयोग है, वह सार्थक नहीं है, अपितु सर्वथा निरर्थक है।

---

1. न्यायसूत्र, ५।२।६

2. वही, ५।२।७

3. न्यायसूत्र, ५।२।८

(८) अविज्ञातार्थ

वादी के द्वारा तीन बार कहे अर्थ को भी यदि अप्रसिद्ध प्रयोग अथवा अतिद्रुत उच्चारण के कारण परिषत् और प्रतिवादी नहीं समझ सकते हैं, तो वह अविज्ञातार्थ-नामक निग्रहस्थान है, क्योंकि वादी वहां अपने अज्ञान को छिपाने के लिये अप्रसिद्धार्थक पदों का प्रयोग करता है या अतिद्रुत रूप में उनका उच्चारण करता है। अविज्ञातार्थ का यही लक्षण सूत्रकार ने भी किया है—'परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातार्थम्'।[1]

अविज्ञातार्थ और निरर्थक निग्रह स्थान में धर्मकीर्ति द्वारा आशंकित अभेद का निराकरण करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि निरर्थक में वाक्यों का कोई अर्थ ही नहीं होता और अविज्ञातार्थ में अर्थ होते हुए भी अप्रसिद्धार्थकपदप्रयोग तथा अतिद्रुतोच्चारणादि कारणों से उसको प्रतीति नहीं होती। यही दोनों का भेद है।

(९) अपार्थक

जहां अनेक पदों अथवा वाक्यों का पूर्वापरभाव से सम्बन्ध नहीं है, वहां उनके असम्बद्धार्थक होने से अपार्थक निग्रहस्थान है, क्योंकि उन पदों और वाक्यों के समुदाय का कोई अर्थ प्रतीत नहीं होता, जैसाकि सूत्रकार ने कहा है 'पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम्'।[2] जैसे, 'दश दाडिमानि', 'षडपूपाः', 'कुण्डमजाजिनं', 'पललपिण्डः', 'रौरुकं कुमार्याः पाय्यम्', 'तस्याः पिता अप्रतिशीनः' इत्यादि का प्रयोग। इसी अपार्थक को असम्बद्धवाक्य अथवा असम्बद्धाभिधान कहते हैं। अपार्थक में अधिकांशतः पदार्थों का अनुसंधान होने पर भी पौर्वापर्य सम्बन्ध के न होने से उनके समुदाय के अर्थ की प्रतीति नहीं होती और अविज्ञातार्थ में अतिद्रुतोच्चारणादि के कारण अर्थ की प्रतीति नहीं होती, यह दोनों में भेद है।

(१०) अप्राप्तकाल

प्रतिज्ञादि अवयववाक्यों का अर्थ के कारण क्रम माना जाता है, उनका विपरीत-क्रम से कथन अप्राप्तकालनामक निग्रहस्थान होता है, जैसाकि सूत्रकार ने कहा है—'अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम्'।[3]

(११) न्यून

प्रतिज्ञादि अवयववाक्यों में से एक भी वाक्य की न्यूनता होने पर न्यून नामक निग्रहस्थान होता है, क्योंकि उस वाक्य के अभाव में साध्यसिद्धि नहीं हो सकती।

1. वही, ५।२।९
2. न्यायसूत्र, ५।२।१०
3. वही, ५।२।११

पांचों ही अवयववाक्य साध्यसिद्धि में कारण है। इसलिये सूत्रकार ने कहा है—'हीनमन्यतमेनापि अवयवेन न्यूनम्'।[1]

(१२) अधिक

इसका लक्षण सूत्रकार ने हेतूदाहरणाधिकमधिकम्'[2] अर्थात् जिस वाक्य में दो हेतु और दो उदाहरण होते हैं, वह अधिक निग्रहस्थान कहलाता है। एक हेतु और एक उदाहरण ही साध्यसिद्धि के लिए पर्याप्त हैं, अतः अन्य हेतु व उदाहरण का उपादान निरर्थक है। परन्तु यह भी नियमकथा में ही निग्रहस्थान कहलाता है, प्रपंचकथा में तो नियमाभाव के कारण दोष नहीं होता। नियमकथा में भी सम्प्लव की स्वीकृति न होने पर यह दोष होता ही है।

(१३) पुनरुक्त

बिना किसी प्रयोजन के शब्द का पुनः उच्चारण या एक ही अर्थ का पर्यायवाची शब्द से पुनः कथन पुनरुक्त निग्रहस्थान कहलाता है, जैसाकि सूत्रकार ने कहा है—'शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात्'।[3] जैसे, 'नित्यः शब्दः, नित्यः शब्दः। नित्यो ध्वनिः अविनाशी शब्दः'। प्रथम उदाहरण में एक शब्द का निष्प्रयोजन पुनः उच्चारण है तथा द्वितीय में एक ही अर्थ का पर्यायवाची शब्द से पुनः कथन है। प्रथम शब्दपुनरुक्त तथा दूसरा अर्थपुनरुक्त का उदाहरण है। जहां किसी प्रयोजनवश शब्द और अर्थ का पुनः कथन किया जाता है, वहां पुनरुक्त निग्रहस्थान नहीं होता। जैसे, कथित वस्तु के अनुवाद में। जैसे, 'नित्यः शब्दः' इसी प्रतिज्ञावाक्य का निगमन में 'तस्मात् शब्दो नित्यः इस प्रकार अनुवादरूप से पुनः कथन दोष नहीं है। निगमनवाक्य में 'तस्माद् नित्यः शब्दः' यह हेत्वर्थ का अनुवाद है। वीप्सा तथा पौनः पुन्यादि अर्थों में भी द्विरुक्ति या शब्दमात्र का अनुवाद होता है। जैसे—'गौः गौः कामदुधा, सर्पः सर्पः' आदि।

यद्यपि अर्थपुनरुक्तरूप एक निग्रहस्थान से ही शब्दपुनरुक्त गतार्थ है, तथापि बालव्युत्पत्ति के लिये उसका पृथक् कथन कर दिया गया है।

पुनरुक्तान्तर

इसी पुनरुक्त के अवान्तर भेदों के अवधारण की इच्छा से पुनरुक्त का दूसरा लक्षण भी सूत्रकार ने किया है—'अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनं पुनरुक्तम्'।[4] जैसे—'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इत्यादि स्थल में, 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः, यथा महानसे' इस साधर्म्योदाहरण से व्याप्ति की सिद्धि हो जाती है। अतः तत्पश्चात् 'यत्र यत्रः वह्न्यभावः तत्र तत्र धूमाभावः, यथा जलह्रदे' इस वैधर्म्योदाहरण का अभिधान पुनरुक्त निग्रहस्थान है।

1. न्यायसूत्र, ५।२।१२
2. वही, ५।२।१३
3. वही, ५।२।१४
4. न्यायसूत्र, ५।२।१५

(१४) अननुभाषण

परिषत् तथा प्रतिवादी के द्वारा विज्ञातार्थक वाक्य का तीन बार कहने पर भी प्रतिवादी द्वारा उसका अनुभाषण (प्रत्युच्चारण) न करना अननुभाषण नामक निग्रह स्थान होता है। यह प्रतिवादी का ही निग्रहस्थान है अर्थात् इसमें प्रतिवादी का ही निग्रह होता है। क्योंकि जब वह वादी के कथन का प्रत्युच्चारण नहीं कर सकता, तो किस आधार पर वह परपक्ष का प्रतिषेध कर सकता है ?

धर्मकीर्ति का यह कथन है कि कोई प्रतिवादी ऐसा हो सकता है जो प्रत्युच्चारण में समर्थ न होता हुआ भी वादी का उत्तर देने में समर्थ हो और वादी के कथन का प्रत्युच्चारण न करते हुए भी उसके दिये हुए समीचीन उत्तर से उसकी अमूढता का परिज्ञान भी पारिषद्यों को हो ही जाता है। ऐसी स्थिति में अनुभाषण को निग्रहस्थान कैसे माना जा सकता है ? इसका समाधान करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि वादी के कथन का प्रत्युच्चारण न कर सदुत्तर देने पर भी उसका उत्तर निर्विषय हो जायेगा। अतः अनुभाषण आवश्यक है। हां, वादी के सारे कथन का प्रत्युच्चारण आवश्यक नहीं, किन्तु आवश्यक कतिपय अंश का प्रत्युच्चारण तो आवश्यक है। अन्यथा उत्तर में निर्विषयता दोष का प्रसंजन होगा।

(१५) अज्ञान

वादी के जिस वाक्य के अर्थ को परिषत् समझ जाती है और तीन बार उच्चारण करने पर भी प्रतिवादी उसके अर्थ को नहीं समझता, वहां अज्ञान नामक निग्रहस्थान होता है, जैसाकि सूत्रकार ने कहा है :—'अविज्ञातार्थं चाज्ञानम्'।[1] इसका अन्तर्भाव अननुभाषण निग्रहस्थान में नहीं हो सकता, क्योंकि वहां प्रतिवादी वादी के वाक्यार्थ का प्रत्युच्चारण करने में असमर्थ होता है, चाहे वह उसका समीचीन उत्तर देने में समर्थ हो और अज्ञान नामक निग्रहस्थान में प्रतिवादी वादी के वाक्यार्थ का प्रत्युच्चारण तो कर देता है, किन्तु उसके अर्थ को नहीं समझता।

(१६) अप्रतिभा

कथा को स्वीकार कर वादी या प्रतिवादी जहां उत्तर का स्फुरण न होने से मौनावलम्बन कर लेता है, वह अप्रतिभा नामक निग्रहस्थान होता है। यद्यपि सूत्रकार ने 'उत्तरस्य अप्रतिपत्तिरप्रतिभा'[2] इतना ही लक्षण किया है, तथापि सूत्र में उत्तर पद पूर्वोपन्यास की अर्थात् वादी के उपन्यास की अप्रतिपत्ति का भी बोधक है। इसी अभिप्राय से भासर्वज्ञ ने अप्रतिमा का 'कथामभ्युपगम्यतूष्णीं भावोऽप्रतिभा'[3]

---

1. न्यायसूत्र, ५।२।१७

2. वही, ५।२।१८

3. न्यायसार, पृ. २६

यह लक्षण किया है। सूत्र में 'उत्तरस्य अप्रतिपत्तिः' से केवल उत्तर का अपरिज्ञान ही अभिप्रेत नहीं है, किन्तु वचन का अनध्यवसाय अर्थात् निश्चित उत्तर की अप्रतीति भी विवक्षित है। अतः यदि कोई अनध्यवसायपूर्वक उत्तर दे भी देता है, तो भी अप्रतिभा से बहिर्भूत नहीं होता। अथवा उत्तर पद से प्रथम वादी का वचन भी संगृहीत है। यदि परिषत् वादी से यह पूछ बैठे कि तुम्हारा क्या पक्ष है ? क्या साधन है ? तुम ही पहिले अपने पक्ष और साधन को बतलाओ, तो वहां पक्षादि का कथन भी उत्तर है। यदि वादी पक्षादि के कथन में असमर्थ होकर चुप बैठ जाता है, वहां वादी अप्रतिभा निग्रहस्थान से ग्रस्त हो जाता है। अतः यह निग्रहस्थान वादी और प्रतिवादी दोनों के लिये है।

(१७) विक्षेप

किसी कार्य के व्यासंग से अर्थात् मुझे आवश्यक कार्य है, यह कह कर जो कथा का विच्छेद किया जाता है, वहां विक्षेप निग्रहस्थान होता है। किसी दुर्व्वर के मिथ्या व्यपदेश से कथा का विच्छेद भी इसमें संगृहीत है। जब कथा को स्वीकार कर लिया जाता है और सभ्य लोग एकत्र हो जाते हैं, उस समय यदि कोई कहे कि मुझे बहुत काम है, उस कार्य के समाप्त होने पर उत्तर दूंगा, तब यह दोष है।

इसका अर्थान्तर नामक निग्रहस्थान से यह भेद है कि अर्थान्तर में साधन का उपन्यास करने के लिये प्रवृत्त पुरुष अनुपयोगी वस्तुओं का उपन्यास करता है और विक्षेप में वादी या प्रतिवादी कथा को स्वीकार कर 'मैं बाद में साधन का उपन्यास करूंगा' यह कहता है।

(१८) मतानुज्ञा

स्वपक्ष के दोष को स्वीकार कर जो परपक्ष में दोष देता है, उसे मतानुज्ञा निग्रहस्थान कहते हैं, जैसाकि सूत्रकार ने कहा है—'स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात् परपक्ष-दोषो मतानुज्ञा'।[1] अर्थात् जो अपने पक्ष के दोष का परिहार बिलकुल भी नहीं करता और दूसरे पक्ष में दोष देता है, वहां मतानुज्ञा निग्रहस्थान होता है। जैसे– किसी ने कहा – 'तुम चोर हो,' तो उसका उत्तर न देकर – 'तुम भी चोर हो', यह कहता है। 'त्वमपि चोरः' – इस प्रकार कहता हुआ वह दूसरे द्वारा कथित चौरत्व की अनुज्ञा प्रदान कर देता है। परमत की अनुज्ञा प्रदान करने वाले व्यक्ति के प्रति ही यह मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान होता है, क्योंकि वह स्वदोष को स्वीकार कर लेता है।

1. न्यायसूत्र, ५।२।२०

(१९) पर्यनुयोज्योपेक्षण

निग्रह का अवसर प्राप्त होने पर प्रतिवादी 'तुम निगृहीत हो' ऐसा वादी से नहीं कहता, वहां पर्यनुयोज्योपेक्षणरूप निग्रहस्थान होता है। जैसाकि सूत्रकार ने कहा है—'निग्रहं प्राप्तस्य अनिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम्।'[1] अर्थात् निग्रहोपपत्ति के अवसर पर उसका कथन न करना, उसकी उपेक्षा कर जाना पर्यनुयोज्योपेक्षण निग्रहस्थान है।

(२०) निरनुयोज्यानुयोग

अदोष में दोष का उद्भावन निरनुयोज्यानुयोग नामक निग्रहस्थान है, जैसाकि सूत्रकार ने कहा है—'अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः'।[2] जैसे, 'सावयवत्व' हेतु के द्वारा पृथ्वी आदि को कार्य सिद्ध करने पर यदि प्रतिपक्षी कहे कि यह हेतु अप्रयोजक हेत्वाभास है, तो मिथ्याभियोग के कारण यह निरनुयोज्यानुयोग नामक निग्रहस्थान होता है, क्योंकि सावयवत्व हेतु कार्यत्व साध्य को सिद्ध करने में समर्थ है, अप्रयोजक नहीं।

(२१) अपसिद्धान्त

किसी सिद्धान्त को स्वीकार कर अनियम से कथा करना अर्थात् स्वीकृतसिद्धान्त-विरुद्धकथन अपसिद्धान्त निग्रहस्थान है, जैसाकि सूत्रकार ने कहा है—'स्वसिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसंगोऽपसिद्धान्तः'।[3] जैसे–मीमांसकसिद्धान्त को स्वीकार कर यदि वादी कहता है कि अग्निहोत्र स्वर्ग का साधन है, उस पर यदि प्रतिवादी यह प्रश्न करे कि अग्निहोत्र क्रिया यहीं नष्ट हो जाती है, वह उत्तरकालभावी स्वर्ग का साधन कैसे हो सकती है? उसके उत्तर में वह कहता है कि क्रिया यद्यपि नष्ट हो गई है, तो भी उससे आराधित परमेश्वर राजादि की तरह स्वर्गादिरूप फल प्रदान करता है। तो यह उसका उत्तर अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थान से ग्रस्त है, क्योंकि मीमांसादर्शन में ईश्वर की सत्ता नहीं मानी जाती, अतः वह कैसे प्रदान कर सकता है?

(२२) हेत्वाभास

पूर्वोक्त छः हेत्वाभास भी निग्रहस्थान हैं, किन्तु उनको निग्रहस्थान मानने के लिये पृथक् लक्षण मानने की आवश्यकता नहीं है, पहिले जो उनके लक्षण बतलाये

1. न्यायसूत्र, ५।२।२२
2. „ ५।२।२१
3. „ ५।२।२४

जा चुके हैं, उन्हीं लक्षणों से इनका निग्रहस्थानत्व उपपन्न है। इसीलिये सूत्रकार ने कहा है—'हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः'।[1] इस सूत्र में 'च' शब्द अन्य दृष्टान्ताभासादि निग्रहस्थानों का संग्राहक है। निग्रहस्थानों का परिगणन उनकी इयत्ता का निर्धारण करने के लिये नहीं, अपितु उदाहरणमात्रप्रदर्शनार्थ है। अतः परिगणित निग्रहस्थानों से अधिक निग्रहस्थान मानने में सूत्रविरोध नहीं है। दुर्वचन, कपोलवादनादि भी साध्यसिद्धि में अनुपयोगी होने से निग्रहस्थान ही हैं।[2]

⊕

1. न्यायसूत्र, ५।२।२५
2. न्यायभूषण, पृ. ३७१

षष्ठ विमर्श

आगमप्रमाणनिरूपण

यद्यपि वैदिकमतानुसार वेदों का जैसा प्रामाण्य माना जाता है, वैसा प्रत्यक्ष आदि का भी नहीं। अद्वैत वेदान्तियों का तो यहां तक कहना है कि जैसे बौद्ध-सिद्धान्त मे निर्विकल्पात्मक स्वलक्षण तत्त्व को विषय करने के कारण प्रत्यक्ष ही परमार्थतः प्रमाण है और अनुमान अविसंवादी अर्थमात्र का ग्राहक होने के कारण व्यवहारतः प्रमाण है, वैसे ही असन्दिग्ध, अनधिगत, अबाधित, अर्थभूत ब्रह्म तत्त्व को विषय करने के कारण महावाक्यात्मक शब्दप्रमाण ही एकमात्र पारमार्थिक दृष्टि से प्रमाण है। उससे भिन्न प्रत्यक्षादि पांचों प्रमाणों में व्यवहारसिद्धि के लिये व्यवहारतः प्रामाण्य है, परमार्थतः नहीं, क्योंकि उनका प्रमेय पदार्थ ब्रह्मज्ञान के द्वारा बाधित हो जाता हैं। अतः वे बाधितार्थविषयक होते हैं। केवल तद्वति तत्प्रकारकत्वरूप सांव्यवहारिक प्रमाण्य उनमें माना जाता है।

जैमिनि धर्म में वेदों का प्राधान्य और प्रामाण्य स्वीकार करते हुए कहते हैं—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'[1]। शबर स्वामी भी शब्द का अगाध सामर्थ्य मानते हैं—'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुं नान्यत्किंचनेन्द्रियम्'।[2] यहां 'चोदना' पद शब्दमात्र का बोधक है, जैसाकि कुमारिल भट्ट कहते हैं—'चोदनेत्यब्रवीच्चात्र शब्दमात्रविवक्षया'।[3] स्मृतिकार 'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः'[4]—ऐसा उद्घोष करते हुए श्रुतिप्रामाण्य पर पूर्ण विश्वास प्रकट करते हैं। अतः वैदिक दार्शनिकों की कक्षा में प्रविष्ट नैयायिकों को भी शब्द का प्राधान्य स्वीकार करके शब्द प्रमाण का सर्वप्रथम निरूपण करना चाहिए था, तथापि आन्वीक्षिकी-शास्त्र के प्रवर्तक महर्षि अक्षपाद ने 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि'[5] इस सूत्र के द्वारा अपने प्रमाणों का क्रम निर्दिष्ट कर दिया है। अतः न्यायसूत्रपरिवार के किसी भी प्रकरण या शास्त्र को यह सोचने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि हम किस प्रमाण को प्रधान तथा किसे अप्रधान मानें। सूत्रनिर्दिष्ट क्रम के अनुसार ही प्रायः सभी आचार्यों ने प्रमाणों का निरूपण किया है।

1. जैमिनिसूत्र, १।१।२
2. मीमांसादर्शन, (शाबरभाष्यसहित), पृ. ३
3. मीमांसाश्लोकवार्तिक, चोदनासूत्र, का. ७
4. मनुस्मृति, २।१२
5. न्यायसूत्र, १।१।३

नव्य न्याय के प्रवर्तक आचार्य गंगेशोपाध्याय ने भी अपने 'तत्त्वचिन्तामणि' नामक ग्रन्थ में क्रमशः प्रत्यक्ष-खण्ड, अनुमानखण्ड, उपमानखण्ड और शब्दखण्ड का का निरूपण करते हुए इसी क्रम को अपनाया है। सूत्रनिर्दिष्ट एक पदार्थ का निरूपण हो जाने के पश्चात् उत्तरभावी पदार्थ के निरूपण का अवसर सहज सुलभ हो जाता है, अतः अवसरसंगति का सहारा लेकर अनुमान के अनन्तर शब्द का निरूपण न्यायसंगत है। उपमान प्रमाण अनुमान के अनन्तर निर्दिष्ट होने पर भी भासर्वज्ञ ने उसका प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया है। अतः उनका कहना है—
'अवसितमनुमानमागस्येदानीं लक्षणमुच्यते'[1] (अवसरसंगत्या)।

भासर्वज्ञाचार्य ने समयबलेन सम्यक्परोक्षानुभवसाधनगमागमः'[2] यह आगम प्रमाण का लक्षण किया है। सव्यापार कारण को ही कार्य का निर्वर्तक माना जाता है। जैसे—उद्यमन, निपातनादिव्यापारयुक्त कुठार काष्ठादि के द्वैधीभाव का सम्पादक होता है। जैसे इन्द्रियसन्निकर्षरूप व्यापार के माध्यम से चक्षुरादि करणों में प्रत्यक्ष ज्ञान की जनकता आती है तथा जैसे व्याप्ति (अविनाभाव)—ज्ञान को व्यापार बनाकर साधन अपने साध्य की अनुमिति किया करता है, उसी प्रकार संगतिग्रह या संकेतज्ञानरूप व्यापार द्वारा पदज्ञान परोक्षज्ञान का साधन बनता है। उसी साधन को आगम प्रमाण कहा जाता है। भासर्वज्ञोक्त आगम प्रमाण के इस लक्षण का उनके परवर्ती उदयनाचार्य ने भी उल्लेख किया है—'तत्र समयबलेन सम्यक्परोक्षानुभवसाधनं शब्द इति एके'।[3] पदकृत्य पर विचार करते हुए उन्होंने कहा है कि प्रथम, द्वितीय, तृतीय चतुर्थ तथा पंचम पद क्रमशः अनुमान, शब्दाभास, सविकल्पक प्रत्यक्ष, पदार्थस्मरण तथा कर्ता व कर्म के निवर्तक हैं। 'अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्यः'-इस प्रकार की ईश्वरीय इच्छा या संकेत ही समय कहलाता है। ईश्वरीय इच्छारूप संकेत अनादि होता है और वही मुख्य है। पाणिनि आदि कृत गुणसंज्ञा, वृद्धिसंज्ञा आदि भी आधुनिक संकेत हैं, किन्तु वे अमुख्य हैं। सभी सूत्रकारों ने अपने ग्रन्थों में पृथक्-पृथक् समय माने हैं।

कतिपय दार्शनिक ज्ञायमान शब्द को करण मानते हैं और अन्य शब्दज्ञान को[4]। इस प्रकार शब्द और शब्दज्ञान दोनों का ग्रहण आगम से होता है। आचार्य भासर्वज्ञ ने दोनों मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए 'तच्छब्दात्मकमशब्दात्मकं वा करणम्'[5] यह कहकर विकल्प से दोनों को स्वीकार किया है। इस प्रकार यह निष्कृष्टार्थ प्राप्त होता है कि समय-सामर्थ्य से परोक्ष प्रमा के करणीभूत पदार्थ को

1. न्यायसार, पृ. २९
2. वही, पृ. २९
3. तात्पर्यपरिशुद्धि, १।१।७
4. पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः। —भाषापरिच्छेद, का. ८१
5. न्यायभूषण, पृ ३७९

आगम कहा जाता है, चाहे वह शब्दात्मक हो अथवा ज्ञानात्मक। 'परोक्षानुभव-साधनमागमः'—यह लक्षण करने पर अनुमान प्रमाण में अतिव्याप्ति हो जाती है, इसलिये 'समयबलेन' संयोजित किया गया है। अनुमान प्रमाण अविनाभावरूप व्याप्ति का सहारा लेकर परोक्षज्ञान को जन्म देता है, समय या संकेतज्ञान के आधार पर नहीं। शब्द आगम प्रमाण है, वह समयपदाभिहित ईश्वरीय इच्छारूप संकेतज्ञान के द्वारा परोक्षज्ञान को जन्म देता है। यदि कोई अविनाभाव और समयरूप द्वारों को अभिन्न करना चाहे, तो उसका निराकरण करने के लिये आचार्य भासर्वज्ञ कहते हैं कि वे दोनों एक नहीं, अपितु उनमें बहुत बड़ा अन्तर है।[1] साध्य और साधन के स्वाभाविक सम्बन्ध को अविनाभाव कहा जाता है, किन्तु बोधक और बोध्य के पुरुषेच्छाजनित सम्बन्ध को समय कहा जाता है, बोध्य तथा बोधक में अविनाभाव नहीं होता। शबर स्वामी शब्दार्थ के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण आक्षेप और समाधान के द्वारा इस प्रकार करते हैं – 'स्यादेतदेवं नैव शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः। कुतोऽस्य पौरुषेयताऽपौरुषेयता वेति। कथम्? स्याच्चेदर्थेन सम्बन्धः क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे मुखस्य पाटनपूरणे स्याताम यदि संश्लेषलक्षणं संबन्धमभिप्रेत्योच्यते कार्यकारण-निमित्तनैमित्तिकाश्रयाश्रयिभावादयस्तु संबन्धाः शब्दस्यानुपपन्ना एवेति। उच्यते। यो ह्यत्र व्यपदेश्यः संबन्धस्तमप्येकं न व्यपदिशति भवान्प्रत्याय्यस्य प्रत्यायकस्य च संज्ञासंज्ञिलक्षण इति।[2] शब्द और अर्थ का संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध शाब्द प्रमा का माध्यम है। अनुमान प्रमाण का माध्यम अविनाभाव है। परोक्षज्ञान के जनक अनुमान प्रमाण और शब्दप्रमाण दोनों हैं, किन्तु द्वार भिन्न-भिन्न हैं।

समयसामर्थ्य से शब्द कहीं-कहीं पर संशय और विपर्यय तथा असद्वस्तु का भी बोधक हो जाता है, परन्तु वह प्रमा नहीं है, जैसाकि कुमारिल ने कहा है—

'अत्यन्ताऽसत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि।
तेनोत्सर्गे स्थिते तस्य दोषाभावात्प्रमाणता ॥[3]

संशय तथा विपर्यय में अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ लक्षण में 'सम्यक्' विशेषण दिया गया है।

खपुष्प इत्यादि शब्दों के द्वारा अवश्य कुछ न कुछ अर्थबोध होता है, किन्तु वह बाधितविषय होने के कारण अप्रमा कहलाता है, प्रमा नहीं, क्योंकि सम्यक् ज्ञान अबाधितविषयक होता है।

सविकल्पक प्रत्यक्ष भी सम्यक् अनुभव होता है, परन्तु परोक्ष नहीं। अतः 'परोक्ष' शब्द सविकल्पक प्रत्यक्ष में आगमलक्षण की अतिव्याप्ति का निवर्तक है। यद्यपि औपनिषद मत में 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों के समान 'तत्त्वमसि' आदि

---

1. "समयाविनाभावयोर्वैलक्षण्यं पश्यामस्तेनानुमाने प्रसंगः समयग्रहणेन न निवर्तितः।"
—न्या. भू., पृ. ३९६

2. मीमांसादर्शन (आनन्दाश्रम संस्कृत-ग्रन्थावली, १९२९), पृ. ४३

3. मीमांसाश्लोकवार्तिक, सूत्र २, का. ६, पृ. ४६

महावाक्यों को प्रत्यक्ष ज्ञान का जनक माना जाता है, तथापि उक्त स्थलों पर जो व्यवस्था आचार्य मण्डन मिश्र तथा उनके अनुयायी वाचस्पति मिश्र आदि ने दी है कि महावाक्यों के श्रवण, मनन, निदिध्यासन से संस्कृत होकर मनरूप आन्तर इन्द्रिय उस प्रत्यक्ष ज्ञान का जनक होता है, शब्द प्रमाण नहीं। वही व्यवस्था नैयायिकों को भी स्वीकृत है।

आगमद्वैविध्य

आचार्य भासर्वज्ञ ने 'स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्' इस न्यायसूत्र का अनुसरण करते हुए आगम प्रमाण के दृष्टार्थ तथा अदृष्टार्थ भेद का निर्देश किया है—'स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थभेदात्'[1]। दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ के स्वरूप का निर्वचन करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि जिस शब्द प्रमाण का अर्थ (विषय) इस लोक में चक्षुरादि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है, वह दृष्टार्थक होता है। तथा जिसके विषय की परलोक में सिद्धि होती है, वह अदृष्टार्थक शब्दप्रमाण कहलाता है।[2] वार्तिककार ने दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ को प्रवक्ता के पक्ष में घटित किया है।[3] प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण कारणसामग्री और विषय के आधार पर किया गया है। भाष्यकारादि ने शब्द प्रमाण का लक्षण विषय और कारणसामग्री की दृष्टि से किया है, कर्ता की दृष्टि से शब्द का लक्षण पहिले नहीं किया गया था। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि साधारणतया वेद में पुरुष-कर्तृत्व नहीं माना जाता था। मीमांसकों ने वेदों का अपौरुषेयत्व मानकर उनका नित्यत्व स्थापित किया। मीमांसकसम्मत शब्दनित्यत्वपक्ष नैयायिकों को स्वीकार्य नहीं था। उनके अनुसार कृतक होने के कारण शब्द अनित्य है। अतः मीमांसकों के शब्दनित्यत्व-पक्ष का परिहार कर शब्दानित्यत्व पक्ष को सुदृढ़ करने के लिए वार्तिककार ने शब्द के भेदों को कर्तृपरक बतलाया है।

वार्तिककारादि से पूर्व बौद्धों और मीमांसकों का वेदप्रामाण्य को लेकर शास्त्रार्थ प्रचलित था। वेदों को प्रमाण मानने के लिये मीमांसकों ने उनका अपौरुषेयत्व स्वीकार किया, बौद्धों ने अपौरुषेयत्व का प्रबल तर्कों से खण्डन किया। दोनों के संघर्ष को देखकर नैयायिकों ने वेदप्रामाण्य के लिये ईश्वरप्रणीतत्व को आधार बनाया। नैयायिक तर्कों द्वारा विषय का परीक्षण करते हैं। नैयायिकों को वेदों के कर्तृत्वपक्ष में तर्कसंगति दिखाई दी, अपौरुषेयत्व में नहीं। अपौरुषेयता न मानने से वे अन्धश्रद्धालुता के दोष से बच जाते हैं और ईश्वरप्रणीतत्व स्वीकार करने से वेदप्रामाण्य की रक्षा भी हो जाती है। वार्तिककार ने नैयायिकों के पौरुषेयत्वपक्ष को ध्यान में रखते हुए दृष्टार्थ तथा अदृष्टार्थ पद का तत्प्रवक्तृपरक निर्वचन किया है।

1. न्यायसार, पृ. २९
2. न्यायभाष्य, १।१।८
3. न्यायवार्तिक, १।१।८

आचार्य भासर्वज्ञ को दृष्टार्थ का अर्थ भाष्यकार के अनुसार विषय की दृष्टि से अभीष्ट है, जैसाकि उनके 'तत्र दृष्टार्थानां वाक्यानाम्'[1] इस प्रयोग से ज्ञात होता है। दृष्टार्थक तथा अदृष्टार्थक द्विविध वाक्यों में से दृष्टार्थक वाक्यों के प्रामाण्य का निश्चय ज्ञाता पुरुष की सफल प्रवृत्ति से होता है। अर्थात् यदि किसी ने कहा है कि घर में पांच फल रखे हुए हैं, इस वाक्य से घर में पांच फलों के होने का ज्ञान प्राप्त कर पुरुष घर में जाता है और पांच फल मिल जाते हैं, तो सफल प्रवृत्ति द्वारा 'गृहे पंच फलानि सन्ति' यह वाक्य प्रामाणिक है, यह निश्चय हो जाता है। और यदि घर में पांच फलों की प्राप्ति नहीं होती तो ज्ञाता की असफल प्रवृत्ति से उस वाक्य का अप्रामाण्यनिश्चय हो जाता है। 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि अदृष्टार्थक वाक्यों में फल के अदृष्ट होने से उसकी प्राप्ति की संभावना भी नहीं है। अतः सफल प्रवृत्ति द्वारा उसके प्रामाण्य का निश्चय न होने से आप्तोक्तता ही उसके प्रामाण्य की निश्चायिका है।

अदृष्टार्थक वाक्यों के प्रणेता अर्थात् वक्ता का प्रत्यक्ष न होने से आप्तोक्तत्वेन भी प्रामाण्य संभव नहीं है, इस आशंका का समाधान करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि 'पुत्रकामो यजेत' इत्यादि वाक्यों के फल के दृष्ट होने से पुत्रेष्टि करने पर पुत्ररूप फल की प्राप्ति हो जाती है और सफल प्रवृत्ति द्वारा उन वाक्यों का प्रामाण्यनिश्चय हो जाता है। 'पुत्रकामो यजेत' इत्यादि वाक्यों के प्रणेता अतीन्द्रियार्थदर्शी होने से परम आप्त पुरुष हैं। अतः उन अतीन्द्रियार्थदर्शी पुरुषों द्वारा प्रणीत सारे ही वाक्य प्रामाणिक हैं, इस प्रकार आप्तोक्तत्वेन सारे ही अदृष्टार्थक वैदिक वाक्यों के प्रामाण्य का निश्चय उपपन्न है। इस रीति से वेदों को ईश्वर पुरुष से प्रणीत मानने पर भी उनमें आप्तोक्तत्वेन प्रामाण्य का ज्ञान संभव है।

वर्णनित्यता का निराकरण

मीमांसक वेदों को अपौरुषेय मानकर नित्यत्वेन उनमें प्रामाण्य मानते हैं, वह संभव नहीं, क्योंकि वाक्यों के नित्य होने में कोई प्रमाण नहीं मिलता। अभिप्राय यह है कि वाक्य या पद वर्णों से भिन्न नहीं है। वर्णसमूह पद तथा पदसमूह वाक्य कहलाता है और समूह अवयवों से भिन्न नहीं होता। अतः वाक्य वर्णरूप हैं और वर्ण उत्पाद-विनाशशाली होने से अनित्य हैं। यदि वर्णों को नित्य भी माना जाय, तो भी वेद का प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वर्णनित्यत्वेन वेद का प्रामाण्य मानने पर सभी लौकिक वाक्य भी प्रमाण होने लग जायेंगे। तात्पर्य यह है कि 'य एव वेदे वर्णाः त एव लोके' इस प्रत्यभिज्ञा के बल से लौकिक व वैदिक वर्ण एक हैं। यदि वर्णनित्यत्व के कारण वेद का प्रामाण्य माना जाता है, तो लौकिक वाक्यों का भी प्रामाण्य मानना होगा और लौकिक वाक्य सभी प्रमाण नहीं हैं,

1. न्यायसार, पृ. २९

अतः वर्णनित्यत्व को वेदप्रामाण्य का कारण नहीं माना जा सकता। वाक्यनित्यत्व की अपेक्षा वाक्यों का अनित्यत्व ही 'वैदिकानि वाक्यानि अनित्यानि वाक्यत्वात् लौकिकवाक्यवत्' इस अनुमान से सिद्ध होता है। इसी प्रकार निम्नोक्त अनुमानों से भी शब्द में अनित्यत्व ही सिद्ध होता है :

१ 'अनित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् घटादिवत्',

२ 'अनित्यः शब्दः तीव्रत्वादिधर्मयुक्तत्वात्, सुखदुःखादिवत् ।'

तथा शब्द को नित्य मानने पर यदि आकाशादि की तरह उसका अनुपलब्धिस्वभाव है, तो कभी भी शब्द की उपलब्धि नहीं होनी चाहिए और यदि उसका उपलब्धि स्वभाव है तो सर्वदा ही उपलब्धि होनी चाहिए।

शब्द के नित्य होने पर भी व्यंजक द्वारा उसकी उपलब्धि होती है, अतः व्यंजककाल में ही उसकी उपलब्धि है, सर्वदा नहीं। जैसे, कक्ष में घट के विद्यमान होने पर भी प्रदीपादिरूप व्यंजक के बिना उसकी उपलब्धि नहीं होती, यह कथन भी समीचीन नहीं, क्योंकि शब्द का व्यंजक कोई उपलब्ध नहीं होता। वायुसंयोग को नित्य शब्द का व्यंजक मानने पर सभी शब्दों की एक काल में अभिव्यक्ति हो जानी चाहिये, क्योंकि वायुसंयोग को किसी शब्दविशेष का व्यंजक मानने में कोई कारण प्रतीत नहीं होता और जैसे चक्षुरिन्द्रिय अविशेषेण इन्द्रियसम्बद्ध सभी रूपों के ग्रहण में समथ हैं, उसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय भी वायुसंयोग द्वारा अभिव्यक्त सभी शब्दों के ग्रहण में समर्थ हैं। न तो श्रोत्र के किसी प्रतिनियत शब्द के संस्कार से युक्त होने में प्रमाण है और न शब्दों के प्रतिनियत संस्कार से युक्त होने में कोई प्रमाण है। अतः वायुसंयोग भी शब्दव्यंजक होने से सभी शब्दों की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ है तथा श्रोत्रेन्द्रिय भी चक्षुरादि इन्द्रियों की तरह अपने विषयभूत सभी शब्दों के ग्रहण में समर्थ है। इसलिये एक काल में सभी शब्दों की अभिव्यक्ति व श्रोत्रेन्द्रिय से उनका ग्रहण होना चाहिए। किन्तु होता नहीं। अतः वायुसंयोग को नित्य शब्द का अभिव्यंजक नहीं मान सकते।

यदि यह कहा जाय कि शब्दों को अनित्य मानने में भी यह दोष है, क्योंकि ककारोच्चारण के लिये प्रेरित वायु वर्णान्तरोत्पादक वायुओं के समान होने से एक काल में सर्ववर्णों की उत्पत्ति क्यों नहीं करता? अविद्यमान वर्ण का वायुसंयोग उत्पादक है और सभी वर्ण उत्पत्ति से पूर्व समानरूप से अविद्यमान हैं। अतः वर्णो के उत्पत्तिपक्ष में इस दोष का जो परिहार होगा, वही अभिव्यक्ति पक्ष में भी माना जा सकता है। इसीलिये अभियुक्तों ने कहा है—

'यश्चोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोः समः।'

इसका समाधान करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि कारक और व्यंजक कारणों में वैधर्म्य है। मृत्पिण्डचक्रचीवरादि उत्पादक कारणों का समूह कुलाल के शरावनिर्माण के अभिप्राय से नियमित होकर शराव आदि प्रतिनियत कार्य का ही उत्पादन करता है,

घटादि का नहीं। किन्तु प्रदीपादिव्यंजक सामग्री किसी के अभिप्राय से नियमित नहीं होती, अत एव प्रतिनियत व्यंग्य का ही व्यंजन नहीं करती, अपितु स्वसम्बद्ध सभी व्यंग्यों का करती है। अतः वर्णोत्पत्ति पक्ष में वायुसंयोग उत्पादयिता पुरुष के अभिप्राय से नियमित होने के कारण प्रतिनियत ककारादि वर्ण का ही उत्पादन करता है, सभी वर्णों का एक काल में नहीं। किन्तु वायुसंयोग को शब्द-व्यंजक मानने पर वह पुरुषाभिप्राय से अतः वायु संयोग को शब्द का व्यंजक न मानकर उत्पादक मानना ही उचित है। अत एव वर्णों का अनित्यत्वपक्ष ही संगत है, नित्यत्व नहीं और इसी लिये नित्यत्वेन शब्दों का प्रामाण्य न मानकर आप्तोक्तत्वेन ही प्रामाण्य मानना समुचित है।

इस प्रकार भासर्वज्ञ ने प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम ये तीन ही प्रमाण माने हैं, शेष का इन्हीं प्रमाणों में अन्तर्भाव माना है।

अर्थापत्ति का प्रमाणान्तरत्व–निराकरण

अन्यथा अनुपपद्यमान अर्थ के द्वारा उसके उपपादक अर्थ की कल्पना अर्थापत्ति प्रमाण है। जैसे–दिन में भोजन न करने वाले देवदत्त की प्रत्यक्षतो ज्ञात पीनता द्वारा उसके उपपादक रात्रि-भोजन की कल्पना अर्थापत्ति है। पीन देवदत्त का रात्रिभोजन प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात नहीं है, क्योंकि उसके साथ इन्द्रियसंनिकर्ष नहीं। तथा रात्रिभोजन के बोधक किसी आप्तवाक्य के न होने से वह शब्द प्रमाण से भी ज्ञात नही है। सादृश्यज्ञान के द्वारा रात्रिभोजन का ज्ञान न होने से उपमान प्रमाण द्वारा उसका ज्ञान नहीं। पीनता के साथ रात्रिभोजन का अव्यभिचाररूप व्याप्तिसम्बन्ध न होने से अनुमान द्वारा भी उसका ज्ञान नहीं। इसी प्रकार जीवित पुरुष की गृहासत्ता बहिः सत्ता के बिना अनुपपन्न है। अतः जीवी पुरुष की गृहासत्ता के उपपादक बहिः सत्त्व की कल्पना भी अर्थापत्ति है। उपर्युक्त रीति से रात्रिभोजनादि का प्रमाणान्तर द्वारा ज्ञान न होने से उसके बोधक अर्थापत्ति प्रमाण को पृथक् प्रमाण मानना चाहिये।

भासर्वज्ञ का कथन है कि अनुमान प्रमाण से रात्रिभोजन को या बहिः सत्त्व की अनुमिति होने से अनुमान प्रमाण में इसका अन्तर्भाव उपपन्न है। अनुमान अविनाभावरूप व्याप्ति के बल से अर्थसिद्धि करता है। जैसे, धूम वह्न्यविनाभाव से पर्वतादि में वह्नि की सिद्धि करता है, किन्तु यहां तो अन्यथानुपपत्ति के बल से रात्रि-भोजन या पुरुष की बहिः सत्ता सिद्ध होती है। अतः इसे अनुमान कैसे माना जा सकता है? तथापि 'अन्यथा नोपपद्यते' इस उक्ति का तात्पर्य 'उसके होने पर ही होता है,' इस अविनाभाव में ही है अतः दिन में भोजन न करने वाले पुरुष

को पीनता तथा रात्रिभोजन का अविनाभाव उपपन्न हो जाता है।[1] निम्नलिखित अनुमान भी इसी तथ्य को सिद्ध कर रहे हैं :

'देवदत्तो रात्रिभोजनवान् दिवाऽभुंजानत्वे सति पीनत्वात्'।

'चैत्रो बहिः सत्त्ववान्, जीवित्वे सति गृहासत्त्वात्'।

गृहासत्त्व का सत्ता के साथ विरोध होने से वह सत्ता को कैसे सिद्ध करेगा, यह आशंका भी अविचारितरमणीय है, क्योंकि गृहासत्त्व का गृहसत्त्व से विरोध है न कि सत्तामात्र से। अतः गृहासत्त्व बहिः सत्ता का विरोधी नहीं है। जहां विस्फोटादि कार्य की अन्यथानुपपत्ति के द्वारा अग्नि में दाहकत्वशक्ति की कल्पना की जाती है, वहां अनुमान नहीं बन सकता, क्योंकि कारण-साकल्य के प्रत्यक्षविषय न होने से कारणसाकल्य में और वह्निनिष्ठ अप्रतिबद्ध शक्ति में अन्वयसहचाररूप अन्वयव्याप्ति नहीं बन सकती। अतः तदर्थं अर्थापत्ति प्रमाण मानना पड़ेगा, यह कथन भी समीचीन नहीं, क्योंकि वहां भी व्यतिरेकव्याप्ति के संभव से केवलव्यतिरेकी अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव संभव है।[2] अन्वयव्याप्ति के अभाव से यदि केवलव्यतिरेकी को अनुमान न मानने पर व्यतिरेकव्याप्ति के अभाव से केवलान्वयी हेतु का भी अनुमानत्व नहीं होगा और उसे भी केवलव्यतिरेकी की तरह पृथक् प्रमाण मानना पड़ेगा और इसी प्रकार प्रत्यक्षादि भेदों में भी स्वल्प वैधर्म्य के कारण प्रत्यक्ष न होने से प्रमाणान्तरता की आपत्ति होगी। अतः अन्वयव्याप्ति के वैधुर्य से केवल-व्यतिरेकी को अनुमान मानना उचित है और केवलव्यतिरेकी अनुमान में ही अर्थापत्ति का अन्तर्भाव है।[3]

संभव का प्रमाणान्तरत्वनिराकरण

सहस्र संख्या में शत संख्या के सम्भव से सहस्र के द्वारा शतादि संख्या की प्रतिपत्ति संभव प्रमाण है। सहस्र में शतादि संख्या का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाण का विषय नहीं है, अतः इसे पृथक् प्रमाण मानना चाहिए, ऐसा कतिपय विचारक मानते हैं। किन्तु भासर्वज्ञ का कथन है कि सहस्र में शतादि संख्याप्रतिपत्ति अनुमान प्रमाण से संभव है। शतादि संख्या का सहस्र संख्या से अविनाभाव है, क्योंकि स्वल्प संख्या का समाहार ही अधिक संख्या है। स्वल्प संख्या के अभाव में अधिक संख्या की अनुपपत्ति है। अतः 'सहस्रं शतादिसंख्याविनाभूतं सहस्रस्य स्वल्पशतादि-संस्थासमाहाररूपत्वात्, स्वल्पसंस्थाभावे प्रभूतसंस्थानुपपत्तेः' इत्याकारक अनुमान द्वारा ही सहस्रसंख्या में शतादि संख्या का ज्ञान उत्पन्न होने से संभव के पृथक्प्रामाण्य की अपेक्षा नहीं।

1. न्यायसार, पृ. ३२–३३

2. न्यायसार, पृ. ३३

3. न्यायभूषण, पृ. ४३०–४३१

अभाव का प्रमाणान्तरत्वनिराकरण

भाट्ट मीमांसक भूतलादि में घटाभवज्ञान के लिये अनुपलब्धि या अभाव नामक पृथक् प्रमाण की सत्ता स्वीकार करते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि भूतल में घटाद्यभाव का प्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं, क्योंक घटाद्यभाव की इन्द्रिय के साथ संयोगादि सम्बन्धों की अनुपपत्ति है। अभाव के द्रव्य न होने से उसके साथ चक्षुरिन्द्रिय का संयोग सम्बन्ध नहीं बन सकता। अभाव के गुण, कर्म व तद्गत जाति न होने से संयुक्तसमवाय तथा संयुक्तसवेतसमवाय सम्बन्ध भी बन सकते। अभाव के शब्द व शब्दत्वरूप न होने से समवाय तथा समवेतसमवाय सम्बन्ध भी नहीं बनते। विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध ही नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध द्विष्ठ, एक तथा सम्बन्धियों से भिन्न होता है। विशेषण-विशेष्यभाव में विशेषणता विशेषण में व विशेष्यता विशेष्य में ही रहती है। अतः वह द्विष्ठ नहीं है तथा वह दोनों संबंधियों से भिन्न भी नहीं है। अतः इन्द्रिय के साथ अभाव का कोई सम्बन्ध न होने से प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा घटाद्यभाव का ज्ञान नहीं हो सकता। अव्यभिचारी लिंगज्ञान, सादृश्यज्ञान तथा पदज्ञान के अभाव से अनुमानादि प्रमाणों को अभावज्ञान में प्रसक्ति नहो है। अतः परिशेषात् भूतलादि में घटाभावादि के ज्ञान के लिए अनुपलब्धि अर्थात् उपलब्धि के अभाव को पृथक् प्रमाण मानना होगा। इससे भूतल में घटाभावादि का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, क्योंक यदि भूतल में घटाभाव होता, तो भूतल की तरह उसकी भी इन्द्रिय से उपलब्धि होती है। उपलब्धि का अभाव है, अतः भूतल में घटाभाव का निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है।

भासर्वज्ञ का कथन है कि भूतलादि में घटाद्यभावज्ञान इन्द्रियरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से ही होता है, क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रिय के होने पर ही घटाद्यभावज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। अतः घटाद्यभावज्ञान का इन्द्रिय के साथ अन्वयव्यतिरेक होने से इन्द्रिय ही उसमें कारण है।

यदि यह कहा जाय कि इन्द्रिय का अन्वयव्यतिरेक भूतलादिज्ञान में पर्यवसित है न कि अभाव के साथ, तो यह कथन भी युक्त नहीं क्योंकि जैसे घटरूप प्रत्यक्ष स्थल में घटादि आश्रय के साथ विद्यमान इन्द्रिय का सम्बन्ध रूपादि आश्रित के साथ भी माना जाता है, उसी प्रकार घटाभावादि के आधार भूतल में विद्यमान इन्द्रिय-सम्बन्ध के तदाश्रित घटाभावादि के साथ भी मानने में कोई बाधा नहीं है।

घटाभावादि के साथ इन्द्रिय का संयोग, समवाय या अन्य कोई सम्बन्ध नहीं है और विषय से असम्बद्ध इन्द्रिय विषयग्रहण में असमर्थ है, यह कथन भी तर्क-संगत नहीं है, क्योंकि मीमांसकमत में जैसे घटरूपादि का इन्द्रिय के साथ घटरूपादि के प्रत्यक्षरूप कार्य से अनुमेय योग्यतारूप सम्बन्ध है, उसी प्रकार घटाभावादि के प्रत्यक्ष में भी घटाभावादि के प्रत्यक्षरूप कार्य से अनुमेययोग्यता सम्बन्ध इन्द्रिय

का घटाभावादि के साथ विद्यमान है और न्यायमत में जैसे घटरूपादि के साथ इन्द्रिय का संयोग या समवाय संबंध न होकर संयुक्तसमवायादि सम्बन्ध है, जैसे ही भूतलनिष्ठ घटाभावादि के साथ भी इन्द्रिय का संयुक्त-विशेषण विशेष्यभावादि सम्बन्ध विद्यमान है। 'चक्षुषा घटरूपं पश्यामि' की तरह 'चक्षुषा घटाभावं पश्यामि' प्रतीति भी समान है।[1] संयोग-समवायादि से भिन्न विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध की अनुपपत्ति है, यह मान्यता भी तर्कयुक्त नहीं है, क्योंकि 'भूतलं घटाभाववत्' इस विशिष्ट प्रतीति के बल से अभाव के साथ इन्द्रिय का संयोगादि रहित विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध मानना ही होगा। जैसे-'गोमान्' इस विशिष्ट प्रतीति के बल से गोमान् पुरुषमात्र के साथ इन्द्रिय का संयोग सम्बन्ध होने से विप्रकृष्ट देशस्थित गाय के साथ इन्द्रियसम्बन्ध न होने पर भी उसके साथ संयोगादिरहित विशेषण-विशेष्यभाव माना जाता है अन्यथा 'गोमान् इत्याकारक विशिष्ट प्रतीति अनुपपन्न हो जायेगी। अतः इन्द्रिय के साथ घटाभावादि का विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध होने से इन्द्रिय द्वारा ही भूतलादिवर्ती घटाभावादि का ज्ञान हो जाता है, उसके ज्ञान के लिये अनुपलब्धि अर्थात् उपलब्ध्यभाव को पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं।

ऐतिह्य का प्रमाणान्तरत्वनिराकरण

जनश्रुतिपरम्परागत 'इस वट में यक्ष है' इत्याकारक ज्ञान के लिये कतिपय विद्वान् 'इह वटे यक्षः प्रतिवसति' इस अनिर्दिष्टवक्तृक प्रवादपरम्परारूप ऐतिह्य को प्रमाण मानते हैं। यह ऐतिह्य पृथक् प्रमाण है, क्योंकि वट में यक्षज्ञान इन्द्रियसम्बन्ध के अभाव से प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं है। किसी अव्यभिचारी लिंगाज्ञन के अभाव से अनुमान द्वारा तथा सादृश्यज्ञान के अभाव से उपमान प्रमाण द्वारा व आप्तपुरुषवक्तृत्व के ज्ञान के अभाव से आप्तवाक्यरूप शब्द प्रमाण द्वारा भी उसका ज्ञान संभव नहीं।

किन्तु भासर्वज्ञ नैयायिक मतानुसार यह कहते हैं कि 'इह वटे यक्षः प्रतिवसति' यह किसी आप्त पुरुष का वाक्य है, तब तो आप्तवाक्य द्वारा वट में यक्षज्ञान होने से वह शब्द प्रमाण ही है और यदि वह वचन आप्तपुरुषोक्त नहीं है, तो उसे प्रमाण मानना ही असंगत है। परम्परागत जनश्रुति का भी कोई अज्ञात आप्त पुरुष मूल होता है, इस अभिप्राय से भासर्वज्ञ ने उसका आगम प्रमाण में अन्तर्भाव बतलाया है।[2]

चेष्टा का प्रमाणान्तरत्वनिराकरण

शरीर व शरीरावयवों की प्रयत्नजनित क्रिया रूप चेष्टा का भी प्रमाण है, क्योंकि उसके द्वारा नाट्य व लोक में भिन्न पुरुषाभिप्रायों की प्रतीति होती है।

1. न्यायसार, पृ. ३३, ३४ 2. न्यायसार, पृ. ३४

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अप्रतिपादित पुरुषाभिप्रायविशेष की बोधिका होने से चेष्टा पृथक् प्रमाण है ऐसा पौराणिक मानते हैं।

किन्तु चेष्टा नाट्यशास्त्रादि द्वारा ज्ञात संकेत के बल से ही सतत्पुरुषाभिप्राय विशेष का बोधन करती है। अतः संकेतग्रह द्वारा अर्थबोधक होने से उसका आगम प्रमाण में अन्तर्भाव है। संकेतबल से पुरुषाभिप्रायविशेष का बोधन करने पर भी वह शब्दरूप नहीं है, अतः इसे आगम नहीं माना जाना चाहिए, यह आपत्ति निर्मूल है, क्योंकि ऐसा मानने पर लिप्यक्षरों के भी शब्दरूप न होने से अर्थप्रतिपत्ति की अनुपपत्ति होगी। अतः शब्दरूप न होने पर चेष्टा संकेतबल से अर्थबोधन करने के कारण शब्द-प्रमाणरूप ही है।[1]

इस प्रकार अर्थापत्ति आदि प्रमाणों में अनुमान शब्दादि प्रमाणों में अन्तर्भाव हो जाने से अर्थापत्ति आदि का पृथक् प्रमाणत्व नहीं है। इसी अभिप्राय से सूत्रकार ने कहा है—'शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः'।[2]

उपमान के पृथक् प्रामाण्य का निराकरण

भासर्वज्ञ नैयायिक होते हुए भी परम्परागत न्यायसिद्धान्त के विरुद्ध सांख्य,[3] योग[4] आयुर्वेदादि दर्शनों की तरह प्रत्यक्ष, अनुमान व शब्द (आगम) इन तीन प्रमाणों को ही स्वीकार करता है[5] तथा प्राचीन न्यायचार्यों द्वारा स्वीकृत उपमान प्रमाण का शब्द में अन्तर्भाव मानता है[6]। उनका आशय यह है कि 'यथा गौस्तथा गवयः' अर्थात् जैसे गाय होती है, वैसा ही गवय होता है इत्याकारक ज्ञान ही उपमान है और यह वाक्यरूप है। अतः इसका 'अग्निमानय' इत्यादि वाक्यों की तरह शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव है। यदि 'यथा गौस्तथा गवयः' इस वाक्य के अन्य वाक्यों से भिन्न होने के कारण उपमान को पृथक् प्रमाण माना जायेगा, तो विधि, अर्थवाद आदि वाक्यों के भी सामान्य वाक्यों से भिन्न होने के कारण उनमें भी पृथक् प्रामाण्यापत्ति होगी।[7]

मीमांसकों का कथन है कि 'यथा गौस्तथा गवयः' यह ज्ञान तो शब्द प्रमाणजन्य है, किन्तु वन में गवय को देखने पर 'मेरी गाय इस गवय के समान है'

1. न्यायसार, पृ ३४
2. न्यायसूत्र, २।२।२
3. त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्...।—सांख्यकारिका, ४
4. प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।—न्यायसूत्र, १।७
5. एवमेतानि त्रीण्येव प्रमाणानि। —न्यायसार, पृ. ३४
6 तत्र गौरिव गवय इत्युपमानं शब्देऽन्तर्भूतम्। —वही, पृ. ३०
7. न्यायभूषण, पृ. ४१७

अर्थात् गो में गवयसादृश्यज्ञान है वह उपमान है। उस समय गाय का प्रत्यक्षादि द्वारा ज्ञान न होने से उस ज्ञान को प्रत्यक्षादिप्रमाणजन्य नहीं कहा जा सकता। अतः उपमान को पृथक् प्रमाण मानना उचित है। किन्तु भासर्वज्ञ का कथन है कि गृहस्थित गाय का तथा सादृश्य का पहिले प्रत्यक्ष हो चुका है। अतः वन में गवय को देखने पर उसमें (गो में) गवय-सादृश्यज्ञान स्मृतिमात्र है, क्योंकि पहिले घर में चक्षुरिन्द्रिय द्वारा गोपिण्ड के प्रत्यक्ष के समय विषाणादिप्रत्यक्ष की तरह प्रत्यक्ष-योग्य होने से सादृश्य का भी प्रत्यक्ष हो चुका है। अतः उसकी स्मृति मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है।[1] गोपिण्ड प्रत्यक्षकाल में सादृश्यमात्र का ही प्रत्यक्ष हुआ है न कि गवयसादृश्य का। अन्यथा उसी समय गवयसादृश्य की प्रतीति हो जाती और वर्तमान में 'अनेन सदृशो मदीया गौः' इस रूप से गो में गवयसादृश्यज्ञान हो रहा है, अतः इसे स्मृति नहीं माना जा सकता—यह शंका भी निराधार है, क्योंकि गोपिण्डदर्शनकाल में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा सादृश्यमात्र का ज्ञान होने पर भी यदि गाय गवय के सदृश न होती, तो गवय भी गाय के सदृश नहीं होता, किन्तु यह गवय गोपिण्ड के समान है, अतः यह मेरी गाय भी गवय के समान अवश्य है, इस आपत्ति से गवय-दर्शन-काल में गोपिण्ड में गवयसादृश्य का स्मरण हो जाता है। निर्विकल्पक अनुभव से अर्थात् गो में सादृश्यमात्र के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से 'गवयसादृश्य वाली यह गाय है,' ऐसी सविकल्पक स्मृति अनुपपन्न है, क्योंकि अनुभवानुकारिणी ही स्मृति होती है, यह आशंका भी समुचित नहीं। जैसे अभाव, सामान्य का पूर्व निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होने पर भी बाद में प्रतियोगिज्ञानादि सहकारिकारणों के सामर्थ्य से अभावादि की सविकल्पक स्मृति होती है उसी प्रकार गौ में सादृश्यमात्र के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से बाद में गवय को देखने पर 'यह गौ गवयसादृश्य वाली है,' यह सविकल्पक स्मृति गवयदर्शनसामर्थ्य से हो जाती है।[2]

जैसी गाय है वैसा गवय है, यह ज्ञान 'यथा गोस्तथा गवयः' इस वाक्य से हो जाने पर भी 'गवय शब्द गवय-पिण्ड का वाचक है,' यह ज्ञान उपर्युक्त वाक्य से नहीं होता और उपमान का फल गवय शब्द तथा गवयपिण्ड में संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध का ज्ञान है। अतः तदर्थ उपमान को पृथक् प्रमाण मानना चाहिये, यह न्याय-भाष्यकार,[3] वार्तिककारादि की मान्यता है। किन्तु भासर्वज्ञ का कथन है कि यह संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान भी आप्तवाक्यरूप शब्दप्रमाण से ही उपपन्न हो जाता है। इसीलिये तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि यह गवयपिण्ड गवयशब्दवाच्य है, ऐसा पूछने पर वह व्यक्ति उत्तर देता है कि 'यथा गौस्तथा गवयः' इस वनेचर के वाक्य से

1. न्यायसार, पृ. ३०

2. न्यायभूषण, पृ. ४१८-४१९

3. समाख्यासबन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः।—न्यायभाष्य, १।१।६

मालूम हुआ, न कि उपमान से। यह प्रश्नोत्तर संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान को आप्तवाक्यरूप शब्द से जन्य ही बतला रहा है।[1] तथा 'प्रत्यक्षेण घटं पश्यामि,' 'धूमेनाग्निं जानामि,' 'आगमेन स्वर्गमवगच्छामि' की तरह 'उपमानेन संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं जानामि' का प्रयोग कोई भी लौकिक तथा तैर्थिक नहीं कहता, अतः उपमान पृथक् प्रमाण नहीं है। 'यथा गौस्तथा गवयः' इस वनेचरवाक्य से संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध-ज्ञान अनुपपन्न है, क्योंकि वनेचरवाक्योच्चारण के समय गवयपिण्ड का प्रत्यक्ष नहीं है और अप्रत्यक्ष अर्थ में संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान कैसे हो सकता है, यह शंका भी निर्मूल है, क्योंकि अदृष्ट शक्रादिशब्दसम्बन्धज्ञान तथा कभी-कभी अदृष्ट पुत्रादि में नामकरण लोक में अनुभवसिद्ध है। अदृष्ट शक्रादि में जैसे शक्रादि-संज्ञाग्रहण में नेत्रसहस्रादि निमित्त उपलब्ध होते हैं उसी प्रकार अदृष्ट गवयपिण्ड में गवयसंज्ञाज्ञान का निमित्त गवादिसादृश्य भी उपलब्ध है।[2]

'गवयपिण्ड गवयशब्दवाच्य है,' इस सामान्य संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध-ज्ञान के वनेचरवाक्यरूप शब्द से उपपन्न होने पर भी यह प्रत्यक्ष दृश्यमान अर्थात् पुरतः स्थित गवयपिण्ड गवयशब्दवाच्य है, इत्याकारक विशेष संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान के लिये उपमान को पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता है, यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर 'गौरयम्' इस वाक्य से भी इस पुरोदृश्यमान विशेष आकार वाले व्यक्ति की गोसंज्ञा है, इस अर्थ को प्रतिपत्ति न होने से एतदर्थ पृथक् प्रमाणाभ्युपगम की प्रसक्ति होगी। तथा एक गोपिण्ड में 'गौरयम्' इत्याकारक विशेष संकेतज्ञान हो जाने पर भी व्यक्त्यन्तर में संकेतज्ञान न होने से तदर्थ पृथक् प्रमाण मानना होगा।[3]

यदि यह कहा जाय कि व्यक्त्यन्तर में 'गौरयम्' इत्याकारक शब्द का प्रयोग न करने पर भी एकत्र प्रयुक्त 'गौरयम्' इस वाक्य का प्रतिपादक तथा प्रतिपत्ता दोनों यही अभिप्राय समझते हैं कि सभी गोव्यक्तियों की गोशब्द संज्ञा है, अतः तदर्थ पृथक् शब्दाभिधान की आवश्यकता नहीं, तो प्रकृत में भी 'गोसदृशो गवयः' इस वनेचरवाक्य का उच्चारण करने वाला वनेचर तथा उससे अर्थज्ञान करने वाला नागरिक यही समझता है कि गोसदृशपिण्ड की गवयशब्द संज्ञा है, क्योंकि यह वाक्य उसी अर्थ को बतलाता है। अतः उपमान को किसी भी प्रकार से पृथक् प्रमाण मानना उचित नहीं है।[4]

सूत्रविरोधपरिहार

यदि उपमान पृथक् प्रमाण नहीं है, तो सूत्रकार ने 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' इस प्रमाणविभागसूत्र में उसका पृथक् प्रमाणत्वेन उल्लेख क्यों किया ?

---

1. न्यायसार, ३०-३१
2. न्यायभूषण, पृ. ४२०
3. न्यायसार, पृ. ३१
4. न्यायसार, ३१

इसका समाधान करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि जिस प्रकार दृष्टान्त प्रमाण के अन्तर्भूत है, फिर भी दृष्टान्ताभासों से उसका भेदज्ञापन करने के लिये सूत्रकार ने उसका पृथक् उल्लेख किया है तथा हेत्वाभासों के निग्रहस्थानान्तर्गत होने पर हेत्वाभासों के स्वरूपविशेषबोधन के लिये उनका पृथक् अभिधान किया है, उसी प्रकार उपमान के शब्दान्तर्भूत होने पर भी शब्द के प्रामाण्यसमर्थन के लिये उसका पृथक् अभिधान सूत्रकार ने किया है। तात्पर्य यह है कि कुछ विद्वान् शब्द का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते, क्योंकि जहां शब्द प्रमाण का विषय प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से ज्ञात है, वहां शब्द उस अर्थ का अनुवादकमात्र है न कि अपूर्वार्थबोधक। अतः अनुवादकत्वेन वहां उसे प्रमाण मानना अनुचित है और जहां शब्द का विषय प्रत्यक्ष व अनुमानादि से ज्ञात नहीं है, वहां उस पदार्थ के अज्ञात होने से उसके साथ शब्द का संकेतज्ञान नहीं हो सकता और अज्ञात संकेत अर्थ का शब्दबोध नहीं करा सकता। पद द्वारा पदार्थ को ज्ञान मानना अन्योन्याश्रय दोष के कारण संभव नही और वाक्यार्थ पदार्थों का अन्वयमात्र होने से उसे भी पदार्थ का बोधक नहीं माना जा सकता। अतः अप्रसिद्ध अर्थ के साथ शब्द का संकेतग्रहण संभव न होने से संकेतज्ञान द्वारा अर्थबोधक शब्द का प्रमाण नही माना जा सकता इस शब्दाप्रामाण्य का निराकरण करने के लिये उपमान का पृथक् उपादान किया है। अर्थात् जिस नागरिक ने गवयपण्ड को नही देखा है, अत एव जिसको गवय-पदार्थ का ज्ञान नहीं है, उस व्यक्ति को भी 'गोसदृशो गवयः' इत्याकारक गोसादृश्यरूप उपमान के द्वारा अज्ञात पदार्थ गवय प्राणी के साथ गवयशब्द का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार प्रत्यक्षादि द्वारा अज्ञात होने से अप्रसिद्ध पदार्थ का भी शब्द के साथ सम्बन्धज्ञान उपपन्न हो जाता है और सम्बन्धज्ञान द्वारा उस पदार्थ का बोधक होने से शब्द का प्रामाण्य अक्षत है।[1]

शब्दप्रामाण्यसमर्थनार्थ उपमान का पृथक् उल्लेख करने पर भी यदि वह पृथक् प्रमाण नहीं है, तो उसके लक्षण की क्या आवश्यकता है? किन्तु सूत्रकारने 'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्' इस रूप से पृथक् लक्षण बतलाया है। अतः उसका पृथक् प्रामाण्य सूत्रकार को स्वीकृत है, यह शंका भी निराधार है, क्योंकि लक्षणनिर्देश बिना उसको सप्रयोजनता व अन्य प्रमाणों में अन्तर्भाव का ज्ञान नहीं हो सकता, एतदर्थ उसका पृथक् प्रमाण न होते हुए भी लक्षण किया गया है। सूत्रकार ने अन्य प्रमाणों की तरह उपमान प्रमाण की परीक्षा की है यह तर्क भी उपमान को पृथक् प्रमाण सिद्ध करने में असमर्थ है, क्योंकि परीक्षासूत्रों द्वारा उसमें प्रमाणता सिद्ध की गई है। यदि परीक्षा न की जाती, तो उपमान में प्रमाणता सिद्ध नही होती और उसके अभाव में अन्य प्रमाण में उसका अन्तर्भाव कैसे बतलाया जा सकता है।[2]

---

1. न्यायभूषण, पृ. ४२२, ४२३, ४२४
2. वही, पृ. ४२४

परीक्षा में पूर्वपक्षसूत्र तथा उत्तरपक्षसूत्र भी उपमान की शब्दरूपता ही बतला रहे हैं। विस्तारभय से उनका उल्लेख यहां नहीं किया जा रहा है।

सूत्रकार ने उपमान के अन्तर्भाव का निषेध भी अनुमान प्रमाण में ही बतलाया है न कि शब्दप्रमाण में। अतः शब्द प्रमाण में इसका अन्तर्भाव सूत्रकार को संमत है। यदि उपमान का पृथक् प्रामाण्य सूत्रकार को अभीष्ट नहीं है, तो प्रमाणों के त्रित्वसंख्याविशिष्ट होने से 'न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसंभवाभावप्रामाण्यात्',[1] 'शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसंभवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेध'।[2] इन सूत्रों के द्वारा प्रमाणचतुष्टयातिरिक्त ऐतिह्यादि प्रमाणों का शब्द तथा अनुमान में अन्तर्भावप्रतिपादन द्वारा चतुष्ट्वसाधन असंगत होगा। अतः इन परीक्षा सूत्रों द्वारा स्पष्ट सिद्ध है कि सूत्रकार को प्रमाणचतुष्ट्व ही अभिप्रेत है। उपमान को पृथक् प्रमाण न मानने पर इन परीक्षा सूत्रों का विरोध स्पष्ट है, इस आशंका का परिहार करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि सूत्रकार का परीक्षासूत्रों द्वारा चतुष्ट्व-प्रतिपादन पंचत्वादि अधिक संख्या के परिहारार्थ है न कि न्यून त्रित्व संख्या के प्रतिषेधार्थ क्योंकि उपमान का शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव प्रमाण सिद्ध है[3]। प्रमाण त्रित्व के सूत्रकाराभिमत होने पर भी उसका अनभिधान सूत्रकार की इस प्रकार की क्वाचित्क शैली के कारण है। तात्पर्य यह है कि सूत्रकार स्वाभिमत सिद्धान्त का भी कहीं-कहीं कथन इसलिये नहीं करते कि इस न्यायशास्त्र में ऊहादिशक्ति के अतिशय से सम्पन्न व्यक्तियों का अधिकार है, इस बात को वे बतलाना चाहते हैं। अतः अनभिधान करने पर भी वे ऊहादिशक्त्यतिशय द्वारा उस बात को समझ लेंगे। जैसे, मनसहित ६ इन्द्रियां सूत्रकार को अभिप्रेत हैं, किन्तु सूत्र में इन्द्रियों के पंचत्व का ही उल्लेख है न कि षट्त्व का। अतः प्रमाण त्रित्व का अभिधान न करने मात्र से सूत्र का प्रमाण त्रित्व से विरोध मानना संभव नहीं[4]।

आलोचना

सांख्यादि की तरह उपमान का शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव मानकर चाहे भासर्वज्ञकृत प्रमाण त्रित्व की स्थापना संगत कही जाय, किन्तु उसे सूत्रकारसम्मत सिद्ध करना समुचित नहीं है।[5] सूत्रकार 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि'

1. न्यायसूत्र, ५।२।१
2. ,, ५।२।२
3. न्यायसार, पृ. ३२
4. न्यायभूषण, पृ. ४२६–४२७
5. Here comes a hard nut to crack and we find in what a hopeless quandary our author finds himself in his anxiety to reconcile the view of the Sūtrakāra to his own view. The ingenuity that our author shows simply amuses us and fails to produce any conviction—Nyāyasāra, Notes (Poona, 1922), p. 74.

इस विभागसूत्र में स्पष्ट रूप से उसका शब्द प्रमाण से पृथक् उल्लेख कर रहे हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाणों की तरह 'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्' इस सूत्र द्वारा उपमान का लक्षण भी उन्होंने बतलाया है तथा 'अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानासिद्धिः'[1] इस सूत्र द्वारा उपमानासिद्धिबोधक पूर्वपक्ष का उपन्यास कर 'प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमानसिद्धेर्यथोक्तदोषानुपपत्तिः'[2] इस सूत्र के द्वारा उपमान सिद्धि का निरूपण द्वारा और 'उपमानमनुमानं प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षसिद्धेः'[3] इस सूत्र से उसकी अनुमानान्तर्भूतता की आशंका कर 'तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नाविशेषः'[4] सूत्र के द्वारा उसके अनुमान में अन्तर्भाव का निषेधरूप परीक्षा द्वारा वे उपमान की पृथक् प्रमाणता सिद्ध करते हैं। अतः सूत्रकार उद्देश लक्षण, परीक्षा तीनों के द्वारा जब उपमान की पृथक् प्रमाणता सिद्ध कर रहे हैं, तब उपमान का पृथक् प्रामाण्य सूत्रकार को अभिमत नहीं, यह कथन साहस मात्र ही है।

उपमानविषयक सूत्रों की अन्यथा योजना भी समीचीन नहीं है। भासर्वज्ञ ने कहा है कि दृष्टान्त के प्रमाण तथा हेत्वाभासों के निग्रहस्थान होने पर भी प्रयोजनवशात् उनके पृथक् अभिधान की तरह उपमान का पृथक् अभिधान प्रमाण विभागसूत्र में किया गया है, यह कथन समुचित नहीं, क्योंकि दृष्टान्त प्रथम तो कोई प्रमाण नहीं क्योंकि प्रमाण प्रमेय का साधक है। पर्वतादि में वह्नि का साधक अविनाभूत हेतु है, न कि दृष्टान्त। परार्थानुमान में दूसरे व्यक्ति को 'पर्वत में अग्नि है' इस बात को बतलाने के लिये पञ्चावयववाक्यरूप समुदाय की आवश्यकता होती है, उन्हीं अवयव-वाक्यों में अन्यतम दृष्टान्त हैं। उसकी कल्पना केवल परार्थानुमान के लिए है, वह स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार हेत्वाभास सामान्य निग्रहस्थान न होकर साध्यसाधक हेतु के ही दोष हैं, जो कि हेतु की तरह प्रतीत होते हैं, किन्तु उनका प्रयोग करने पर भी वादी या प्रतिवादी निगृहीत हो जाता है, अतः उनको निग्रहस्थान भी मान लिया गया है।

उपमान का पृथक् कथन शब्दप्रामाण्य के समर्थन के लिये है—यह कथन भी संगत नहीं, क्योंकि व्याकरण-कोशादि[5] द्वारा अप्रसिद्ध पदार्थ के साथ पद का सम्बन्धग्रह हो जाने से उपमान के बिना भी शब्द प्रामाण्य का समर्थन संभव है। संकेतग्राहक व्याकरणादि तो अप्रसिद्धार्थक पदार्थ वा पद के साथ संकेतबोधन कराने के लिए ही हैं। उपमान के सूत्रकारकृत लक्षणसूत्र का, अलक्षित प्रमाण के अन्तर्भाव

1. न्यायसूत्र, ५।२।२५
2. वही, २।१।४५
3. „ २।१।४६
4. „ २।१।४८
5. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद्विवृत्तेर्वदन्ति सांनिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥
—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, शब्दखण्ड, पृ. २९६

का सरलतया बोध नहीं हो सकता, यह जो अभिप्राय बतलाया गया है, यह भी व्यभिचारी है; क्योंकि अर्थापत्ति, संभव, अभाव, ऐतिह्य, चेष्टा आदि के पृथक् प्रामाण्य का निराकरण सूत्रकार ने किया है, किन्तु कहीं भी उनका लक्षण नहीं बतलाया। अतः जैसे इन प्रमाणों के अन्तर्भाव का ज्ञान बिना लक्षण के हो सकता है, उसी प्रकार उपमान के अन्तर्भाव का बोध भी बिना लक्षण के हो सकता है।

इसी प्रकार प्रामाणान्तर में अन्तर्भाव किये जाने वाले अर्थापत्त्यादि प्रमाणों की परीक्षा तो सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का उद्भावन करते हुए नहीं की, उपमान की ही क्यों की, इससे स्पष्ट होता है कि सूत्रकार को उपमान का पृथक् प्रामाण्य अभीष्ट है।

विभागसूत्र न्यूनाधिक संख्या का व्यवच्छेद करते हैं, यह नियम नहीं, जैसे कि 'घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः'[1] यह इन्द्रियविभागसूत्र इन्द्रियों की न्यून संख्या का ही व्यवच्छेदक है, अधिक संख्या का नहीं। अतः मन भी षष्ठ इन्द्रिय मानी जाती है, उसी प्रकार 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' यह प्रमाणविभाग-सूत्र भी प्रमाणों की अधिक संख्या का व्यवच्छेद करता है, न्यून संख्या का नहीं। अतः इस सूत्र का प्रमाणत्रित्व से विरोध नहीं है—भासर्वज्ञ का यह कथन भी उचित नहीं, क्योंकि दृष्टान्त में इन्द्रियविभाग-सूत्र न्यून व अधिक दोनों संख्याओं का व्यवच्छेद करता है। वहां भूतोद्भूत भौतिक इन्द्रियों का पंचत्व बतलाया गया है और भौतिक इन्द्रियों घ्राणादि पांच ही हैं, न न्यून और न अधिक। मन भौतिक इन्द्रिय नहीं है, अतः उसको लेकर अधिक संख्या के व्यवच्छेद का व्यभिचार बतलाना नितान्त असंगत है। अतः यह सिद्ध है कि विभागसूत्र न्यूनाधिकसंख्याव्यवच्छेदक होता है। इसलिये प्रमाणविभागसूत्र भी प्रमाणों की न्यूनाधिक संख्या का व्यवच्छेद करता हुआ प्रमाणचतुष्ट्व का प्रतिपादन कर रहा है, न कि प्रमाणत्रित्व का।

सूत्रकार ने 'उपमानमनुमानं प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षसिद्धेः' के द्वारा उपमान के अनुमान में अन्तर्भाव की आशंका कर 'तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नाविशेषः' अर्थात् 'यथा गौस्तथा गवयः' इस प्रकार उपमान का उपसंहार किया जाता है, 'तथा चायम्' अर्थात् 'पर्वतो वह्निमान्' इस रूप से अनुमान में जैसे पक्ष-धर्मतादि का कथन होता है, वैसे उपमान में नहीं होता, अतः उसका अनुमान में अन्तर्भाव नहीं, इस प्रकार उपमान के अनुमान में अन्तर्भाव का निराकरण किया है, शब्द में अन्तर्भाव का नहीं। अतः शब्दप्रमाण में उपमान का अन्तर्भाव सूत्रकार को अभीष्ट है यह भासर्वज्ञ का कथन भी अविचारित साहसमात्र ही प्रतीत होता है, क्योंकि नैयायिकों को संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान उपमानप्रयोजनत्वेन अभीष्ट है और वह ज्ञान 'यथा गौस्तथा गवयः' इस वाक्य से हो नहीं सकता, क्योंकि इस वाक्य का संकेत 'गवय में गोसादृश्य है' इस अर्थ में ही है न कि 'गवयपिण्ड गवयपदवाच्य है' इस अर्थ में। अतः शब्दप्रमाण में अन्तर्भाव का उपपादन असंभव होने से

1. न्यायसूत्र, १।१।१२

सूत्रकार ने शब्दप्रमाण में उपमान के अन्तर्भाव का निराकरण नहीं किया। संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्ति की दृष्टि से उपमान का अन्तर्भाव अनुमान में ही संभावित है न कि शब्द प्रमाण में। इसीलिये दार्शनिक-सार्वभौम वाचस्पति मिश्र ने 'सांख्यतत्त्व-कौमुदी' में 'योऽयं गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचक इति प्रत्ययः, सोऽप्यनुमानमेव'[1] इस उक्ति द्वारा अनुमान में ही संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानरूप उपमान का अन्तर्भाव बतलाया है न कि शब्द में। अतः शब्द में उपमान के अन्तर्भाव का सूत्रकार द्वारा निराकरण न करने से यह तात्पर्य निकालना कि सूत्रकार को उपमान का शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव अभीष्ट है, यह समुचित प्रतीत नहीं होता। अतः किसी भी प्रकार सूत्रकार को उपमान का पृथक् प्रामाण्यनिराकरण अभीष्ट नहीं, अपितु उपर्युक्त रीति से उसका पृथक् प्रामाण्य ही उनको अभीष्ट है। भासर्वज्ञ के उपमान प्रमाणसम्बन्धी विवेचन की अत्यन्त विलक्षणता की ओर सङ्केत करते हुए प्रोफेसर कार्ल एच्. पॉटर ने भी यह स्वीकार किया हैं कि भासर्वज्ञाचार्य उपमान के पृथक् प्रमाणत्वनिराकरण को सूत्रकारसम्मत सिद्ध करने के प्रयासों द्वारा किसी को प्रभावित नहीं कर सके हैं।[2]

⊕

1. सांख्यतत्त्वकौमुदी, पृ. १८५

2. Bhāsarvajña's discussion of this instrument is very peculiar. His conclusion is that comparison is not an instrument of knowledge in addition to the others. contrary to what Gautama maintained. Yet he struggles to make it seem that he is not saying anything in conflict with the view of the Sūtrakāra. His apologies seem to have taken no one in. More unusual still, he has no firm alternative to offer.—The Encyclopedia of Indian Philosophies, Vol. II (Delhi, 1977), p. 175.

सप्तम विमर्श

प्रमेयनिरूपण

प्रत्येक दर्शन का निरूपणीय प्रमेय तत्त्व होता है, वही उसका प्रधान प्रतिपाद्य होता है, किन्तु प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के बिना अनुपपन्न है। प्रमाण ही प्रमेयसिद्धि में समर्थ है, जैसाकि अभियुक्तों ने कहा है-'मानाधीना मेयसिद्धिः,[1] 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि'[2]। अतः प्रमेय तत्त्व के प्रधानतया प्रतिपाद्य होने पर भी दार्शनिकों ने प्रमाण-निरुपण के पश्चात् प्रमेयनिरुपण किया है। आचार्य भासर्वज्ञ ने भी प्रमाण निरूपण के पश्चात् न्यायसार के तृतीय परिच्छेद में प्रमेय पदार्थों का निरूपण किया है। यद्यपि 'प्रमाविषयत्वं प्रमेयत्वम्' इस प्रकार से प्रमेय के लक्षण का प्रतिपादन किया जा चुका है[3] तथापि वह प्रमेयसामान्य का लक्षण है। प्रमेयविशेष का अर्थात् विशिष्ट प्रमेय का लक्षण नहीं है। अतः जो प्रमेय तत्त्वज्ञान द्वारा अपवर्ग के साधन हैं, उन प्रमेयविशेषों में घटित होने वाला लक्षण यहाँ बतलाया जा रहा है- यद्विषयं तत्त्वज्ञानमन्यज्ञानानुपयोगित्वेनैव निःश्रेयसाङ्गं भवति, मिथ्याज्ञानं च संसारं प्रतनोति, तत् प्रमेयम्'[4] अर्थात् जिसका तत्त्वज्ञान निःश्रेयस का साधक है तथा जिसका मिथ्याज्ञान संसार का जनक है, वह प्रमेय है। न्यायभाष्यकार तथा वार्तिककार ने भी प्रमेयविशेष का लक्षण इसी प्रकार किया है।[5] उपर्युक्त प्रमेय का ही तत्त्वज्ञान तथा उसकी भावना मोक्ष के लिये कर्तव्य है।

कीटसंख्यादि का तत्त्वज्ञान तथा उसकी भावना की व्यावृत्ति हो जाती है, क्योंकि उनका ज्ञान निःश्रेयस के लिये उपयोगी नहीं होता। इसीलिये बौद्ध दार्शनिक

---

1. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. १०७
2. सांख्यकारिका, ४
3. (अ) न्यायभूषण, पृ. ६२
   (ब) न्यायसार, पृ. २
4. न्यायसार, पृ. ३४
5. (अ) अस्य तु तत्त्वज्ञानादपवर्गो मिथ्याज्ञानात् संसार इत्यत एतदुपदिष्टं विशेषेणेति। —न्यायभाष्य, १।१।९
   (ब) कतमं तत् प्रमेयं यदनेन प्रमाणेन यथावत् परिज्ञायमानमपवर्गाय अनवगम्यमानं च संसारायेति। —न्या.वा. १।१।९

धर्मकीर्तिने कहा है—

'तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमत्र विचार्यताम् ।
कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥'[1]

जिन प्रमेयविशेषों का यथार्थस्वरूपज्ञान भाव्यमान होने पर मोक्ष के लिये उपयोगी है, उन आत्मादि १२ प्रमेयों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है-चेतन और जड़ । आत्मा चेतन है और उससे इतर शरीरेन्द्रियादि जड़ हैं । न्यायभाष्यकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है-'चेतनोऽयमात्मा' । अर्थात् आत्मा चैतन्य का आश्रय होने से चेतन है शेष शरीरादि चैतन्य के आश्रय न होने से जड़ हैं । इससे वेदान्तदर्शन के कतिपय दार्शनिकों ने नैयायिकों पर जो यह लाछन लगाया है कि वे जडात्मवादी हैं, उसका निराकरण हो जाता है, क्योंकि संसारदशा में आत्मा को चैतन्याश्रय सभी मानते हैं । मोक्षदशा में भी भासर्वज्ञ आत्मसंवित्सहित दुःखात्यन्तनिवृत्ति को मोक्ष मानता हुआ आत्मा में ज्ञानरूप चैतन्य का अभाव नहीं मानता । इसमें आत्मविषयक तत्त्वज्ञान के साक्षात् मिथ्याज्ञान निवृत्ति द्वारा निःश्रेयसाङ्ग होने से आत्मा के स्वरूप तथा उसके परिमाणादि का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करना है, अतः उसके स्वरूप का उद्देशक्रमानुसार निरूपण न करके सूचीकटाहन्याय से प्रथम शरीरादि प्रमेयों का निरूपण किया जा रहा है ।

(२) शरीर

शरीर का सौत्र लक्षण है-'चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्'[2] क्रियाविशेष के लिये लोक में भी चेष्टा शब्द प्रयुक्त होता है । यथा-धावति, लंघते आदि । वह चेष्टा जिस अन्त्य अवयवी में समवेत होती है, उसे शरीर कहते हैं । इन्द्रियाश्रयत्व का अर्थ इन्द्रियसमवायित्व नहीं है, क्योंकि शरीर इन्द्रियों का समवायिकारण नहीं है अतः वह समवाय सम्बन्ध से इन्द्रियों का आश्रय नहीं है । शरीरानुग्रह और शरीरोपघात से इन्द्रियों का अनुग्रह तथा उपघात होने के कारण शरीर को इन्द्रियाश्रय कहा है । अर्थाश्रयत्व का भी यही अभिप्राय है कि शरीर के होने पर ही तदवच्छिन्न आत्मप्रदेश में सभी अर्थ सुखदुःखादि के जनक होते हैं ।

(३) इन्द्रिय

'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा'[3] इस पाणिनिसूत्र के अनुसार इन्द्रलिङ्गत्व इन्द्रियसामान्य का लक्षण है । अर्थात् इन्द्रिय आत्मा का अनुमापक हेतु है । इन्द्रियों के द्वारा आत्मा का अनुमान होता है । 'घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः'[4] यह न्यायसूत्र घ्राणादि इन्द्रियों का विशेष रूप से नामोल्लेख तथा व्युत्पत्ति से उनका विशेष लक्षण प्रस्तुत करता है । सूत्रस्थ

1. प्रमाणवार्तिक, २।३२
2. न्यायसूत्र, १।१।११
3. पाणिनिसूत्र, ५।२।९३
4. न्यायसूत्र, १।१।१२

घ्राणादि शब्द 'जिघ्रत्यनेनेति घ्राणम्', 'रसयत्यनेनेति रसनम्', 'चष्टेऽनेनेति चक्षुः', 'स्पृशत्यनेनेति स्पर्शनम्', 'शृणोत्यनेनेति श्रोत्रम्' इस प्रकार व्युत्पत्ति से घ्राणादि इन्द्रियों के विशेष लक्षण का प्रतिपादन कर रहे हैं। यहां भासर्वज्ञ का कथन है कि उपर्युक्त रीति से विशेषलक्षणार्थक पांच सूत्र और विशेषोद्देश के लिये एक सूत्र, इस प्रकार मिलाकर उपर्युक्त सूत्र में ६ सूत्र हो जाते हैं।[1]

सूत्रस्थ 'भूतेभ्यः' पद इन्द्रियों के सांख्याभिमत आहंकारिकत्व[2] के प्रतिषेध के लिये है। यद्यपि अहङ्कार भी भूतों की प्रकृति पंचतन्मात्राओं का कारण[3] होने से कारण में कार्योपचार द्वारा भूतशब्दवाच्य है और त्रिगुणत्व के कारण बहुवचन में भी प्रयुक्त हो सकता है। अतः 'भूतेभ्यः' से आहंकारिकत्व की निवृत्ति संभव नहीं, तथापि यहां भूतों से पृथिव्यादि भूत ही अभिप्रेत हैं न कि पृथिव्यादिकारणकारणत्वेन अहंकार। इसीलिये सूत्रकार ने 'पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति भूतानि'[4] इस सूत्र द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश-ये पांच भूत ही भूत शब्द से अभिप्रेत हैं न कि सांख्यसंमत अहंकार। पांच भूतों में चार इन्द्रियों के समवायिकारण हैं। आकाश में वस्तुतः श्रोत्रेन्द्रियकारणत्व नहीं है, क्योंकि कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश ही श्रोत्रेन्द्रिय कहलाता है। अत एव भासर्वज्ञ ने स्पष्ट किया है कि आकाश के विशिष्ट प्रदेश को इन्द्रियस्वभाव (इन्द्रियस्वरूप) ज्ञापित करने के लिये आकाश में इन्द्रियप्रकृतित्व का उपचार किया जाता है मुख्यवृत्ति से आकाश में इन्द्रियकारणत्व नहीं है।[5] अथवा कर्णशष्कुली से संयोग की अपेक्षा से आकाश में भी कारणत्व है।[6] इस प्रकार 'भूतेभ्यः' इस पद में निमित्त पंचमी मानने में कोई आपत्ति नहीं। सांख्यमतानुसार सभी इन्द्रियों की अहंकार से उत्पत्ति मानने पर सभी इन्द्रियों का अहङ्काररूप एक कारण होने से समानप्रकृतित्व के कारण रूपरसादि-व्यवस्थितविषयता की उपपत्ति संभव नहीं होगी।

समानतन्त्र वैशेषिकशास्त्र में भी अहंकार को इन्द्रियों की प्रकृति न मानकर भूतों को ही प्रकृति बतलाया है। इसीलिये प्रशस्तपाद ने 'पदार्थ-धर्मसंग्रह' में

---

1. न्यायभूषण, पृ. ४६७

2. अभिमानोऽहंकारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।
सात्त्विक एकादशकस्तन्मात्रपंचकश्चैव।
सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्।
भूतादेस्तन्मात्रस्तैजसादुभयम्॥ —सांख्यकारिका, २४, २५.

3. प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहंकारस्ततो गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्यः पंच भूतानि॥ —सांख्यसारिका, २२

4. न्यायसूत्र, १।१।१३

5. न्यायभूषण, पृ. ४३८

6. वही

पदार्थों के साधर्म्यवैधर्म्यप्रकरण में पृथिव्यादि पांच भूतों का साधर्म्य बतलाते हुए इन्द्रियप्रकृतित्व को भी उनका साधर्म्य बतलाया है।[1]

(४) अर्थ

घ्राणादि पांचों इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द ये पांच अर्थ कहलाते हैं जैसाकि सूत्रकार ने कहा है-'गन्धरसरूपस्पर्श-शब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः।[2] भाष्यकार ने 'पृथिव्यादीनां यथाविनियोगं गुणा इन्द्रियाणां यथाक्रममर्थाः विषया इति'[3] इस प्रकार षष्ठीसमास का ग्रहण कर पृथिव्यादि के गुणों को अर्थ माना है। वार्तिककार ने भाष्यकारसम्मत इस षष्ठी समासपक्ष की उपेक्षा कर 'पृथिव्यादि-गुणाः' शब्द में द्वन्द्व समास माना है।[4] भासर्वज्ञ ने भी 'पृथिव्यादयश्च गुणाश्च'[5] इस उक्ति द्वारा वार्तिककारोक्त पक्ष का ही समर्थन किया है। अतः पृथिव्यादिगुणाः' के गन्धादि गुण ही अर्थ नहीं किन्तु उनके आश्रय पृथिव्यादि भी अर्थ हैं। गुणग्रहण से भासर्वज्ञ के अनुसार यहां समस्त आश्रितों तथा विशेषण का संग्रह किया है। अतः भाव तथा अभाव इन दोनों प्रकार के इन्द्रियविषयों का अर्थ पद से ग्रहण है। सूत्र में गुण शब्द से केवल भावरूप गुणों का ही ग्रहण नहीं हैं, अपि तु अभाव का भी ग्रहण है, क्योंकि वह भी संयुक्तविशेषणता सम्बन्ध से इन्द्रिय का विषय होने के कारण अर्थ है। वह गुणों की तरह आश्रित तो नहीं है, परन्तु विशेषण तो है ही, क्योंकि 'घटाभाववद्भूतलम्' में घटाभाव की विशेषणतया प्रतीति अनुभवसिद्ध है। गुण शब्द से अत्र समस्त आश्रितों व विशेषणों का ग्रहण करने से घटाभाव, रूपाभाव आदि अभावरूप इन्द्रियविषयों का ग्रहण हो जाता है। देह भी इन्द्रियविषयत्वेन अर्थ है किन्तु चेष्टाश्रय तथा सुखदुःखादि-भोग का आयतन होने से 'शरीर' इस विशेष पद से व्यवहृत कर दिया गया है।

(५) बुद्धि

न्यायदर्शन के अनुसार ज्ञान या उपलब्धि का नाम बुद्धि है, जैसाकि सूत्रकार ने कहा हैं-'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्।'[6] यहां सूत्र में बुद्धि का पर्यायरूप लक्षण दिया गया है, अर्थात् बुद्धि के पर्यायवाची उपलब्धि व ज्ञान को ही बुद्धि का लक्षण बतलाया है। अन्य लक्षण को छोड़कर पर्यायलक्षण बतलाने का अभिप्राय यह है कि सांख्यदर्शन में प्रकृति का प्रथम परिणाम बुद्धि है, पुरुष का प्रतिबिम्बोदयरूप

1. पृथिव्यादीनां पंचानामपि भूतत्वेन्द्रियप्रकृतित्वं बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वानि।
—प्रशस्तपादभाष्य, पृ. ११

2. न्यायसूत्र, १।१।१४

3. न्यायभाष्य, १।१।१४

4. पृथिव्यादीनि गुणाश्चेति द्वन्द्वः समासः। —न्यायवार्तिक, १।१।१४

5. न्यायभूषण, पृ. ४३८

6. न्यायसूत्र, १।१।१५.

भोग उपलब्धि है तथा विषयाकाररूप से बुद्धि का परिणाम अर्थात् बुद्धि का धर्म ज्ञान है इस प्रकार बुद्धि, उपलब्धि व ज्ञान का भेद बतलाया गया है। बुद्धि, उपलब्धि व ज्ञान भिन्न नहीं हैं, अपितु एक ही हैं, इस तथ्य को बतलाने के लिये पर्यायलक्षण ही बुद्धि का दिया गया है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार वात्स्यायन ने भी सूत्र के प्रारंभ में 'अचेतनस्य करणस्य बुद्धेर्ज्ञानं वृत्तिः चेतनस्याकर्तुरुपलब्धिरिति युक्तिविरुद्धमर्थंप्रत्याचक्षाणक एवेदमाह[1] ऐसा कहा है। भासर्वज्ञ ने यह भी स्पष्ट निर्देश कर दिया है कि प्रतीति, अवगम और विज्ञान इत्यादि शब्द भी बुद्धि के पर्यायवाची ही हैं। यह ज्ञान प्रसंख्यान के द्वारा दोष निमुक्तों के निवृत्त होने पर अपवर्ग का हेतु होता है और निवृत्त होने पर संसार का भी कारण है।

(६) मन

ज्ञान के साधन आत्मा, इन्द्रिय तथा विषयों का सम्बन्ध होने पर भी जिस कारण से एक काल में अनेकज्ञान नहीं होते, वही मन है। अतः एक काल में अनेक ज्ञानों की अनुत्पत्ति मन का लिङ्ग (ज्ञापक, अनुमापक) है। यही मन का लक्षण है, जैसाकि सूत्रकार ने कहा है—'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्'।[2] भासर्वज्ञ ने बतलाया है कि आत्मा की तरह उपर्युक्त लिंग ही मन का लक्षण है।[3] घ्राणादि इन्द्रियों का भी गन्धादिज्ञानरूप लिङ्ग ही लक्षण है। तात्पर्य यह है कि आत्मा व्यापक होने से सभी इन्द्रियों से सम्बद्ध है और निद्रारहित पुरुष की इन्द्रियां भी प्रेक्षणादि अवसर पर अनेक अर्थों से सम्बद्ध होती है। इस प्रकार ज्ञान के साधन आत्मा, इन्द्रिय तथा अर्थों के सम्बन्ध होने पर भी एक काल में अनेक ज्ञानों की अनुत्पत्ति इनसे अतिरिक्त किसी को ज्ञान के प्रति कारण सिद्ध कर रही है। आत्मादि से भिन्न ज्ञान का जो कारण है वह मन है। बिना मन के आत्मादिज्ञानसाधनों के होने पर भी ज्ञान नहीं होता है। इसीलिये उपनिषद् में लिखा है—'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शम् अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्' इत्यादि। सांख्यकारिका में भी मनोऽनवस्थान से ज्ञान का अभाव बतलाया है।[4] मन क्योंकि अणुपरिमाण है, उसका एक काल में अनेक इन्द्रियों से सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः एक काल में अनेकज्ञान भी नहीं हो सकते।

भासर्वज्ञ ने एक काल में अनेकज्ञानानुत्पत्ति के अतिरिक्त मन के साधक 'आत्मेन्द्रियार्थादयः समग्रयोगिसहकार्यन्तरापेक्षाः सन्निहितानामपि क्रमकार्योत्पादकत्वात् वस्त्रोपक्षिप्तचित्रोत्पादका इव वर्णकादयः,' 'सुखादयः इन्द्रियपरिच्छेद्काः प्रत्यक्षसवेद्यत्वात् रूपादिवत्'[5] इन अनुमानों का निर्देश भी किया है।

---

1. न्यायभाष्य, १।१।१५.
2. न्यायसूत्र, १।१।१६
3. न्यायभूषण, पृ. ४२९
4. सांख्यकारिका, ७
5. न्यायभूषण, पृ. ४४०

मन के इन्द्रिय होने पर भी उसे इन्द्रियरूप प्रमेय से पृथक् मानने के कारण का उल्लेख करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि अन्य इन्द्रियां एक-एक विषय का ग्रहण करती हैं जैसे चक्षु रूप का, घ्राण गन्ध का, किन्तु मन शब्दस्पर्शादि सभी विषयों का ग्रहण करता है। इन्द्रियां भौतिक हैं। जैसे, घ्राण पार्थिव, रसन जलीय चक्षु तैजस आदि। किन्तु मन भौतिक नहीं है। अतः इन दो वैधर्म्यों के कारण मन का इन्द्रियरूप प्रमेय से पृथक् कथन किया गया है। तथा सभी इन्द्रियों की प्रवृत्ति मनोमूलक है, बिना मन के इन्द्रियों की प्रवृत्ति विषय में नहीं होती और मन के जय से सभी इन्द्रियों का वशीकरण बन जाता है। अतः मनोवशीकरण में या मनोजय में मुमुक्षु को अतिशय प्रयास करना चाहिये इस बात को बतलाने के लिये भी अन्य इन्द्रियों से मन का पृथक् प्रमेय के रूप में कथन किया गया है।

(७) प्रवृत्ति

वाचिक मानस, कायिक व्यापार का नाम प्रवृत्ति है, जैसाकि सूत्रकार ने कहा है :-'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः ।'[1] यद्यपि सूत्र में मन पद नहीं दिया गया है, तथापि सूत्रस्थ 'बुद्धि' पद 'बुध्यतेऽनेन' इस करणव्युत्पत्ति से ज्ञानसाधन मन को बतला रहा है। भाष्यकार ने भी यही संकेत किया है।[2] यह त्रिविध प्रवृत्ति विहित तथा प्रतिषिद्ध भेद से दो प्रकार की है। विहित प्रवृत्ति का फल पुण्य होता है और प्रतिषिद्ध प्रवृत्ति का फल पाप। अर्थात् 'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' इत्यादि शास्त्रविहित प्रवृत्ति पुण्य को तथा 'नानृतं वदेत्' इत्यादि शास्त्रप्रतिषिद्ध अनृतभाषणादि प्रवृत्ति पाप को उत्पन्न करती है।

(८) दोष

विहित और प्रतिषिद्ध कर्मों में पुरुष को प्रवृत्त करने वाले राग द्वेष, मोह दोष कहलाते हैं, जैसाकि सूत्रकार ने कहा है 'प्रवर्तनालक्षणाः दोषाः ।[3]' सूत्र में 'लक्षण' शब्द स्वभावार्थक है। भाष्यकारादि ने 'प्रवर्तनालक्षणाः दोषाः' की व्याख्या अन्य प्रकार से की है। उनके अनुसार प्रवर्तना का अर्थ प्रवृत्तिहेतुत्व है और वह रागादिगत धर्म है, जो कि स्वसंवेद्य है। वह जिनका लक्षण अर्थात् चिह्न है, वे दोष कहलाते हैं।[4] इस व्याख्या का पर्यवसान भी उपर्युक्त प्रवृत्तिस्वभाव राग द्वेष, मोह दोष कहलाते हैं, इसी में है। वे प्रवर्तनालक्षण दोष राग, द्वेष, मोह भेद से तीन हैं, क्योंकि सूत्रकार ने 'तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात्'[5] इस सूत्र के द्वारा इन्हीं तीनों को दोष बतलाया है।

---

1. न्यायसूत्र, १।१।१७
2. 'मनोऽत्र बुद्धिरित्यभिप्रेतं', बुध्यतेऽनेनेतिबुद्धिः। —न्यायभाष्य, १।१।१७
3. न्यायसूत्र, १।१।१८
4. न्यायभाष्य, १।१।१८
5. न्यायसूत्र, ४।१।३

(९) प्रेत्यभाव

सूत्रकार ने 'पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभाव'[1] इस सूत्र के द्वारा पूर्वोत्पन्न शरीरादि का परित्याग कर पुनः शरीरान्तर की प्राप्ति को प्रेत्यभाव बतलाया है। सूत्र में 'पुनः' पद से यह सूचित किया गया है कि यह प्रेत्यभाव एक अनादि परम्परा है। इसका अवसान अपवर्ग के द्वारा ही होता है, इस बात को बतलाने तथा जन्ममरणरूप दुःख की अतिशय भावना के लिये देह, इन्द्रियों से पृथक् प्रेत्यभाव का कथन किया गया है।

(१०) फल

सूत्रकार ने फल का लक्षण 'प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम्'[2] यह किया है। विहितप्रतिषिद्धरूप द्विविध प्रवृत्ति तथा राग-द्वेष-मोहरूप दोषों से व्यवहृतरूप से उत्पन्न अर्थ फल कहलाता है। यह फल हेयोपादेय भेद से दो प्रकार का है। हेय प्रथमतः मुख्य-गौण भेद से द्विविध होता हुआ अनेक प्रकार का है और उपादेय फल अज्ञानियों के लिये मुख्य तथा गौण भेद से दो प्रकार का सुख है। ज्ञानियों के लिये कोई भी सुख उपादेय नहीं, किन्तु सभी हेय हैं, क्योंकि उनके लिये लौकिक सुख भी दुःख का ही कारण होता है। इसीलिये योगदर्शन में 'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः'[3] सूत्र के द्वारा ज्ञानी के लिये सभी लौकिक सुखों को दुःख रूप ही बताया है। सुख और दुःख दोनों ही प्राणी के कर्मों से उपार्जित हैं। अतः मानव को उनमें समता की भावना करनी चाहिये। एतदर्थ फलरूप प्रमेय का दुःख से पृथक् कथन किया है।

(११) दुःख

दुःख का लक्षण सूत्रकार ने 'बाधनालक्षण दुःखम्'[4] यह किया है। लक्षण में 'लक्षण' शब्द स्वभाव अर्थ का बोधक है। अर्थात् मुख्य दुःख बाधनास्वभाव होता है अर्थात् उसका पीड़ा स्वभाव है।

(१२) अपवर्ग

अपवर्ग का लक्षण सूत्रकार ने 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः'[5] यह किया है। मुख्य तथा गौण दुःख से अत्यन्त विमुक्ति या उसका आत्यन्तिक विच्छेद अपवर्ग कहलाता है। भासर्वज्ञसम्मत अपवर्गस्वरूप का विशद विवेचन अष्टम विमर्श में किया जायेगा।

इस प्रकार लक्षणभेद से द्वादशविध प्रमेय का निरूपण किया गया है।

---

1. वही, १।१।१९
2. वही, १।१।२०
3. योगसूत्र, २।१५
4. न्यायसूत्र, १।१।२१
5. वही, १।१।२२

प्रमेयों की मोक्षोपयोगिता

आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ आदि सभी द्वादश प्रमेयों का ज्ञान मोक्षोपयोगी है। आत्मज्ञान होने पर परलोकाकांक्षा होती है, अन्यथा नहीं। आत्मा से देह की भिन्नता का ज्ञान होने पर देह में संभाव्य आत्मबुद्धि की निवृत्ति हो जाती है, शरीररक्षा के लिये क्रियमाण हिंसादिकर्मों से भी पुरुष निवृत्त हो जाता है तथा शरीर के दुःखायतनत्व का ज्ञान होने पर शरीरविषयक अज्ञान निवृत्त हो जाता है। दोषनिमित्तों के होने पर भी इन्द्रियों की अप्रवृत्ति होने पर दोषोत्पत्ति नहीं होती है, इस प्रकार इन्द्रिय-स्वरूप का यथार्थज्ञान कर उनके प्रत्याहार के लिये मुमुक्षु को प्रयत्न करना चाहिये। जाति, आयु तथा भोगरूप फल वाले, परिणाम में दुःखकारी इन्द्रियार्थों में उपादेयबुद्धि का त्याग कर वैराग्य की भावना करता है। मिथ्याज्ञान संसार का हेतु है और तत्त्वज्ञान अपवर्ग का हेतु, यह ज्ञात कर मिथ्याज्ञान को तिरोभूत कर तत्त्वबुद्धि को अभ्यास से परिपुष्ट करता है। इस रीति से इन प्रमेयों का ज्ञान मोक्षोपयोगी है। इन्द्रियों की विषय में प्रवृत्ति मन के द्वारा होती और दोषवशात् इन्द्रियों की प्रवृत्ति होने पर अवश्य दोषोत्पत्ति होती है, मनोजय से सभी इन्द्रियों का वशीकरण हो सकता है। अतः मुमुक्षु को प्रधानरूप से मनोजय में प्रवृत्त होना चाहिये। धर्माधर्मजनन द्वारा प्रवृत्तियों के दुःखमूलत्व का ज्ञान कर मुमुक्षु उनका परिहार करता है। 'न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय क्षीणक्लेशस्य'[1] इस सूत्र के अनुसार जिस पुरुष के राग, द्वेष, मोहरूप दोषों का नाश हो चुका है, उसकी पुनर्जन्म के लिये प्रवृत्ति नहीं होती। अतः दोष के स्वरूप को जानकर मुमुक्षु का दोषनाश के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। अनादिपरम्पराप्राप्त पुनर्जन्म की समाप्ति अपवर्ग के बिना नहीं हो सकती तथा उसकी निवृत्ति के लिये उसमें जननमरणादिरूप दुःखातिशय की भावना करनी चाहिये। इस प्रकार प्रवृत्ति तथा दोष से जनित सुखदुःखरूप फल में मुमुक्षु को समता की भावना करनी चाहिये। इस रूप से इन प्रमेयों का ज्ञान मोक्षोपयोगी है।

इस प्रकार मुमुक्षु विषानुविद्ध मध्वादि की तरह ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त विश्व को दुःखानुविद्ध होने से दुःखरूप जानकर उससे विरक्त हो जाता है। अपवर्ग ही सर्वोत्कृष्ट, अनन्त, अतिनिर्मल है और वही सर्वदुःखोपरमस्वरूप है, यह जानकर उसके लिये ही मुमुक्षु को प्रयत्न करना चाहिये। इस रूप से अपवर्गस्वरूपज्ञान भी प्राप्तव्य होने से मोक्षोपयोगी है। उपर्युक्त रीति से सभी आत्मादि प्रमेय मोक्षोपयोगी हैं, अतः उनका स्वरूपज्ञान उपादेय है। अतः इन द्वादश प्रमेयों का स्वरूप न्यायदर्शन में बतलाया गया है।

---

1. न्यायसूत्र, ४।१।६४

प्रमेयों का हेयादिचातुर्विध्यविभाग

भासर्वज्ञ ने न्यायसूत्रोक्त द्वादश प्रमेयों को चार भागों में विभक्त किया है—(१) हेय, (२) उसका निर्वर्तक, (३) आत्यन्तिक हान और (४) उसका उपाय।[1] क्योंकि उपर्युक्त द्वादश प्रमेय हेयादि रूप से चार भागों में भाव्यमान होकर ही निःश्रेयस के जनक बनते हैं, अन्यथा नहीं। यदि ऐसी स्थिति है, तो सूत्रकार ने इस चातुर्विध्य का निर्देश क्यों नहीं किया? इसका कारण यही है कि पातंजल[2] तथा बौद्ध दार्शनिक हेयादि चार विभागों को मानते हैं और उनका स्वरूप न्यायदर्शन से भिन्न मानते हैं। जैसे—पातंजल में रजोवृत्त्यात्मक दुःख को हेय, द्रष्टापुरुष तथा दृश्य प्रधानादि के संयोग को हेय का कारण, अविद्या के द्रष्टा और दृश्य के संयोग का अभाव हान तथा संशय-विपर्ययरहित विवेकख्याति हान का उपाय-माना है। इसी प्रकार बौद्धों ने दुःख, समुदय, निरोध, मार्ग-इन चतुर्विध आर्यसत्यज्ञान को मोक्ष का कारण मान कर संज्ञावेदनादि पंचस्कन्धों को दुःखरूप, शरीरेन्द्रियस्थानादि में आत्मीयाभिनिवेश से उत्पन्न आग्रहरूप तृष्णा को हेय का प्रधान निमित्त समुदय, तृष्णारहित पुरुष की अविद्या-काम-कर्मादि द्वारा उपनीत रजतराज्यादि में अप्रवृत्ति को दुःखहानरूप निरोध और नैरात्म्यज्ञान को दुःखनिरोध का उपायरूप मार्ग माना है। प्रमेयों का हेयहानादि चतुर्विध विभाग करने पर पातंजलसंमत तथा बौद्धसंमत हेय, हानादि के स्वरूप के ग्रहण की आशंका बन जाती है। तत्परिहारार्थ उन्होंने उपर्युक्त चतुर्विध विभाग रूप से प्रमेय का विभाग नहीं किया।[1] किन्तु न्यायदर्शन में आत्मादि प्रमेय हेयादि रूप से विभक्त होकर भाव्यमान होने पर ही निःश्रेयससाधक बनते हैं। अतः आत्मादि प्रमेयों का हेयादिरूप से चातुर्विध्य भासर्वज्ञ ने माना है।

न्यायदर्शनानुसार द्वादश प्रमेयों में शरीर, घ्राणादि ६ इन्द्रियां, गन्धादि ६ विषय, उनके ज्ञान, सुख तथा दुःख हेय हैं। इनमें शरीर दुःखभोग का आयतन होने से दुःखरूप है, इन्द्रियां, विषय तथा उनका ज्ञान दुःखसाधन होने से तथा सुख दुःखसबन्ध से दुःखरूप हैं और स्वयं दुःख बाधनारूप होने से मुख्यतया दुःखरूप है। उपर्युक्त दुःख के उत्पादक असाधारण कारण अविद्या, तृष्णा, धर्म तथा अधर्म हेयहेतु हैं। इनमें अस्थि, मज्जा, मांस, शोणितादि से युक्त मूत्रपुरीषादिभाजन रोगाधिष्ठान, अनित्य शरीरादि में नित्यत्वबुद्धिरूप विपरीतज्ञान अविद्या है। पुनर्जन्म की इच्छा तृष्णा है। सुख का असाधारण कारण धर्म तथा दुःख का कारण अधर्म है। उपर्युक्त दुःख का आत्यन्तिक उच्छेद हान है। आत्मविषयक तत्त्वज्ञान हानोपाय है। इस प्रकार आत्मादि प्रमेयों का चातुर्विध्य है।

---

1. न्यायसार, पृ. ३४
2. योगसूत्र, २।२४, २५, २६, २७
1. न्यायभूषण, पृ. ४४२

आत्मा

जिस आत्मा का मुख्यतया तथा साक्षात् तत्त्वज्ञान आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप मुक्ति का या नित्यसुखाभिव्यक्तिसहित अत्यन्त दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष का कारण है, वह आत्मा पर-अपर भेद से दो प्रकार का है ।[1] उनमें परमात्मा ऐश्वर्यादि गुणों से विशिष्ट *संसारधर्म राग, द्वेष, मोह से सर्वथा असंस्पृष्ट*, पर, भगवान्, महेश्वर, सर्वज्ञ तथा सम्पूर्ण संसार का रचयिता माना गया है ।[2] इन्द्रादि भी महैश्वर्य से युक्त हैं, अतः उसमें परमात्मत्व की व्यावृत्ति के लिये संसार धर्मों से असंस्पृष्ट विशेषण दिया है । संसारधर्मों से असंस्पृष्टता लयस्थ योगियों में भी है, अतः उनके व्यवच्छेद के लिये पर पद दिया है गया है । परत्व सांख्याभिमत प्रधान में भी है, उसकी व्यावृत्ति के लिये भगवान् पद दिया है । भगवत्त्व व्यासादि में भी है, तद्व्यावृत्त्यर्थ महेश्वर पद दिया गया है, क्योंकि महेश्वर का अभिप्राय धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, यश तथा श्री-इस षड्विध भग की परिपूर्णता है । व्यासादि में एक-दो भगों की परिपूर्णता होते हुए भी निःशेष भगों की परिपूर्णता नहीं है । सर्वज्ञत्व योगियों में भी उत्पन्न है, तद्व्यावृत्त्यर्थ सकलजगद्विधाता पद दिया है । योगबल से योगियों के सर्वज्ञ होने पर भी जगद्रचनासामर्थ्य उनमें नहीं है, जैसाकि ब्रह्मसूत्र में लिखा है-'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ।'[3]

ईश्वरसिद्धि

परमात्मा 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'[4] इत्यादि श्रुतियों से शब्दादिरहित है, अतएव इन्द्रियागोचर है । उसका प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञान संभव नहीं, अतः उसकी सिद्धि अनुमान तथा आगम प्रमाण से मानी जाती है । भासर्वज्ञ ने 'विवादाध्यासितम् उपलब्धिमत्कारणकम्, अभूत्वा भावित्वात् वस्त्रादिवत्'[5] यह अनुमान परमात्मसिद्धि के लिये प्रयुक्त किया है । इस अनुमान में धर्मिविशेष का निर्देश न करने पर भी बुद्धिमत्पूर्वकत्वरूप साध्यविशेष का निर्देश होने से जिन वस्तुओं में वादी बुद्धिमत्पूर्वकत्व मानता है और प्रतिवादी नहीं मानता है, ऐसे विवादास्पद क्षित्यंकुरादिरूप पक्षविशेष का लाभ हो जाता है । अतः लक्षण में सन्दिग्धपक्षता दोष नहीं है । दृष्टान्तभूत वस्त्रादि की रचना चेतनप्रेरित शरीरादि के द्वारा ही होने से दृष्टान्तासिद्धि अर्थात् दृष्टान्त में साध्यविकलता भी नहीं है ।

---

1. स द्विविधः । परश्चापरश्चेति । —न्यायसार, पृ. ३५
2. न्यायसार, पृ. ३५
3. ब्रह्मसूत्र, ४।४।१७
4. कठोपनिषद्, १।३।१५
5. न्यायसार, पृ. ३६

उपर्युक्त अनुमान से 'यथा वस्त्रादिकं प्रागभूत्वा पश्चादभवत् बुद्धिमत्तन्तुवाय-पूर्वकं तद्वत् क्षित्यङ्कुरादिकमपि प्रलयकाले ऽभूत्वा पश्चात्प्रादुरभवत् बुद्धिमत्पूर्वकम्' इस व्याप्ति के बल से क्षित्यंकुरादि के कर्तृत्वरूप से परमात्मसिद्धि हो जाती है। उपर्युक्त व्याप्ति के बल से यद्यपि अनुमान से कर्तृसामान्य की ही सिद्धि होती है, न कि परमात्मारूप कर्तृविशेष की, तथापि अस्मदादि प्राणिरूप जीवों के अल्पज्ञ तथा अल्पशक्तिमान् होने से न तो हमें क्षित्यंकुरादि के उपादान कारणों का पूर्णतया ज्ञान है और न हममें क्षित्यादि पदार्थों की रचना करने की सामर्थ्य है। अतः परमात्मातिरिक्त जीवों में क्षित्यादि के कर्तृत्व की असिद्धि हो जाने से परिशेषात् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही उसका कर्ता है, अतः परमात्मा की सिद्धि हो जाती है। जगद्रचनारूप कार्यविशेष से भी कर्तृविशेषरूप परमात्मा की सिद्धि होती है, जैसे–चित्रादिरूप कार्यविशेष के द्वारा चित्रकाररूप कर्तृविशेष की सिद्धि होती है, क्योंकि जीवों में जगद्रचनारूप कार्य करने की शक्ति नहीं है।

'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकान् ईशते ईशनीभिः।'[1]

'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते।
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते॥
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥'[2]

'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
संबाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एक॥'[3]

'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ
विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि!
द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत...।'[4]

'प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥'[5]

'एष सर्वाणि भूतानि पंचभिर्व्याप्य मूर्तिभिः।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत्॥'[6]

इत्यादि श्रुतिस्मृतिरूप आगमों से भी ईश्वर की सिद्धि होती है।

---

1. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ३।२
2. वही, ६।८
3. वही, ३।३
4. बृहदारण्यकोपनिषद्, ३।८।९
5. मनुस्मृति, १२।१२०
6. वही, १२।१२४

अपरात्मविचार

सुख-दुःखरूप फल का भोक्ता जीव अपरात्मा है। वह अनन्त अर्थात् अविनाशी है। अपरात्मा की सिद्धि भासर्वज्ञने बुद्ध्यादि लिंगों के द्वारा की है अर्थात् बुद्धि-सुख-दुःख-इच्छा द्वेष प्रयत्न किसी न किसी द्रव्य के आश्रित हैं, क्योंकि गुण द्रव्याश्रित ही होते हैं। अतः इन बुद्ध्यादि लिंगों के द्वारा तदाश्रयभूत जीव की सिद्धि होती है। सूत्रकार ने भी 'इच्छाद्वेष-प्रयत्नसुखदुःख-ज्ञानानि आत्मनो लिंगानि'[1] इस सूत्र के द्वारा इसी तथ्य की अभिव्यक्ति की है। अनुमान-प्रकार निम्नलिखित है—'बुद्ध्यादयः क्वचित् समवेताः कार्यत्वाद् गुणत्वाद्वा रूपादिवत्'[2] उपर्युक्त अनुमान सामान्यतः आश्रयमात्राश्रितत्व को सिद्ध कर रहा है, अतः रूपादि गुणों के आत्मसमवेत न होने से दृष्टान्त में साध्यविकलता दोष नहीं है।

चक्षुरादि इन्द्रियों को बुद्ध्यादि का आश्रय नहीं माना जा सकता। अन्यथा चक्षु द्वारा किसी वस्तु को देखने के बाद चक्षु के नष्ट हो जाने पर उससे दृष्ट वस्तु का स्मरण नहीं होना चाहिए, क्योंकि उस वस्तु का ज्ञान करने वाली चक्षुरिन्द्रिय के न रहने पर पुरुष के द्वारा उसका स्मरण अनुपपन्न है। इसलिये विश्वनाथ पञ्चानन ने कहा है—'तथात्वं चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः?'[3]

शरीर को भी बुद्ध्यादि का आश्रय नहीं माना जा सकता। क्योंकि शरीर बाल्य, कौमार्य, जरादि भेद से भिन्न है, अतः बाल्यावस्था में अनुभूत वस्तु का युवावस्था में बाल्यशरीर के न रहने से स्मरण नहीं होगा, क्योंकि जो अनुभविता होता है, वही स्मर्ता होता है, भिन्न नहीं। अन्यथा देवदत्त द्वारा अनुभूत वस्तु का यज्ञदत्त द्वारा स्मरण की प्रसक्ति होगी। इस प्रकार बुद्ध्यादि के आश्रय शरीर, इन्द्रियादि के न होने पर परिशेषात् आत्मा ही उनके आश्रयरूप से शेष रहता है। अतः पूर्वोक्त अनुमान द्वारा सामान्यतः आश्रयमात्र की सिद्धि कार्यविशेष के कारण तथा पारिशेष्य से आत्मसिद्धि में विश्रान्त हो जाती है और उपर्युक्त अनुमान में सिद्धसाध्यता दोष की आपत्ति नहीं है।

बौद्ध क्षणिक विज्ञान को आत्मा मानते हैं। उनके मत का भी इसी से निरास हो जाता है। क्षणिक विज्ञान को आत्मा मानने पर प्रतिक्षण विज्ञान के बदलते रहने से पूर्वविज्ञान से अनुभूत विषय का उत्तरबुद्धि से स्मरण नहीं होगा, क्योंकि अन्य से अनुभूत का अन्य द्वारा स्मरण नहीं होता। पूर्वबुद्धि को उत्तर बुद्धि के प्रति कारण मानने पर भी पूर्वबुद्धि और उत्तरबुद्धि में भेद (अन्यत्व) बना ही रहता है और इस प्रकार अन्यानुभूत का अन्य के द्वारा स्मरण नहीं होता इस न्याय से पूर्वबुद्धि से अनुभूत वस्तु की उत्तर बुद्धि से स्मरणानुपपत्तिरूप दोष बना ही रहता है। यदि बुद्धिभेद होने पर भी कार्यकारणभाव के कारण पूर्वबुद्ध्यनुभूत का उत्तरबुद्धि स्मरण करती है, तो आचार्य के द्वारा अनुभूत विषय का शिष्य को

1. न्यायसूत्र, १।१।१० 2. न्यायभूषण, पृ.४८७
3. भाषापरिच्छेद, कारिका ४८

स्मरण होने लगेगा, क्योंकि उनमें कार्यकारणभाव है। यदि यह कहा जाय कि लाक्षारस के सेक से आहित संस्कार वाले कपास के बीज से जैसे कपास में रक्तता पैदा हो जाती है, उसी प्रकार पूर्वबुद्धि अपने संस्कारों का आधान अपने कार्य उत्तरबुद्धि में कर देती है, अतः उस संस्कार के बल से उत्तरबुद्धि द्वारा पूर्वबुद्धि से अनुभूत का स्मरण हो सकता है, तो यह कथन भी अनुचित है। क्योंकि कपास की रक्तता वाला दृष्टान्त न तो 'पूर्वबुद्धि से अनुभूत विषय का उत्तरबुद्धि से स्मरण हो सकता है' इस बौद्धमत को सिद्ध कर सकता है और न 'पूर्वबुद्ध से अनुभूत विषय का उत्तरबुद्धि से स्मरण अनुपपन्न है, क्योंकि अनुभव और स्मरण का सामानाधिकरण्यनियम है,' इस हमारे पक्ष को दूषित कर सकता है। अर्थात् कार्पासरक्तता-दृष्टान्त जहाँ कार्यकारणभाव होता है, वहाँ अन्यानुभूत का अन्य को स्मरण होता है इत्याकारक अन्वयव्याप्ति या जहाँ अन्यानुभूत का अन्य से स्मरण नहीं होता है वहाँ कार्यकारणभाव नहीं होता है, इस व्यतिरेक-व्याप्ति को सिद्ध करने में समर्थ होता, तो पूर्वबुद्धि व उत्तरबुद्धि में कार्यकारणभाव होने से पूर्वबुद्ध से अनुभूत का उत्तरबुद्धि को स्मरण हो जाता है इस बौद्धमत का साधक हो सकता था, किन्तु कार्पासदृष्टान्त से यह सिद्ध नहीं होता और यदि अन्य से अनुभूत का अन्य द्वारा स्मरण अनुपपन्न है, क्योंकि अनुभव और स्मरण का सामानाधिकरण्य नियम है, इस अस्मदभिमत में असिद्धि आदि दोषों की उद्भावना में कार्पासरक्तता का दृष्टान्त समर्थ होता, तो हमारा पक्ष दूषित हो जाता। किन्तु यह दृष्टान्त इस कार्य को करने में भी असमर्थ है।

कार्पासरक्तता का दृष्टान्त भी विषम है, क्योंकि कार्पास में लाक्षारसावसेक के द्वारा उसके पत्र-कुसुमादि में रक्तता मानने वालों के मत में कार्पास का निरन्वय विनाश नहीं होता। अंकुर से जहाँ बीजोत्पत्ति होती है, वहाँ भी अंकुर के बाह्यदलों का अर्थात बोजावरण का ही नाश होता है, सूक्ष्म बीजरूप कारण का नहीं क्योंकि सूक्ष्म बीज ही वृक्षरूप में परिणत होता है, अतः किसी भी वस्तु का निरन्वय विनाश नहीं होता है। इसलिये कार्पास के बीज की रक्तता पत्र-पुष्पादि में आ सकती है, किन्तु बौद्ध विज्ञान का निरन्वय विनाश मानते हैं। अतः वहाँ पूर्वबुद्ध के संस्कारों का उत्तरबुद्धि में आधान कथमपि संभव नहीं है और न पूर्वबुद्ध से अनुभूत विषय का उत्तरबुद्धि से स्मरण होता है। अतः क्षणिक विज्ञान भी आत्मा नही है।

बौद्धों का सभी पदार्थों को क्षणिक मानना भी सर्वथा असंगत है, क्योंकि घटादि पदार्थों में 'स एवायं घटः यो ह्यो मया दृष्टः' इस प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष के द्वारा पदार्थों में क्षणिकत्व का अभाव सिद्ध है। प्रदीपज्वाला प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, किन्तु वहां भी 'सेयं दीपज्वाला' यह प्रतीति जिस प्रकार सादृश्य के कारण मानी जाती है अर्थात् पूर्वक्षण में विद्यमान दीपज्वाला से उत्तरक्षणवर्तनी

दीपज्वाला भिन्न है, फिर भी उत्तरक्षणवर्तिनी दीपज्वाला पूर्वक्षणवर्तिनी दीपज्वाला के समान है, इस सादृश्य को लेकर ही 'सेयं दीपज्वाला' यह एकत्व-प्रत्यभिज्ञा हो रही है। उसी प्रकार घटादि में भी सादृश्य को लेकर 'स एवायं घटः' इस प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति मानने पर पदार्थों को क्षणिक मानने में कोई आपत्ति नहीं है, यह कथन भी अविचारविजृम्भित है। प्रत्यक्ष द्वारा दीपज्वाला की क्षणिकता सिद्ध होने पर वहां 'सेयं दीपज्वाला' इस प्रत्यभिज्ञा को भ्रान्त मानने पर सर्वज्ञ अर्थात् घटादि स्थल में भी प्रत्यभिज्ञा को भ्रान्त मानना संगत नहीं है। अन्यथा प्रत्येक ज्ञान में भ्रान्तता की प्रसक्ति होगी। इस प्रकार बुद्ध्यादि के आश्रयत्वेन शरीरादि से भिन्न आत्मा की सिद्धि हो जाती है।

आत्मनित्यत्व

यह आत्मा नित्य है, क्योंकि वह अनादि तथा भावरूप है। अतः 'आत्मा नित्यः, भावत्वे सति अनादित्वात् गगनवत्' इस अनुमान से आत्मा में नित्यत्व की सिद्धि हो जाती है। यदि आत्मा को नित्य नहीं माना जायेगा, तो सद्योजात बालक की स्तन्यपान में प्रवृत्ति अनुपपन्न हो जायेगी; क्योंकि इष्टज्ञान के बिना किसी भी प्राणी की किसी भी कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती और 'स्तन्यपान मेरा इष्टजनक है', यह ज्ञान सद्योजात बालक को इस जन्म में हुआ नहीं है, अतः जन्मान्तर का अनुभव ही इस विषय में मानना होगा, जिसका स्मरण कर उसकी स्तन्यपान में प्रवृत्ति होती है। अतः जन्मान्तर में और इस जन्म में एक ही आत्मा मानना पड़ता है। अन्यथा अन्यानुभूत का अन्य द्वारा स्मरण न होने से स्तन्यपान में उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी। इसी प्रकार सद्योजात बालक की हर्ष-भय-शोक आदि निमित्त उपस्थित होने पर उनमें प्रवृत्ति या निवृत्ति भी आत्मा को नित्य सिद्ध कर रही है।

आत्मविभुत्व

भासर्वज्ञ ने आत्मा के वैष्णवाभिमत[1] अणुपरिमाणत्व और जैनाभिमत शरीरमात्र-परिमाणत्व[2] का खण्डन किया है तथा उसका विभुपरिमाणत्व सिद्ध किया है।[3] 'न्यायसार' में जीव की व्यापकत्वसिद्धि के लिये भासर्वज्ञ ने निम्नलिखित हेतु दिये हैं — 'धर्मादेराश्रयसंयोगापेक्षस्य गुरुत्वादिवदाश्रयान्तरे वाय्वादौ क्रियाकर्तृत्वात्, अणिमाद्युपेतस्य योगिनो युगपदसंख्यातशरीराधिष्ठातृत्वाच्च'।[4] अभिप्राय यह है कि

1. बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥ —श्वेताश्वतरोपनिषद्, ५।९

2. जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥ —द्रव्यसंग्रह, २

3. न्यायभूषण, पृ. ५८४

4. न्यायसार, पृ. ३७

वायु का तिर्यग्गमन और अग्नि का ऊर्ध्वज्वलन क्रिया होने के कारण अवश्य सहेतुक है और अन्य हेतु के असम्भव होने से धर्माधर्म ही हेतु हैं । "अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादुष्टकारितम्"[1] यह वैशेषिकसूत्र भी इसमें प्रमाण है । अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा—वायु आदि की क्रिया धर्माधर्म से जनित है, क्रिया होने के कारण, सम्प्रतिपन्न (ज्ञात) क्रिया की तरह । वायु आदि आश्रय से असम्बद्ध अदृष्ट (धर्माधर्म) उन क्रियाओं का कारण नहीं हो सकता, असम्बद्ध से कार्योत्पत्ति की उपलब्धि न होने के कारण । आत्मसमवेत धर्माधर्म का द्रव्यान्तर के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकता है । अतः धर्माधर्म निज आश्रय से अन्य वायु आदि के निज आश्रय (आत्म) से संयुक्त होने पर ही उनमें क्रिया उत्पन्न करते हैं, निरवयव होते हुए क्रियाजनक गुण[2] होने के कारण, गुरुत्वादि गुणों की तरह । गुरुत्वादि अन्य आश्रय के स्वाश्रयसंयुक्त होने पर ही उसमें पतनादि क्रिया के जनक होते हैं । धर्माधर्म आत्मा के गुण हैं और गुण गुणी को छोड़कर कहीं भी नहीं रहते हैं । वायु आदि की सर्वत्र होने वाली क्रिया को धर्माधर्म की अपेक्षा होती है और धर्माधर्म स्वाश्रयसंयुक्त में ही क्रिया के जनक होते हैं । इस प्रकार आत्मा का समस्त मूर्त द्रव्यों से संयोग होने के कारण उसका सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वरूप[3] व्यापकत्व सिद्ध होता है । भासर्वज्ञाचार्य ने इस सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वरूप व्यापकत्व की सिद्धि के लिये यह अनुमान भी प्रयुक्त किया है — "मच्छरीरं मुक्त्वाऽन्यातिमूर्तद्रव्याणि सर्वाणि मदात्मना संयुक्तानि, मूर्तत्वान् मच्छरीरवत् ।"[4]

अपि च, अणिमादिसिद्धि के प्रादुर्भूत होने पर योगी की आत्मा असंख्य इन्द्रियसहित शरीरों का निर्माण कर उनका अधिष्ठाता बनकर एक साथ भोगों का उपभोग करता है, ऐसा शास्त्रों में बतलाया गया है[5] और यह आत्मा के विभु

---

1. वैशेषिकसूत्र, ५।२।१३
2. गुरुत्वद्रवत्ववेगप्रयत्नधर्माधर्मसंयोगविशेषाः क्रियाहेतवः ।— प्रशस्तपादभाष्य (न्यायकन्दली-सहित), सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७७, पृ. २४४
3. आकाशकालदिगात्मनां सर्वगतत्वं परममहत्त्वं सर्वसंयोगिसमानदेशत्वञ्च । — प्रशस्तपादभाष्य, पृ. ५८-५९
4. न्यायभूषण, पृ. ५४४
5. आत्मनो वै शरीराणि बहूनि मनुजेश्वरं ।
प्राप्य योगबलं कुर्यात्तैश्च सर्वां महीं चरेत् ॥
भुंजीत विषयान् कश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत् ।
संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव ॥ —महाभारत, १२।३००।२६, २७

होने पर ही उपपन्न हो सकता है, अन्यथा योगी की आत्मा एक काल में भोगार्थ-निर्मित अनेक शरीरों का अधिष्ठाता नहीं बन सकता। "विभुरात्मा परमाणुपरिमाणानाश्रयत्वे सति नित्यद्रव्यत्वात् आकाशवत्"[1] इस अनुमान से भी आत्मा में विभुत्व सिद्ध होता है !

आत्मज्ञान का प्रयोजन

समस्त लोक प्रयोजनप्रेरित है, जैसाकि कहा गया है—'न हि प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न समप्रवर्तते'। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक है कि आत्मज्ञान से क्या प्रयोजन है जिसकी सिद्धि के लिये इतना यत्न किया गया है। इसका उत्तर देते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि परलोकसिद्धि ही आत्मज्ञान का प्रयोजन है।[2] आत्मा की सिद्धि न होने पर परलोकी अर्थात् परलोक में गमन करने वाले तथा वहां फल भोगने वाले पुरुष को सिद्धि नहीं होगी और परलोकों की सिद्धि न होने पर परलोक की भी सिद्धि नहीं होगी। अपि च, प्रेक्षावान् पुरुष की स्वर्ग के लिये प्रवृत्त नहीं होगी, क्योंकि परलोक में फलभोक्ता आत्मा के सद्भाव से परलोक की सत्ता निश्चित होती है और परलोक में मानव की प्रवृत्ति होती है और तत्पश्चात् अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि होती है। इस प्रकार परलोक में प्रवृत्ति के लिये उपयोगी होने तथा अधर्मक्षय का हेतु होने के कारण आत्मज्ञान निःश्रेयस का अंग है। 'तरति शोकमात्मवित्' (छा. उ. ७।१।३) इत्यादि श्रुतियों से आत्मा का अधर्मक्षयहेतुत्व अवगत है।

परमात्मा

न केवल जीवरूप अपरात्मा का ज्ञान परलोकसिद्धि व परलोकप्रवृत्ति के लिये उपयोगी होने से और अधर्मक्षय का कारण होने से निःश्रेयस का अंग है, अपितु परमात्मा के भी उपास्यत्वेन उपासना का अंग होने से उसका ज्ञान भी निःश्रेयस का अंग है। परमात्मा की उपासना से राग-द्वेष-मोहरूप क्लेशों व कर्मों का नाश होता है तथा महेश्वरविषयक चित्तैकाग्र्यरूप समाधि की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त यमनियमादि योगांगों का अनुष्ठान क्लेशक्षयार्थ तथा महेश्वरविषयक समाधिप्राप्त्यर्थ उपादेय है। ब्रह्मादिस्थावरान्त विषयों में अनेक प्रकार की दुःखभावना से अनभिरति-संज्ञक उत्कृष्ट वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। वैराग्यपूर्वक योगांगों के सेवन से परमात्मविषयक परा भक्ति का उदय होता है और शीघ्र ही अनुपम शिव तत्त्व का साक्षात्कार होता है और उसके साक्षात्कार से निरतिशय श्रेयोरूप मोक्ष की प्राप्ति

1. न्यायभूषण, पृ. ५४५

2. वही, पृ. ५४८

हो जाती है ।[1] उपासनाविधि का यद्यपि न्यायदर्शन में प्रतिपादन नहीं किया गया है, तथापि पातंजलादि शास्त्रों में उपदिष्ट उपायों का ही अवलम्बन 'परमतमप्रतिषिद्धमनुमतम्' इस तन्त्रयुक्ति के अनुसार यहां गृहीत है । जैसे सांख्यदर्शन में आचारविधि का प्रतिपादन नहीं किया गया है, अतः उसमें योगशास्त्रप्रतिपादित अष्टांगयोगविधि का का मोक्षोपायरूप से ग्रहण है । कुछ विद्वान् तो ऐसा मानते हैं कि सांख्ययोग दोनों मिलकर एक दर्शन है । सांख्य में तत्त्वमीमांसा और प्रमाणमीमांसा का प्रतिपादन है और योग में मोक्षोपयोगी आचारमीमांसा का । इसी प्रकार न्यायदर्शन में भी मोक्ष-प्राप्ति के लिये स्वतन्त्र आचारमीमांसा का प्रतिपादन नहीं किया गया है, किन्तु सूत्रकार ने 'योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः'[2] इस सूत्र से संकेत कर दिया है कि मोक्षसाक्षात्कार के लिये परमात्मोपासनविधिरूप आचारमीमांसा का योगदर्शन से ग्रहण करना चाहिए । भासर्वज्ञ ने तदनुसार ही परमात्मोपासन-विधि के उपायों का निरूपण किया है । परमात्मा की उपासना क्यों की जाती है, यह बतलाते हुए भासर्वज्ञ ने 'क्लेशतनूकरणार्थः समाधिभावनार्थश्च' इस योगसूत्र के अनुसार क्लेशकारी कर्मों का नाश तथा समाधि को प्राप्त उपासना का प्रयोजन बतलाया है और 'तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानि क्रियायोगः'[3] इस क्रियायोग को ही उपासनाविधि कहा है । 'समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च'[4] इस पातंजल सूत्र द्वारा प्रदर्शित क्रम में भासर्वज्ञ ने अर्थानुसार परिवर्तन किया है,[5] क्योंकि पहिले क्लेशों का तनूकरण होता है, तभी समाधिभावना हो सकती है । 'तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' का निरूपण करते हुए उन्माद, काम आदि की निवृत्ति के लिये आध्यात्मिकादि दुःखों की सहनशीलता को तप, ईश्वरवाची प्रणव के अभ्यास को स्वाध्याय तथा अविच्छेदेन परमेश्वर तत्त्व के चिन्तन का ईश्वर-प्रणिधान कहा है ।

योगदर्शन में अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः'[6] इस सूत्र के अनुसार जिन क्लेशों का नाश करना है, उनका अविद्यादिभेद से पांचविध्य बतलाया है, किन्तु भासर्वज्ञ ने न्यायपद्धति के अनुसार क्लेश के संक्षेपतः राग, द्वेष, मोह तीन भेद ही माने हैं, क्योंकि 'तत् त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात्'[7] न्यायसूत्र में तीन क्लेशों का ही परिगणन किया गया है । ये तीनों समाधि के विरोधी हैं और

1. न्यायसार, पृ. ३९
2. न्यायसूत्र, ४।२।४६
3. योगसूत्र, २।१
4. वही, २।२
5. न्यायभूषण, पृ. ५८४
6. योगसूत्र, २।३
7. न्यायसूत्र, ४।१।३

जन्मादि द्वारा पुनः पुनः संसारप्राप्ति कराने वाले हैं, अतः सूत्रोक्त इन दोषों का ही क्लेश का कारण होने से क्लेश पद से अभिधान किया है।[1] इन क्लेशों की निवृत्ति उपर्युक्त क्रियायोग के द्वारा ही होती है। इसके अतिरिक्त क्लेशक्षय तथा समाधिप्राप्ति के लिये योगसूत्रोक्त यमनियमादि आठ अंगों को भी आवश्यक माना है।[2]

⊕

1. समासतो रागद्वेषमोहाः क्लेशाः समाधिप्रत्यनीकत्वेन संसारापत्तिद्वारेण क्लेशहेतुत्वात्।
—न्यायसार, पृ. ३८

2. यथा च क्रियायोगः क्लेशक्षयहेतुस्तथा योगांगान्यपि अतस्तान्यपि अतिप्रयत्नेन अनुष्ठेयानि।
—न्यायभूषण, पृ. ५८७

अष्टम विमर्श

अपवर्गनिरूपण

मोक्षस्वरूप के विषय में दार्शनिकों में मतभेद है। अधिकांश दार्शनिक, जिनमें वैशेषिक तथा भाष्यकारादि नैयायिक, सांख्य तथा योग दार्शनिक हैं, एकान्ततः दुःखनिवृत्ति को ही मोक्ष स्वीकार करते हैं। वेदान्ती तथा भासर्वज्ञ[1] और उनके मतानुयायी नैयायिक नित्यसुखाभिव्यक्ति को मोक्ष मानते हुए मोक्ष दशा में आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति भी स्वीकार करते हैं। भासर्वज्ञ ने मोक्ष का निरूपण करते हुए पूर्वपक्ष के रूप में 'एके' पद द्वारा वैशेषिकमत[2] का उल्लेख करते हुए कहा है कि उनके अनुसार संहारावस्था में आत्ममनःसंयोगजन्य सभी विशेष गुणों का उच्छेद हो जाने पर आकाश की तरह आत्मा का सर्वदा अवस्थान ही मोक्ष है।[3] इस कथन से स्पष्ट है कि मोक्षदशा में दुःखनिवृत्ति की तरह सुख की निवृत्ति भी उनको अभिप्रेत है, क्योंकि सुख और दुःख दोनों अविनाभूत है, एक को छोड़कर दूसरे का भोग नहीं किया जा सकता। विवेकी पुरुषों की प्रवृत्ति सुख के लिये ही देखी जाती है और मोक्ष में सुख का अभाव मानने पर उनकी प्रवृत्ति नहीं होगी—यह आशंका निरर्थक है; क्योंकि कण्टकादिजन्य दुःखाभाव के लिये भी प्रेक्षावान् पुरुषों की प्रवृत्ति लोक में देखी जाती है तथा अध्यात्मशास्त्र विषयी पुरुषों के लिये नहीं है, जिससे कि सुखादिरूप विषय के अभाव में मनुष्य की प्रवृत्ति न हो। जो पुरुष दुखों से अत्यन्त निर्विण्ण हो चुके हैं, उनके दुःखोच्छेद के लिये ही अध्यात्मशास्त्र की प्रवृत्ति है। इसीलिये सांख्यकारिका में भी कहा है—

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्ततोऽभावात्॥[4]

अर्थात् विवेकख्याति के द्वारा दुःखत्रय के आत्यन्तिक तथा ऐकान्तिक अभाव के लिये ही विवेकख्याति के जनक सांख्यशास्त्रनिरूपित तत्त्वों के सम्यग्ज्ञान के लिये शास्त्र में प्रवृत्ति होती है।

---

1. न्यायसारे पुनरेवं नित्यसंवेद्यमानेन सुखेन विशिष्टात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः पुरुषस्य मोक्षः।
—षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति, पृ. ९३–९४

2. तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः।—वैशेषिकसूत्र, ५।२।१८

3. एके तावद् वर्णयन्ति—समस्तात्मविशेषगुणोच्छेदे संहारस्यायामाकाशवदात्मनोऽत्यन्तावस्थानं मोक्ष इति। —न्यायसार, पृ. ३९–४०

4. सांख्यकारिका, १

न्यायभाष्यकार वात्स्यायनादि ने भी दुःख के आत्यन्तिक उच्छेद को ही मोक्ष स्वीकार किया है। 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः'[1] इस सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने दुःख की अत्यन्त विमुक्ति को ही मोक्ष बतलाया है और यह दुःखात्यन्तविमोक्षरूप मोक्ष ही दुःखरूप भय, मृत्यु के अभाव से अभय, अजर, अमृत्युपद आदि शब्दों से व्यवहृत किया गया है। भाष्यकार ने मोक्ष में नित्य सुख की अभिव्यक्ति मानने वालों के मत का निराकरण करते हुए कहा है कि मोक्ष में नित्य सुख की अभिव्यक्ति में कोई प्रमाण नहीं तथा उस सुख को नित्य मानने पर संसारदशा में भी उस सुख की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। यदि कारण-विशेष से उसकी अभिव्यक्ति होती है, तो कारणजन्य होने से वह अभिव्यक्ति अनित्य होने से विनाशी होगी, सर्वदा स्थिर नहीं रह सकेगी।[2]

किन्तु क्रान्तिकारी नैयायिक भासर्वज्ञ[3] का कथन है कि मोक्ष में दुःखात्यन्त-निवृत्ति की तरह सुख की निवृत्ति मानने पर दुःख-सुख दोनों का ज्ञान न होने से वह दशा मूर्च्छावस्था के समान होगी और उसमें विवेकियों की प्रवृत्ति नहीं होगी। जैसे संसारावस्था में सुख सभी को इष्ट है और दुःखनिवृत्ति भी अभीष्ट है, उसी प्रकार मोक्षदशा में भी दुःख की निवृत्ति सभी को इष्ट हो सकती है, किन्तु सुख की निवृत्ति नहीं। सुख के लिये ही सभी विवेकियों की प्रवृत्ति देखी जाती है। कण्टकादिजन्य दुःख का परिहार भी मानव सुखोपभोग के लिये ही करता है, क्योंकि कण्टकादिजन्य दुःख के होने पर निरवद्य (दुःखदोषरहित) सुख का उपभोग नहीं हो सकता। अतः वह उसके परिहार के लिये चेष्टा करता है।

मोक्ष में सुख की निवृत्ति मानने पर मोक्ष एकान्ततः पुरुषार्थ नहीं होगा क्योंकि जैसे दुःखनिवृत्ति के कारण वह (मोक्ष) पुरुष द्वारा अभिलषणीय होगा, उसी प्रकार सुखाभाव के कारण वह प्रेक्षावान् पुरुष के द्वारा अनभिलषणीय भी होगा। अतः मोक्ष में दुःखात्यन्तनिवृत्ति के साथ नित्य सुख की अभिव्यक्ति माननी उचित है। मोक्षदशा में नित्य सुख होता है, इसमें श्रुतिस्मृतिरूप आगम प्रमाण विद्यमान हैं।

'सुखमात्यन्तिकं यद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
तं वै मोक्षं विजानीयाद् दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥[4]

---

1. न्यायसूत्र, १।१।२२

2. न्यायभाष्य, १।१।२२

3. It is with the radical Bhāsarvajña that a real change is wrought with in the system. He specifically denies that the purely negative description of liberation can be correct,.. .. ... No one wants such a state, says Bhāsarwajña. — Karl H. Potter : The Encyclopedia of Indian Philosophies, Vol. II, p. 29.

4. न्यायसार से उद्धृत, पृ. ४०

'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कदाचनेति ।'[1]
'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिलक्ष्यते ।'[2]
'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ।'[3]

उपर्युक्त श्रुतिस्मृतियों में प्रतिपादित सुख को 'भाराद्यपगमे सुखी संवृत्तः' की तरह लक्षणया दुःखाभावपरक मानना असंगत है, क्योंकि लक्षणा मुख्यार्थ का बाध होने पर होती है और इन श्रुतियों में मुख्यार्थ सुख का बाध नहीं है। भाराक्रान्त पुरुष के भार के दूर हो जाने पर शीतल-मन्द-सुगन्धित वायु के सम्पर्क से ही उसको सुख होता है, इसीलिये वहां सुखी शब्द का प्रयोग किया गया है, न कि दुःखाभाव के कारण। दुःखाभाव ही सुख है, यह भी संगत नहीं। अन्यथा सामान्य आहार से बुभुक्षाजन्य दुःख की निवृत्ति हो जाने पर आहारविशिष्ट से विशेष आनन्द की प्राप्ति पुरुष को नहीं होनी चाहिए। इसीलिये अभियुक्तों ने कहा है—

"दुःखाभावोऽपि नाऽवेद्यः पुरुषार्थतयेष्यते ।
न हि मूर्च्छाद्यवस्थार्थं प्रवृत्तो दृश्यते सुधीः ॥"[4]

अपि च, मोक्षदशा में सुखाभिव्यक्ति न मानने पर केवल दुःखाभाव में सुख शब्द का प्रयोग मानना होगा, जो कि गौण प्रयोग है और असंगत है, क्योंकि मुख्यार्थबाध के बिना गौण प्रयोग मानने में कोई कारण नहीं। तथा मोक्षदशा में ज्ञानादि सकल विशेष गुणों का अभाव मानने पर दुःखाभाव का भी ज्ञान न होने से अज्ञात अर्थ में गौण प्रयोग भी अनुपपन्न है। सुषुप्त्यवस्था में ज्ञान न होने पर भी जैसे 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस प्रकार दुःखभाव में सुख शब्द का प्रयोग होता है, उसी प्रकार मोक्षदशा में भी हो जायेगा, यह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि सुषुप्त्यवस्था में ज्ञानाभाव की सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं। प्रत्युत जागरणानन्तर 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्याकारक स्मृति के बल से सुषुप्ति में सुख तथा सुखज्ञान दोनों मानने पडते हैं। सुषुप्त्यवस्था में सुख का ज्ञान मानने पर सुषुप्ति और मोक्ष का कोई भेद नहीं रहेगा, क्योंकि मोक्ष में नित्य सुख को अभिव्यक्ति मानने वालों के मत में मोक्ष में भी सुख और सुखज्ञान है तथा सुषुप्ति में भी, यह कथन भी अविचारितरमणीय है, क्योंकि सुषुप्ति में सुखमात्र का ज्ञान होता है, चाहे वह नित्य हो अथवा निद्रासहकृत धर्मविशेष से जन्य हो, किन्तु मोक्ष में नित्य सुख का ही ज्ञान होता है, अतः दोनों मे भेद है।

मोक्ष में नित्य सुखाभिव्यक्ति मानने पर सुख तथा ज्ञान दोनों के नित्य होने से संसारावस्था में भी उस सुख का भान होना चाहिए और ऐसा मानने पर

1. तैत्तिरीयोपनिषद्, २/४
2. न्यायसार से उद्धृत, पृ. ४०
3. बृहदारण्यकोपनिषद्, ३/६/२८
4. न्यायभूषण से उद्धृत, पृ. ५९६

मुक्तावस्था तथा संसारावस्था में कोई भेद नहीं रहेगा, यह शंका भी अनुपपन्न है, क्योंकि जैसे चक्षु और घट के बीच में कुड्यादि का व्यवधान होने पर उन दोनों के विद्यमान होने पर भी घट का ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार सुख तथा सुखज्ञान दोनों के नित्य होने पर भी संसारदशा में उन दोनों के विषयविषयिभाव सम्बन्ध के विरोधी अधर्मादि के कारण दुःख होने से उसका भान नहीं होता और मुक्त्यवस्था में उस सम्बन्ध के प्रतिबन्धक अधर्मादि का नाश हो जाने से भान हो जाता है। जैसे, कुड्यादि का व्यवधान हट जाने पर चक्षु और घट का सम्बन्ध हो जाने से चक्षु द्वारा घट का ज्ञान हो जाता है।

यद्यपि अधर्मादि अमूर्त होने से कुड्यादि की तरह व्यवधायक वस्तु नहीं है, अतः दृष्टान्त में विषमता है, तथापि जिस प्रकार कुड्य चक्षु तथा घट के सम्बन्ध का प्रतिबन्धक है, वैसे ही नित्य सुख व उसके ज्ञान के विषयविषयिभावसम्बन्ध के अधर्मादि प्रतिबन्धक हैं। अतः प्रतिबन्धकत्वसाम्य के कारण कुड्यादि का दृष्टान्त दिया गया है। इसलिए मोक्षकाल में नित्य सुख तथा उसके ज्ञान का सम्बन्ध अधर्मादि प्रतिबन्धकों के द्वारा जन्य है, किन्तु किसी विनाशकारण के न होने से वह नष्ट नहीं होता और इस प्रकार मोक्षदशा में नित्य सुख की अभिव्यक्ति सदा बनी रहेगी। मोक्ष में नित्यसुखाभिव्यक्ति के संभव होने से तथा श्रुतिस्मृत्यादि प्रमाणों द्वारा उस दशा में नित्य सुख की अभिव्यक्ति के सिद्ध होने से नित्यसुखाभिव्यक्तिविशिष्ट दुःखनिवृत्ति ही मोक्ष है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

ऐसा प्रतीत होता है कि नैयायिक प्रारम्भ में मोक्ष में नित्य सुखाभिव्यक्ति मानते थे, जैसाकि उपलभ्यमान कुछ उक्तियों से सिद्ध होता है। वे उक्तियां निम्नलिखित हैं—

'दुःखाभावो हि नावेद्यः पुरुषार्थतयेष्यते।
न हि मूर्च्छाद्यवस्थार्थं प्रवृत्तो दृश्यते सुधी॥'

अर्थात् अज्ञायमान दुःखात्यन्तनिवृत्ति को मोक्षरूप पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता; क्योंकि केवल दुःखनिवृत्ति को मोक्ष मानने पर मोक्षकाल में आत्ममनःसंयोगजन्य सुख, दुःख, ज्ञान आदि सभी विशेष गुणों का उच्छेद होने पर मूर्छादिसदृश स्थिति हो जाती है। अतः इसे मोक्ष मानना अनुचित है।

यह एक प्राचीन कारिका भी मिलती है, जिसे न्यायभूषण तथा सदानन्दकृत अद्वैतब्रह्मसिद्धि आदि में उद्धृत किया गया है—

'वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम्।
न तु निर्विषयं मोक्षं गौतमो गन्तुमिच्छति॥'[1] अ), ब)

इस उक्ति से यह स्पष्ट सिद्ध है कि सकलात्मगुणविशेषोच्छेद को गौतम मुक्ति कभी स्वीकार नहीं करता।

दो प्राचीन कारिकाएं उपलब्ध होती हैं, जिनसे यह स्पष्ट सिद्ध है कि न्यायसूत्र के रचयिता गौतम समस्तविशेषगुणोच्छेदरूपी मुक्ति को नहीं मानते थे।

'तत्रापि नैयायिक आत्तगर्वः कणादपक्षाच्चरणाक्षपक्षे।
मुक्तेर्विशेषं वद सर्वविच्चेत् नो चेत् प्रतिज्ञां त्यज सर्ववित्वे॥

अत्यन्तनाशे गुणसंगतेर्या स्थितिर्नभोवत् कणभक्षपक्षे।
मुक्तिस्त्वदीये चरणाक्षपक्षे सानन्दसंवित् सहिता विमुक्तिः॥[2]'

इन कारिकाओं से यह प्रतीत होता है कि किसी नैयायिक ने शंकराचार्य की सर्वज्ञता पर कटाक्ष करते हुए यह आक्षेप किया कि यदि आप सर्वज्ञ हैं, तो बतलाइये कि कणादसम्मत मुक्ति से न्यायसम्मत मुक्ति में क्या भेद है? और यदि नहीं बतला सकते, तो स्वयं को सर्ववित् कहना छोड़ दीजिये। इस पर शंकराचार्य ने कहा कि कणादमत में आत्मा के अशेष विशेष गुणों का उच्छेद हो जाने पर आकाश की तरह केवल महत्त्वादि सामान्य गुणों के साथ आत्मा की स्थिति मोक्ष है। किन्तु गौतम के मत में आनन्दसंवित्-सहित अर्थात् नित्यसुखाभिव्यक्तिसहित दुःखात्यन्तनिवृत्ति मोक्ष है।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि चाहे कितनी ही प्राचीन कारिका या वचन इस विषय में उपलब्ध होते हों, किन्तु स्वयं गौतमने अपने न्यायसूत्र में 'बाधनालक्षणं दुःखम्'[1], 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः'[2] इन सूत्रों के द्वारा बाधनास्वरूप दुःख की अत्यन्त निवृत्ति को ही मोक्ष स्पष्ट रूप से बतलाया है, तब यह कैसे माना जा सकता है कि गौतम नित्य सुखाभिव्यक्तिसहित दुःखाभिव्यक्ति को मोक्ष मानते हैं। इसका यह समाधान है कि गौतम ने यही बतलाया है कि प्रमाणप्रमेयादि षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञाननिवृत्ति द्वारा परम्परया मिथ्याज्ञानजन्य दुःख की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है, इसी को अपवर्ग कहते हैं। सभी दार्शनिक तत्त्वज्ञान से तो मिथ्याज्ञान की निवृत्ति ही मानते हैं, क्योंकि तत्त्वज्ञान का मिथ्याज्ञान से ही विरोध है। वेदान्ती जीवब्रह्मैक्यरूप सम्यक्ज्ञान से तथा सांख्य व पातंजल विवेकज्ञान से अज्ञान तथा अविवेक की ही निवृत्ति मानते हैं। अर्थात् तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान नष्ट होता है और उसके नाश से परम्परया दुःख की निवृत्ति होती है। अतः तत्त्वज्ञान का सामर्थ्य मिथ्याज्ञान तथा परम्परया तज्जन्य दुःख की निवृत्ति में ही है, नित्य सुख की अभिव्यक्ति में नहीं। प्रतिबन्धकरूप दुःख की निवृत्ति हो जाने पर नित्य सुख तो स्वतः अभिव्यक्त हो जाता है। अतः शास्त्र का तात्पर्य तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान-निवृत्ति द्वारा दुःखात्यन्तनिवृत्ति में है, इसी

---

1 (a) न्यायभूषण से उद्धृत पृ. ५९४। (b) अद्वैतब्रह्मसिद्धि, पृ १७६

2. शङ्करदिग्विजय, सर्ग १६।६८–६९

3. न्यायसूत्र, १।१।२१

4. वही, १।१।२२

अभिप्राय से सूत्रकार ने 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः'[1] इस सूत्र के द्वारा दुःखात्यन्तविमोक्ष को अपवर्ग कहा है। अपवर्ग शब्द का प्रयोग भी यह सिद्ध कर रहा है कि सूत्रकार तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञाननिवृत्ति द्वारा अपवर्जनीय वस्तु का निर्देश कर रहे हैं और वह अपवर्जनीय वस्तु दुःख ही है। अतः सूत्रकार का दुःखात्यन्तविमोक्ष को अपवर्ग तथा तत्त्वज्ञान का फल बतलाना सर्वथा समीचीन है। वेदान्त ने भी ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति तथा तज्जन्य अनर्थरूप प्रपंच की निवृत्ति ही शास्त्र का प्रयोजन माना है, आत्मरूप सुख की अभिव्यक्ति की नहीं। आत्मसुख तो नित्य है, वह अज्ञान से अभिभूत रहता है। ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति हो जाने से उसकी अभिव्यक्ति नित्यसिद्ध होने से स्वतःसिद्ध है। इसी प्रकार न्यायमत में दुःखात्यन्तनिवृत्ति हो जाने पर नित्यसुखाभिव्यक्ति के प्रतिबन्धक दुःख की निवृत्ति हो जाने से नित्य सुखाभिव्यक्ति स्वतःसिद्ध है। सूत्रकार ने कहीं भी नित्य सुखाभिव्यक्ति का मोक्ष में निषेध नहीं किया है। अतः सूत्रकार दुःखात्यन्तनिवृत्तिसहित नित्य सुखाभिव्यक्ति को ही मोक्ष मानते हैं। गौतम ने यह भी कहीं नहीं बतलाया है कि मोक्षदशा में आत्मा के सकल विशेष गुणों का उच्छेद हो जाता है। अतः मोक्षदशा में नित्य सुखभान मानने में सूत्रकार का किसी भी प्रकार का विरोध नहीं, अपितु उपर्युक्त उपलभ्यमान मोक्षविषयक कारिकाओं से नित्य सुखाभिव्यक्तिरूप मोक्ष में उनकी सम्मति ही उपलब्ध होती है। सूत्रकार के बाद कालप्रभाव से वैशेषिकमत के प्रभाव के कारण न्यायभाष्यकारादि ने कणादसम्मत मोक्षस्वरूप अपना लिया और महान् संरम्भ के साथ उसी को एकान्ततः मोक्ष का स्वरूप मानते हुए नित्यसुखाभिव्यक्तिरूप मोक्ष का प्रत्याख्यान किया। किन्तु आचार्य भासर्वज्ञ ने अपनी प्रतिभा के बल पर उस मत का पुनः उज्जीवन किया।[2] अतः भासर्वज्ञ के न्यायसार में 'एके तावद् वर्णयन्ति सकलविशेषगुणोच्छेदे संहारावस्थायामाकाशवदात्मनोऽत्यन्तावस्थानं मोक्षः'[3] इस वाक्य में 'एके' पद से वैशेषिकों तथा तथा वैशेषिकानुयायी भाष्यकारादि का ग्रहण उचित है तथा 'मोहाद्यवस्थात्वान्मूर्च्छाद्यवस्थावदत्र विवेकिनां प्रवृत्तिर्नेत्याहुरन्ये'[4] इस वाक्य में 'अन्ये' पद से आचार्य गौतम तथा तन्मतानुयायी भासर्वज्ञादि का ग्रहण है। 'अन्ये' पद से गृहीत आचार्यों का मत ही वास्तविक न्यायमत है। इसलिये भासर्वज्ञ ने 'अन्ये' मत को न्याय का मत मानते हुए 'मोक्षे सुखाभिव्यक्तिरिति न्यायमतम्' वाक्य का प्रयोग किया है और यही गौतम को अभिप्रेत है, इस तथ्य को पुष्टि के लिये—

"वरं वृन्दावनेरम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम् ।
न तु निर्विषयं मोक्षं गौतमो गन्तुमिच्छति ॥"

यह वचन उद्धृत किया है। अतः भासर्वज्ञ के अनुसार आनन्दसंवित्सहित दुःखात्यन्तनिवृत्ति ही मोक्ष है, यह मत ही न्यायमत है, न कि केवल दुःखात्यन्तनिवृत्ति।

1. न्यायसूत्र, १।१।२२
2. तत्सिद्धमेतत् नित्यसंवेद्यमानेन सुखेन विशिष्टा आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः पुरुषस्य मोक्ष इति। —न्यायसार, पृ. ४१
3. न्यायसार, पृ. ३९-४०
4. न्यायभूषण, पृ. ५९४

भासर्वज्ञ ने उपर्युक्त रीति से आनन्दसंवित्सहित दुःखात्यन्तनिवृत्ति को मोक्ष माना है। अर्थात् मोक्षदशा में दुःखरूप प्रतिबन्ध के नष्ट हो जाने से नित्य सुख की अभिव्यक्ति हो जाती है, जो कि संसारदशा में दुःखरूप प्रतिबन्ध के कारण नहीं होती थी, किन्तु न्यायदर्शन की रीति से यह सर्वथा अनुपपन्न है, क्योंकि यह मुक्ति आत्मा को आनन्द व ज्ञानरूप मानने वालों के मत में ही बन सकती है। किन्तु न्यायदर्शन आत्मा को ज्ञानरूप व आनन्दरूप नहीं मानता। वह तो आत्मा के साथ मन संयोग द्वारा बुद्ध्यादि विशेष गुणों की उत्पत्ति आत्मा में मानता है। इसीलिये उन्होंने आत्मा को 'ज्ञानाद्यधिकरणमात्मा' इस रीति से ज्ञानादि का आश्रय माना है और इन्हीं बुद्ध्यादि लिंगों के द्वारा उन्होंने आत्मा की अनुमिति मानी है। यद्यपि ईश्वर के गुणों की संख्या के विषय में नैयायिकों के मत में एकरूपता नहीं है, तथापि ईश्वर में नित्य ज्ञान, नित्य इच्छा तथा नित्य प्रयत्न सब को मान्य है। परन्तु वे उसमें भी नित्य सुख की सत्ता नहीं मानते हैं। हाँ, जरन्नैयायिक जयन्त ने ईश्वर को धर्म तथा नित्य सुख का आश्रय भी माना है।[1] ऐसी स्थिति में आत्मा में मुक्तिदशा में सुख व ज्ञान के न होने से नित्य सुख की अभिव्यक्ति किस प्रकार बन सकती है? उन्होंने जो नित्य सुख की अभिव्यक्ति के विषय में 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन,' 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्' इत्यादि जो श्रुतिवचन उपन्यस्त किये हैं, वे ब्रह्म अर्थात् आत्मा को आनन्दरूप बतला रहे हैं और न्यायदर्शन में उपर्युक्त रीति से आत्मा जब आनन्दरूप नहीं है, तब उपर्युक्त श्रुतिवचन किस तरह नित्य सुख की अभिव्यक्ति में प्रमाण हो सकते हैं। अतः दुःखात्यन्तनिवृत्ति ही न्यायदर्शन में मोक्ष का स्वरूप है। इसीलिये श्रीहर्ष ने गोतम के मुक्तिसिद्धान्त पर कटाक्ष करते हुए कहा है—

'मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥'[2]

इसका स्पष्ट अभिप्राय है कि बुद्धिजीवी तथा प्रेक्षावानों को जडतारूप मुक्ति का उपदेश करने वाला गोतम गोतम ही है अर्थात् निरा पशु है। यद्यपि गौतम ने कहीं भी सकलविशेषगुणोच्छेदरूप मुक्ति का प्रतिपादन नहीं किया है, किन्तु 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः'[3] सूत्र में दुःखात्यन्तविमुक्तिरूप मुक्ति का तो प्रतिपादन किया ही है, अतः दुःखात्यन्तनिवृत्ति ही न्यायमत में मोक्ष का स्वरूप सिद्ध होता है।

---

1. धर्मस्तु भूतानुग्रहवतो वस्तुस्वाभाव्यात्भवन्न वार्यते तस्य च फलं परमार्थनिष्पत्तिरेव, सुखं त्वस्य नित्यमेव नित्यानन्दत्वेन आगमात् प्रतीतेः, असुखितस्य चैवंविधकार्यारम्भयोग्यताऽभावात्। —न्यायमञ्जरी, पूर्व भाग (चौखम्बा, वाराणसी, द्वितीय संस्करण), पृ. १८५

2. नैषध, सर्ग १७, श्लोक ७४

3. न्यायसूत्र, १।१।२२

आत्मा की नित्यसुखरूपता का कहीं भी गोतम के द्वारा प्रतिपादन नहीं किया गया है, अपि तु न्याय के वैशेषिक के समानतन्त्र होने से ज्ञानसुखाद्याश्रयत्व ही आत्मा का स्वरूप सिद्ध होता है न कि नित्यसुखरूपता। न्याय और वैशेषिक दर्शन ही नहीं, षड्दर्शनों में वेदान्त को छोड़कर किसी भी दर्शन ने आत्मा की सुखरूपता अंगीकार नहीं की है। इसीलिये वेदान्तातिरिक्त सभी दर्शनों में शब्दभेद से दुःखात्यन्तनिवृत्ति को ही मोक्ष माना है। षड् दर्शनों में केवल वेदान्तदर्शन ही एक ऐसा है जिसने प्रपञ्चनिवृत्तिपूर्वक नित्यसुखाभिव्यक्ति को मोक्ष स्वीकार किया है।

वस्तुतः मोक्ष में आत्मा की स्वरूपस्थिति होती है। अतः आत्मा को नित्यसुखस्वरूप मानने वाले वेदान्तमत को छोड़कर अन्य दर्शनों में नित्यसुखस्वरूपतारूप मोक्ष को मानना नितान्त असंगत है। इसीलिये जयन्तभट्ट ने आत्यन्तिकी दुःखव्यावृत्ति को ही मुक्ति माना है और उसको सिद्ध भी किया है।[1]

---

1. ...आत्यन्तिकी दुःखव्यावृत्तिरपवर्गो न सावधिका द्विविधदुःखावमर्शिना सर्वनाम्ना सर्वेषामात्मगुणानां बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराणां निर्मूलोच्छेदोऽपवर्ग इत्युक्तं भवति। ....तदेवं नवानामात्मगुणानां निर्मूलोच्छेदोऽपवर्ग इति यदुच्यते तदेवेदमुक्तं भवति तदत्यन्तवियोगोऽपवर्ग इति।

ननु तस्यामवस्थायां कीदृगात्माऽवशिष्यते।
स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः॥
ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः।
संसारबन्धनाधीनदुःखक्लेशाद्यदूषितम्॥

—न्यायमञ्जरी, उत्तरभाग, पृ. ७७

नवम विमर्श

परवर्ती ग्रन्थकारों पर भासर्वज्ञाचार्य का प्रभाव

परस्पर खण्डमण्डन की परम्परा ने श्रौत तथा अश्रौत दर्शनों के सिद्धान्तों में अनेक परिवर्तन, परिष्कार तथा परिवर्धन द्वारा दार्शनिक वाङ्मय को पर्याप्त समृद्ध बनाया है। दर्शनशास्त्र के प्रौढ़ ग्रन्थकारों से उत्तरवर्ती ग्रन्थकार अवश्य प्रभावित हुए हैं। आचार्य भासर्वज्ञ भी उन ग्रन्थकारों में अन्यतम हैं, जिनका भूरि प्रभाव उत्तरवर्ती दर्शनशास्त्रीय वाङ्मय पर परिलक्षित होता है। न्यायशास्त्र को परम्परागत वैशेषिकप्रभाव से मुक्त कर उसमें नूतन सिद्धान्तों की उद्भावना द्वारा क्रान्ति लाने के कारण भासर्वज्ञाचार्य परवर्ती ग्रन्थकारों के विशेष चर्चा के विषय रहे हैं। उनके 'न्यायसार' पर स्वोपज्ञ विवृति 'न्यायभूषण' के अतिरिक्त सत्रह टीकाएं लिखी गईं।[1] यह उनके प्रभावातिशय तथा प्रसिद्धि का द्योतक प्रबल प्रमाण है। इन टीकाकारों में जयसिंह सूरि आदि जैन दार्शनिक भी हैं। न्यायभूषण पर भी दो टीकाओं की रचना का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] वासुदेव सूरि ने तो न्यायभूषण की दुर्बोधता और गहनता से प्रभावित होकर उसे महाम्बुधि संज्ञा दी है।[3]

बौद्ध दार्शनिक ज्ञानश्रीमित्र ने न्यायशास्त्र के आधारस्तम्भभूत प्रमुख नैयायिकों में भासर्वज्ञ की गणना कर उनके महत्त्व का अंकन किया है।[4] हेमचन्द्र सूरि, मल्लिषेण सूरि, श्रीमद्वल्लभाचार्य, उदयनाचार्य, किरणावलीप्रकाशकार, शंकरमिश्र, भट्ट वादीन्द्र, वरदराज वेंकटनाथ, ज्ञानश्री, रत्नकीर्ति आदि परवर्ती ग्रन्थकारों ने प्रमाणसामान्य, प्रत्यक्ष, अनुमान, संख्या, कर्म, विभागज विभाग, मुक्ति आदि अनेक विषयों से सम्बन्धित भासर्वज्ञ के मन्तव्यों के खण्डन अथवा मण्डन के लिये अपनी लेखनी चलाई है और उनके मत को उद्धृत किया है। भासर्वज्ञ के मत इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि विरोध होने पर भी परवर्ती दार्शनिक उनकी उपेक्षा नहीं कर सके। ४००–५०० वर्षों की सुदीर्घ कालावधि तक भासर्वज्ञ के मतों की समालोचना होती रही, इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनकी मान्यताएं निश्चित रूप से प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण थीं। जैसाकि पुरस्तात् कहा जा चुका है, उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने स्वमतसमर्थनार्थ या भासर्वज्ञमतखण्डनार्थ दो रूपों में उनके विचारों को उद्धृत किया है। यहां दोनों प्रकार के कतिपय उद्धरण प्रस्तुत कर आचार्य भासर्वज्ञ के प्रभाव का अवधारण किया जा रहा है।

1. द्रष्टव्य–प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध, पृ. २६
2. वही
3. वही
4. ज्ञानश्रीनिबन्धावलि, पृ. १५९

(क) तर्कभाषाप्रकाशिका के प्रणेता चिन्नभट्ट भासर्वज्ञमत से प्रभावित प्रतीत होते हैं। उन्होंने अनेक स्थलों पर भासर्वज्ञ के मन्तव्यों को स्वमत के समर्थन के लिये उद्धृत किया है। जैसे—तर्कभाषाकार ने साधारण तथा असाधारण भेद से अनैकान्तिक हेत्वाभास के दो भेद माने हैं। इस प्रसंग में चिन्नंभट्ट ने व्यभिचार का लक्षण किया है–'स्वोचितस्थलमतिक्रम्य अन्यत्र वर्तनं व्यभिचारः'[1] अर्थात् स्वोचित स्थल सपक्ष को छोड़कर अन्यत्र अर्थात् विपक्ष में हेतु का रहना व्यभिचार है। यहां आशंका होती है कि अनुचित स्थल विपक्ष में न रहने वाले पक्षमात्रवृत्ति असाधारण हेत्वाभास में सव्यभिचारिता कैसे सम्पन्न होगी? तर्कभाषाप्रकाशिकाकार ने इसका समाधान करते हुए कहा है–'अनुचितस्थले वर्तमान-मिवोचितस्थलेऽवर्तमानमपि व्यभिचार एव'।[2] अर्थात् हेतु ही की विपक्षवृत्तिता की की तरह सपक्षावृत्तिता भी व्यभिचार ही है। अतः असाधारण का भी ग्रहण हो जाता है। उपर्युक्त उभयविध व्यभिचार के समर्थन में चिन्नंभट्ट ने भासर्वज्ञमत को उद्धृत किया है 'तदुक्तं भासर्वज्ञेन हेतोरुभयत्रवृत्तिर्व्यभिचारस्तथोभयतो व्यावृत्तिरपि व्यभिचार एव'।[3]

(ख) अपि च, चिन्नंभट्ट ने बतलाया है कि न्यायविद्या में संशयादि पदार्थों का प्रमाणों तथा प्रमेयों से पृथक् कथन न्यायविद्या का अध्यात्मविद्या से भेद बतलाने के लिये किया गया है। अन्यथा उपनिषद् की तरह न्यायविद्या भी अध्यात्मविद्यामात्र हो जाती। संशयादि पदार्थों द्वारा ही न्यायविद्या से पृथक् प्रस्थापित होती है। इसके समर्थन के लिये उसने भासर्वज्ञ को प्रमाणरूप से उद्धृत किया है—'तस्मात् संशयादिभिः पदार्थैः (न्यायविद्या) पृथक् प्रस्थाप्यत इति भूषणेऽप्येतत्प्रतिपादितम्'।[4]

(ग) न्यायशब्द की अनुमानार्थपरकता का निर्देश करते हुए चिन्नंभट्ट ने कहा है—'नीयते ज्ञाप्यते विवक्षितोऽर्थो येनेति करणव्युत्पत्त्या न्यायोऽनुमानम्'।[5] अपने इस कथन के समर्थन में चिन्नंभट्ट ने भासर्वज्ञ के वक्तव्य को प्रमाण रूप में उपन्यस्त किया है—'अतः एवोक्तं भासर्वज्ञेनानुमाननिरूपणावसाने–' सोऽयं परमो न्याय ' इति '।[6]

(घ) अनुमान के दो साध्य होते हैं—(१) अग्निसामान्य और (२) पर्वतादिनिष्ठ अग्निविशेष। इस साध्यद्वय की सिद्धि के लिये अनुमान में सामर्थ्यद्वय होता है- व्याप्ति और पक्षधर्मता। व्याप्ति से सामान्यसाध्य की सिद्धि होती है और पक्षधर्मता के बल से अभिमत विशेष साध्य की सिद्धि। पूर्व न्यायाचार्यों को भी यह मान्य था, इसकी पुष्टि के लिये चिन्नंभट्ट भूषणकार भासर्वज्ञ को उद्धृत करते है—'अत एवाह भूषणकारः–बहिर्व्याप्त्यन्तर्व्याप्तिप्रसादादुभयसिद्धिरिति पूर्वाचार्याः'[7]

1. तर्कभाषाप्रकाशिका, पृ. १५६
2. वही
3. वही
4. तर्कभाषाप्रकाशिका, पृ. २०९
5. वही, पृ. ६८
6. वही
7. वही, पृ. १५०

अर्थात् पक्षबहिर्देश महानसादि में गृहीत अग्निसामान्य के साथ धूम की व्याप्ति के बल से अग्निसामान्य की सिद्धि होती है और पक्षान्तर्देश में उपलभ्यमान व्याप्ति से पक्षवृत्ति अग्निविशेष की सिद्धि।

(ड) व्याप्ति का स्पष्टीकरण करते हुए चिन्नंभट्ट ने कहा है कि व्याप्ति से व्याप्यव्यापकभाव बतलाना अभीष्ट है। व्याप्यव्यापकभाव दो प्रकार का होता है— अन्वयरूप और व्यतिरेकरूप। इस प्रसंग में चिन्नंभट्ट ने भूषणकार भासर्वज्ञ को उद्धृत करते हुए कहा है—'तथा च भूषणे भासर्वज्ञग्रन्थः। तत्र साधनसामान्यं व्याप्यं साध्यसामान्यं व्यापकमित्ययं व्याप्यव्यापकभावोऽन्वयः। साध्यसामान्यभावो व्याप्यः साधनसामान्याभावो व्यापक इत्ययं व्याप्यव्यापकभावो व्यतिरेकः।'[1]

किरणावलीकार उदयनाचार्य ने कर्म के गुणान्तर्भाव के लिये भासर्वज्ञ को साधुवाद दिया है—'तस्माद् वरं भूषणः कर्माणि गुणस्तल्लक्षणयोगात्'।[2]

भासर्वज्ञ ने सूत्रकारसरणि से विलग होकर मोक्ष में नित्यसुखाभिव्यक्ति मानी है। उनकी यह मान्यता भी परवर्ती ग्रन्थकारों की विशेष चर्चा का विषय बनी। वादिदेव सूरि कहते हैं—'भूषणोऽपि मोक्षे सुखतत्संवेदनसनाथमात्मानमातिष्ठमानोऽस्मदनुचर एव'।[3] अर्थात् मोक्षदशा में सुख व सुखज्ञानसहित आत्मा की स्थिति मानते हुए भूषणकार भासर्वज्ञ ने हमारे (जैन) मत को स्वीकार किया है, क्योंकि हम भी मोक्ष में आत्मा का सुख व सुखज्ञानयुक्त स्थिति मानते हैं।

तर्कभाषाप्रकाशिकाकार ने भासर्वज्ञ के कतिपय मतों का खण्डन भी किया है। प्रकरणसम हेत्वाभास नैयायिकों को मान्य है। भासर्वज्ञ के अनुसार स्वपक्ष तथा परपक्ष की सिद्धि में त्रिरूप हेतु प्रकरणसम हेत्वाभास कहलाता है।[4] परन्तु चिन्नंभट्ट को यह स्वीकार्य नहीं, अतः असहमति व्यक्त करते हुए कहते हैं—'स्वपरपक्षसिद्धावपि त्रिरूपो हेतुः प्रकरणसम इति भूषणकारो बभाषे तदसंभवि। एकस्य हेतोरुभयत्र त्रैरूप्यासंभवात्। तस्मात् प्रतिज्ञातार्थविपरीतार्थज्ञापकहेतुमान् हेतुः प्रकरणसमः'।[5]

तार्किकरक्षासारसंग्रह में वरदराज ने भी प्रकरणसम हेत्वाभास का भासर्वज्ञाभिमत लक्षण उदाहृत किया है—'एकदेशिनस्तु स्वपक्षपरपक्षसिद्धावपि त्रिरूपो हेतुः प्रकरणसम इति लक्षयन्ति उदाहरन्ति च'।[6] यहां 'एकदेशिनः' शब्द से भूषणकार भासर्वज्ञ ही अभिप्रेत है, जैसाकि तार्किकरक्षा के टीकाकार मल्लिनाथ ने 'अत्र भूषणोक्तं लक्षणं दूषयितुमनुभाषते'[7] इस कथन से स्पष्ट हो जाता है।

---

1 तर्कभाषाप्रकाशिका, पृ. १४२

2 किरणावली, पृ. १०४.

3. Thakur, A. L., Nyāyabhūṣaṇa—A Lost Work on Medieval Indian Logic, JBRS. Vol. XLV, p. 97, Footnote No. 51.

4. न्यायसार, पृ. ७.

5. तर्कभाषाप्रकाशिका, पृ. १५६.

6. तार्किकरक्षा, पृ. २२३.

7. वही, पृ. २२२–२२३.

भासर्वज्ञ ने प्रमाणसामान्य का लक्षण–'सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्'[1] यह किया है। इस प्रमाणलक्षण से ज्ञात होता है कि नैयायिकपरम्परा के अनुसार भासर्वज्ञ ने भी प्रमाण को ज्ञानरूप तथा ज्ञानभिन्नस्वरूप माना है। जैन दार्शनिक हेमचन्द्र ने वार्तिककारादि नैयायिकों के प्रमाणलक्षण का खण्डन करते हुए भासर्वज्ञोक्त प्रमाणलक्षण को उद्धृत कर यह कहा है कि इस लक्षण के अनुसार भी जिसके व्यापार के अव्यवहित काल में फलनिष्पत्ति हो, वह साधकतम अर्थात् साधन कहलाता है और ज्ञान के उत्तरकाल में ही प्रमारूप फल की निष्पत्ति होती है, अतः ज्ञान व अज्ञान दोनों प्रकार के प्रमाणसाधनों को प्रमाण न मानकर ज्ञान को ही प्रमाण मानना चाहिये।[2] स्याद्वादमंजरीकार श्री मल्लिषेण सूरि ने भी भासर्वज्ञ के प्रमाण-लक्षण में दोषोद्भावन करते हुए उनके मत को उद्धृत किया है। जैसे–'यदपि न्यायभूषणसूत्रकारेणोक्तं सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणमिति तत्रापि साधनग्रहणात् कर्तृकर्मनिरासेन करणस्यैव प्रमाणत्वं सिध्यति। तथाप्यव्यवहितफलत्वेन साधकतमत्वं ज्ञानस्यैवेति न तत्सम्यग् लक्षणम्। स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणमिति तु तात्त्विकं लक्षणम्'।[3] वस्तुस्थिति यह है कि जैन दार्शनिकों ने प्रमाण को एकान्ततः ज्ञानरूप माना है, परन्तु भासर्वज्ञ ऐसा नहीं मानते। आपेक्षिक दृष्टि से 'अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम्' इस वार्तिककारोक्त प्रमाणलक्षण से भासर्वज्ञोक्त प्रमाणलक्षण अधिक परिष्कृत है, क्योंकि वार्तिककारोक्त प्रमाणलक्षण अतिव्यापक है, उसमें कर्ता, कर्म तथा करण तीनों का समावेश हो जाता है। भासर्वज्ञोक्त प्रमाणलक्षण में साधन शब्द का प्रयोग होने के कारण प्रमाता और प्रमेय में उसकी अतिप्रसक्ति नहीं है। परन्तु एकान्ततः ज्ञानरूप न होने से जैन दार्शनिक उसे भी स्वीकार नहीं करते।

शुद्ध नैयायिक होने के कारण भासर्वज्ञ ने न्यायशास्त्र को वैशेषिकप्रभाव से मुक्त करने का प्रयास किया। उन्होंने न्यायभूषण में स्पष्ट घोषणा की है कि उनका उद्देश्य है–न्यायशास्त्र का व्याख्यान। अतः वैशेषिक–शास्त्र से न्यायशास्त्र का विरोध दोषजनक नहीं हो सकता।[4] पूर्ववर्ती न्यायाचार्यों द्वारा स्वीकृत तथा अन्य वैशेषिक–सिद्धान्तों का उन्होंने खण्डन किया है। परवर्ती अनेक वैशेषिक आचार्यों ने भासर्वज्ञकृत वैशेषिक-खण्डन का निराकरण किया है।

---

1. न्यायसार, पृ. १.

2. 'सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्' इत्यत्रापि साधनग्रहणात् कर्तृकर्मनिरासेन करणस्य प्रमाणत्वं सिध्यति, तथाप्यव्यवहितफलत्वेन साधकतमत्वं ज्ञानस्यैवेति तदेव प्रमाणत्वेनेष्टव्यम्।

—प्रमाणमीमांसा, पृ. ७.

3. स्याद्वादमंजरी, पृ. ५७.

4. न्यायशास्त्रं च व्याख्यातुं वयं प्रवृत्तास्तेनास्माकं वैशेषिकतन्त्रेण विरोधो न दोषाय।

—न्यायभूषण, पृ. १६३.

भासर्वज्ञ ने संख्या को पृथक् गुण न मानकर एकत्व को अभेदरूप तथा द्वित्वादि को भेदरूप बतलाया है। अतः मानमनोहरकार का कथन है कि संख्या को स्वीकार न करने के कारण भूषणमतानुसार अन्तःकरण में द्वित्व या बहुत्व संभावित नहीं होता—'भूषणस्य संख्यानभ्युपगमेन मनोगतत्वस्य दूरापास्तत्वात्।'[1]

न्यायलीलावतीकार श्रीमद्वल्लभाचार्य ने भी प्रस्तुत भासर्वज्ञमत के प्रति घोर विरोध प्रदर्शित करते हुए कहा है—'तदिदं चिरन्तनवैशेषिकमतदूषणं' भूषणकारस्य अतित्रपाकरम्। तदियमनाम्नातता भासर्वज्ञाचार्यस्य यदयमाचार्यमप्येवमन्यते। तथा च 'तदनुयायिनस्तात्पर्याचार्यस्य सिंहनादः संविदेव हि भगवती' इत्यादि।[2]

उदयनाचार्य ने भी किरणावली में संख्या के पृथग्गुणत्व की स्थापना करते हुए भासर्वज्ञमत का निराकरण किया है—'एतेन स्वरूपाभेद एकत्वं स्वरूपभेदस्तु नानात्वं द्वित्वमिति भूषणः प्रत्याख्यातः।' 'स्वरूपाभेदो हि घटस्य घट एवोच्यते। घटादिप्रत्ययस्य स्वरूपप्रत्ययस्य च घटाद्येकनिबन्धनत्वात् एकादिप्रत्ययस्य च घटपटादिसाधारणत्वात्, तथा च तन्निबन्धन एकादिप्रत्ययः तं विहाय पटं नोपसङ्क्रमेत्। एवं स्वरूपभेद एव यदि द्वित्वं तदा रूपादिष्वपि द्वित्वप्रत्ययः स्यात्, घटादावेव वा स्वरूपभेद इति पटादौ द्वित्वप्रत्ययो न स्यादिति।'[3]

भासर्वज्ञ विभाग को संयोगाभावरूप मानते हैं। विभागज विभाग भी उनको मान्य नहीं है। परवर्ती वैशेषिक आचार्यों ने भासर्वज्ञ की उपर्युक्त मान्यता का खण्डन किया है। वैशेषिकों के अनुसार हस्तकुड्यविभाग से शरीर कुड्यविभाग उत्पन्न होता है। विभागज विभाग को स्वीकार न करने पर हस्तकुड्यसंयोग का विनाश होने पर भी उत्तर विभागरूप कारण के अभाव में शरीरकुड्यसंयोग का विनाश नहीं होगा। भासर्वज्ञ की मान्यता है कि हस्तकुड्यसंयोग से भिन्न शरीरकुड्यसंयोग नामक कोई वस्तु नहीं है। यदि हस्तकुड्यसंयोगदर्शन से शरीरकुड्यसंयोग की कल्पना की जाती है तब फिर हस्तकर्मदर्शन से शरीर में कर्म की कल्पना क्यों नहीं की जाती? अतः भासर्वज्ञ का कथन है कि हस्तकुड्यसंयोग के नाश से ही शरीरकुड्यसंयोग का नाश हो जाता है, उसके नाश के लिये विभागज विभाग की कल्पना की आवश्यकता नहीं। भूषणकार की इस मान्यता को उद्धृत करते हुए न्यायलीलावतीकार ने कहा है–'तथा कारणाकारणजन्यविभागः। यथा अंगुलितरुविभागात् पाणितरुविभागः। नन्वत्र किं प्रमाणम्? विभक्तबुद्धिरिति चेत्, न, तदसिद्धेः। अन्यथा कर्मापि किं नांगुलिकर्मजं स्यादिति भूषणः'।[4]

1. मानमनोहर, पृ. २६
2. न्यायलीलावती, पृ. ४१
3. किरणावली, पृ. १२४
4. न्यायलीलावती, पृ. १२७

उदयनाचार्य ने भी किरणावली में विभागसम्बन्धी भासर्वज्ञमत का निराकरण करते हुए अन्त में कहा है–'व्यधिकरणमपि कर्मैव विनाशकमस्तु। न चातिप्रसंगः, आश्रयाश्रितपरम्परासंयोगस्यैव विनाश्यत्वात। न, विरोधिनः समानाधिकरणस्यैव विनाशकत्वमित्यत्र असति बाधके संकोचानुपपत्तिरिति भासर्वज्ञमतनिरासः।'[1] अर्थात् अंगुलिक्रिया अंगुल्यधिकरण में होने से अंगुलितरुसंयोग की नाशक हो सकती है, हस्ततरुसंयोग की नाशक नहीं। क्योंकि कर्मजन्य हस्ततरुसंयोग के प्रति अंगुलितरुसंयोग कारण नहीं और अकारण अंगुलितरुसंयोग हस्ततरुसंयोग का नाशक नहीं, क्योंकि समानाधिकरणवर्ती विरोधी ही अपने विरोधी का नाश कर सकता है इस नियम में संकोच का कारण न होने से अंगुल्यधिरण कर्म के द्वारा हस्ताधिकरण संयोग का नाश नहीं हो सकता। अतः विभागज विभाग मानना ही होगा।

भासर्वज्ञ ने कर्म का गुण में अन्तर्भाव किया है। उनके अनुसार व पचीसवां गुण है। वैसे कर्म का गुण में अन्तर्भाव भारतीय दार्शनिकों को अतिप्राचीनकाल से ज्ञात था। मण्डनमिश्र प्रणीत भावनाविवेक की टीका[2] में उम्बेक ने यह प्रमाणित किया है कि बादरि नामक मीमांसकवृद्ध ने इस मान्यता का समर्थन किया था। परन्तु न्यायलीलावतीकण्ठाभरण के रचयिता शंकर मिश्र,[3] न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीप्रकाश के रचयिता भट्ट दिनकर[4] और तार्किकरक्षानिष्कण्टका के प्रणेता मल्लिनाथ[5] ने कर्म के गुणान्तर्भाव को भूषणमत के रूप में बतलाया है, क्योंकि उनको भूषणकार के ग्रन्थ से ही इसका ज्ञान प्राप्त हुआ था। भट्ट वादीन्द्र ने भी रससार में भूषणकार के इस मत का उल्लेख किया है—'कर्म गुणः सामान्यवत्त्वे स्पर्शानाधारत्वे च सति द्रव्याश्रितत्वात्। सामान्यवत्त्वे सति कार्यानाधारत्वादित्यनुमानाच्च कर्म गुण इति न्यायभूषणकारः।'[6]

जैसाकि पहिले कहा जा चुका है कि वैशेषिक दार्शनिक आर्षज्ञान को योगिप्रत्यक्ष से भिन्न मानते हैं और भासर्वज्ञ ने आर्षज्ञान का योगिप्रत्यक्ष में अन्तर्भाव किया है। परवत वैशेषिक आचार्यों ने इस मान्यता का निराकरण किया है। मानमनोहरकार वादिवागीश्वराचार्य ने कहा है—'धर्मविशेषजत्वाद् योगिप्रत्यक्षान्तर्भूतमिति चेत्, न, धर्मविशेषजत्वासिद्धेः। धर्मविशेषमात्रजन्यत्वस्य व्यभिचारात्। अविनाभावनिरपेक्षः

1. किरणावली, पृ. १५१–१५२

2. द्रव्यगुणयोः श्रीबादरिणिम्नोर्यागकयरूपयोर्धातुवाच्यसंयोगविभागरूपक्रिययोः।

—भावनाविवेकटीका, पृ. ४२.

3. Nyāyabhūṣaṇa—A Lost Work on Medieval Indian Logic, — A. L. Thakur, JBRS, Vol. XLV, P. 94, Footnote No. 27

4. Ibid, Footnote No. 28

5. कर्मापि गुण इति भूषणः...। —तार्किकरक्षा, पृ. १४१.

6. रससार, पृ. ४.

सम्यक्परोक्षानुभवः आर्षः ।'[1] किरणावली में उदयन ने भी आर्षज्ञान के योगिप्रत्यक्षान्तर्भाव का खण्डन किया है—'न च योगिप्रत्यक्षत्वं, योगधर्माजन्यत्वात् । न च प्रकृष्टधर्मशब्दवाच्यत्वेन समानत्वम्, प्रकृष्टशब्दप्रवृत्तावेकनिमित्तविरहात ।'[2] उनका आशय यह है कि आर्षज्ञान को योगिप्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह योगजधर्मजन्य नहीं है । प्रकृष्टधर्मजन्यत्व आर्षप्रत्यक्ष व योगिप्रत्यक्ष दोनों में समानधर्म है, इससे भी योगिप्रत्यक्ष में आर्षप्रत्यक्ष का अन्तर्भाव संगत नहीं, क्योंकि दोनों में धर्म के प्रकर्ष का कारण एक नहीं, अपितु विभिन्न है । अतः दोनों में भेद मानना ही उचित है ।

भासर्वज्ञ ने अनध्यवसाय का संशय में अन्तर्भाव किया है । परवर्ती वैशेषिकों तथा वादिदेव सूरि आदि ने इस मान्यता का खण्डन किया है । वादिदेव ने भासर्वज्ञमत का निराकरण करते हुए कहा है—'नन्वयमनध्यवसायः संशयान्न विशिष्यते, विशेषानवधारणात्मकत्वादिति तु न तर्कणीयम्, स्वरूपभेदात् । अनवस्थितानेककोटिस्पर्शित्वं हि संशयस्य स्वरूपम् । सर्वथा कोट्यसंस्पर्शित्वं चानध्यवसायस्येति महाननयोर्भेद ।'[3] अर्थात् संशय में अनिश्चित अनेककोटिक ज्ञान होता है और अनध्यवसाय में कोई भी कोटि नहीं होती । अतः अनध्यवसाय का अन्तर्भाव संशय में नहीं हो सकता । न्यायलीलावतीकार श्रीवल्लभ ने भी अनध्यवसाय के संशयान्तर्भाव का खण्डन करते हुए कहा है—'तृतीये तु संशय एवायमिति भूषणः । नैवम् । सामान्यतोऽवगते जिज्ञासिते वाच्यविशेषे यदा किं शब्दाभिलापः तदानध्यवसायः । अव्यवस्थितनानावाचकवाच्यत्वप्रतिभासे तु संशयः ।'[4] अर्थात् असमुच्चित नानावस्तुविषयक ज्ञान अनध्यवसाय है, यह तृतीय विकल्प मानने पर अनध्यवसाय का संशय में अन्तर्भाव है, क्योंकि संशय में भी ऐसा ही ज्ञान होता है, ऐसा भूषणकार का कथन है, किन्तु वस्तुस्थिति ऐसा नहीं है । क्योंकि सामान्यतः ज्ञात तथा विशेषतः अज्ञात वस्तु में 'किमिदम्' इत्याकारक व्यवहार का विषय अनध्यवसाय होता है तथा 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस रूप से अव्यवस्थित नाना वस्तुओं की प्रतीति संशय है ।

उदयनाचार्य ने भी अनध्यवसाय की संशय से भिन्नता स्थापित की है—'अनुपलब्धसपक्षविपक्षसंस्पर्शस्य धर्मस्य दर्शनात् विशेषत उपलब्धानुपलब्धकोटिकं ज्ञानमनध्यवसायः । अत एवायं संशयाद्भिद्यते स ह्युपलब्धसपक्षविपक्षसंस्पर्शधर्मदर्शनादुत्पद्यते ।'[5] अर्थात् संशय में सपक्ष तथा विपक्ष उभयवृत्ति धर्मों की उपलब्धि होती है जबकि अनध्यवसाय में सपक्षविपक्षोभयवृत्ति धर्मों की उपलब्धि नहीं होती ।

---

1. मानमनोहर, पृ. ९०
2. किरणावली, पृ. २४६
3. Nyāyabhūṣaṇa—A Lost work on Medieval Indian Logic, —A. L. Thakur JBRS, Vol. XLV, P. 99. Footnote No. 71
4. न्यायलीलावती, पृ. ५७
5. किरणावली, पृ. १७८

अतः अनध्यवसाय संशय से भिन्न है। यद्यपि यहां किरणावलीकार ने भूषणकार का उल्लेख नहीं किया है, तथापि यहां भूषणकार के मत का ही खण्डन है, क्योंकि उन्होंने ही सर्वप्रथम अनध्यवसाय का संशय में अन्तर्भाव किया है।

वैशेषिक आचार्य वादिवागीश्वर ने तो भासर्वज्ञ से सहमति व्यक्त करते हुए कहा है-'विरुद्धकोटिसंस्पर्श्यनिश्चयः संशयः। विरुद्धकोट्यसंस्पर्श्यनिश्चयोऽनध्यवसायः। अस्माभिरप्यनवधारणत्वस्य संशयानध्यवसाययोरभ्युपगतेः। तेन चास्मदुक्तावान्तरभेदस्याभ्युपगतत्वाद् भासर्वज्ञेन सहास्माकं नास्ति विप्रतिपत्तिरिति नात्र प्रपंच्यते।'[1]

इसी प्रकार परवर्ती आचार्यों ने भूषणकार का परत्व-अपरत्व-सम्बन्धी मत भी उद्धृत किया है। न्यायलीलावतीकार कहते हैं-'न च परत्वापरत्वसिद्धिरपि। बहुतरतपनपरिस्पन्दान्तरितजन्मत्वेनैव तदुपपत्तेः। अन्यथा मध्यत्वस्यापि स्वीकारप्रसंगादिति भूषणः।'[2] अर्थात् भासर्वज्ञ ने परत्व-अपरत्व को क्रमशः पूर्वोत्पन्नत्व और पश्चादुत्पन्नत्वरूप माना है। इसका खण्डन करते हुए न्यायलीलावतीकार ने भूषणमत को उद्धृत किया है-'यत्तु भासर्वज्ञीयं मतं 'पूर्वोत्पन्नत्वं परत्वं' पश्चादुत्पन्नत्वमपरत्वमि'-ति तत्कणभक्षपक्षाक्षमामात्रविजृम्भितम्। पूर्वपश्चाद्भावस्य परत्वापरत्वातिरिक्तस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्।'[3] अर्थात् भासर्वज्ञ ने परत्व-अपरत्व को क्रमशः पूर्वोत्पन्नस्वरूप व पश्चादुत्पन्नत्वरूप मानकर परत्व-अपरत्व का जो निराकरण किया है उससे कणादमत के प्रति असहनशीलता ही व्यक्त होती है, क्योंकि परत्वअपरत्व से भिन्न पूर्वोत्पन्नत्व व पश्चादुत्पन्नत्व का कोई निर्वचन ही संभव नहीं है। अतः प्रकारान्तर से पूर्वोत्पन्नत्व व पश्चादुत्पन्नत्वरूप मानने पर भी परत्व-अपरत्व को मानना ही पड़ता है।

भासर्वज्ञ ने लक्षण, चिह्न तथा लिंग को पर्याय माना है। इसका खण्डन करते हुए उदयन ने कहा है-'यत्पुनराह भूषणो 'लक्षणं चिह्नं लिंगमिति पर्यायाः' इति तदसत्, व्यावृत्तौ व्यवहारे वा साध्येऽन्वयिनोऽनवकाशात्।'[4]

वेंकटनाथ ने तत्त्वमुक्ताकलाप तथा न्यायपरिशुद्धि में भूषणमत उद्धृत किया है—

'नित्याया एव बुद्धेः स्वयमभिदधतः केचिदद्रव्यभावम्।
सम्बन्धं धर्मतोऽस्याः कृतकमथयन् भूषणन्यायसक्ताः॥'[5]

'अत एव हि भूषणमते नित्यसुखसंवेदनसिद्धिरपवर्गे साधिता।'[6] आनन्दवर्धन ने भगवद्गीता की टीका में यह प्रतिपादित किया है कि भूषणमतानुसार अपवर्गप्राप्ति

1. मानमनोहर, पृ. ७८-७९
2. न्यायलीलावती, पृ. ३१
3. न्यायलीलावती, पृ. ५०
4. किरणावली, पृ. ३०
5. तत्त्वमुक्ताकलाप, पृ. ६५६
6. न्यायपरिशुद्धि, प्रथम भाग, पृ. १७

के लिये तत्त्वज्ञान और अभ्यास दोनों उपादेय हैं–'तथा चाक्षपादानामपि न्यायभूषणे तृतीये परिच्छेदे परमात्मतत्त्वज्ञानं च तदुपासनांगत्वेनापवर्गसाधनम् (३.१२३) इत्येतद् वाक्यविचारे तस्य परमेश्वरस्योपासनमाराधनम् — तस्यांगत्वेनोपायत्वेन केनचिदुपायेन क्लेशाः रागद्वेषमोहाः क्षीयन्ते महेश्वरविषयं चित्तैकाग्र्यं च प्राप्यते । स उपायः अनुष्ठीयमानः 'तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' (यो.सू. २।१)। क्लेशतनूकरणार्थः समाधिलाभार्थश्च इति विचारे कर्मणोऽङ्गित्वेन ज्ञानस्य च कर्मांगत्वेन स्पष्ट एव समुच्चयपक्षः' ।[1] आनन्दवर्धन ने यह भी उल्लेख किया है कि योगियों द्वारा स्वीकृत कायव्यूहसिद्धान्त न्यायभूषणकार को भी मान्य था—'कर्मभोगार्थं नानाशरीरस्थोऽप्यहमत्रैक एव न्यायभूषणोक्तयुक्त्या ।'[2] मानमनोहरकार वादिवागीश्वराचार्य ने भी भासर्वज्ञप्रतिपादित मुक्ति का वैशेषिकी मुक्ति से विरोध होने के कारण खण्डनार्थ भासर्वज्ञसम्मत मोक्षस्वरूप का उल्लेख किया है–'अत्र केचित् दुःखपरिहारार्थं ज्ञानसुखयोः पूर्वं विषयविषयिभावोऽनुपपन्नः पश्चादुत्पद्यत इति ब्रूयुः । तदसाम्प्रतम्, तत्सद्भावे प्रमाणाभावात् । यस्य लोके प्रसिद्धिः, तस्य प्रयोजकत्वमित्यपि दुर्घटमेव । नेह ज्ञानमस्ति, विषयविषयिभावो नास्तीति दृष्टपूर्वम्, ज्ञानस्य वाक्येनोत्पादकसामग्र्या एव वा तदुत्पादकत्वात् ।'[3] भासर्वज्ञ का मत है कि सुख तथा सुखज्ञान का सम्बन्ध संसारदशा में दुःखराशि के प्रतिबन्धक होने से नहीं हो पाता। जैसे, चक्षु तथा घट के होने पर भी भित्ति आदि के व्यवधान से उनका सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु मोक्षदशा में दुःखरूप प्रतिबन्धक का अभाव हो जाने से सुख व सुखज्ञान का विषयविषयिभाव सम्बन्ध बन जाता है। अतः मोक्ष में सुख तथा सुखज्ञान उपपन्न है। किन्तु भासर्वज्ञ का यह कथन संगत नहीं क्योंकि नित्य सुख के होने में कोई प्रमाण नहीं। नित्य सुख जब लोक में प्रसिद्ध नहीं है, तो वह मोक्ष का प्रयोजक कैसे हो सकता है? ज्ञान हो और उसका विषय के साथ विषयविषयिभाव सम्बन्ध न हो, ऐसा कहीं देखा नहीं गया है, क्योंकि ज्ञान की उत्पादक सामग्री ही विषयविषयिभाव सम्बन्ध की उत्पादिका है।

वादिदेव सूरि ने चक्षुरिन्द्रिय द्वारा अर्थप्रकाशन के विषय में भूषणमत उद्धृत किया है—'यत्तु भूषणेनावभासे कथमनुद्भूतरूपाणामर्थप्रकाशकत्वमिति चेत्, न, प्रदीपप्रकाशसंहितानां तदुपपत्तेः । अत एव येषामदृष्टसामर्थ्यादुद्भूतरूपा नायना रश्मय उत्पन्नास्तेषां बाह्यप्रकाशनिरपेक्षा एवार्थं प्रकाशयन्ति । यथा—नक्तंचराणाम् । तथा च केषांचित् नक्तंचराणां नायना रश्मयः प्रत्यक्षेण दृश्यन्ते ।'[4]

---

1. Nyāyabhūṣaṇa– A Lost Work on Medieval Indian Logic—A. L. Thakur, JBRS, Vol. XLV, p. 99, Footnote No. 71
2. Ibid, Foot note No. 72
3. मानमनोहर, पृ. १४३–१४४
4. Thakur, A. L.. Nyāyabhūṣaṇa—A Lost Work on Medieval Indian Logic, JBRS, Vol. XLV, p. 97, Footnote No. 57

वैशेषिकसूत्र की एक अज्ञातकर्तृक व्याख्या में भी भूषणमत उद्धृत है। प्राभाकर मीमांसक तथा भूषणकार गुणत्व को सामान्य के रूप में स्वीकार नहीं करते। इसीलिये उसने कहा है—'प्राभाकरन्यायभूषणकारादीनां गुणत्वासिद्धस्तदभावस्याप्रसिद्धत्वात्।'[1] उदयन ने तात्पर्यपरिशुद्धि में अधिकरणसिद्धान्त के लक्षणसूत्र की व्याख्या करते हुए यह सूचित किया है कि भूषणकार ने इसकी दो प्रकार से व्याख्या की है—'एतच्च भूषणप्रभृतयो द्विधा व्याचक्षते।'[2] किरणावलीप्रकाशकार ने भी भासर्वज्ञमत को उद्धृत किया है—'लक्षणस्य केवलव्यतिरेकित्वम् अविदुषा भूषणेन अन्वयव्यतिरेकित्वमभ्युपेत्यापादितं दूषणमुपन्यस्यति।'[3]

न्यायशास्त्र के विभिन्न पदार्थों पर प्रमुख नैयायिकों के मत उद्धृत करते हुए तार्किकरक्षाकार वरदराज ने भूषणमत का भी उल्लेख किया है। अविज्ञातार्थ निग्रहस्थान के प्रसंग में भूषणमत को उद्धृत करते हुए कहा है—'परिषदनुज्ञोपलक्षणं त्रिरभिधानमिति भूषणकारः।'[4] विपर्यास नामक निग्रहस्थानसम्बन्धी भूषणमत को भी उद्धृत किया है—'भूषणकारस्तु विपर्ययेणार्थप्रतीतिसम्भवादपशब्दवान्नियमकथायामेवैतन्निग्रहस्थानमिति मन्यते स्म।'[5]

उद्योतकर ने अप्रतिभा निग्रहस्थान का लक्षण करते हुए बतलाया है—'श्लोकादिपाठादिभिरवज्ञां दर्शयन्नोत्तरं प्रतिपद्यते इति तदप्रतिभानिग्रहस्थानं मूढत्वात्।'[6] भूषणकार ने यह माना है कि श्लोकादिपाठ करने पर अर्थान्तर, अपार्थकादि निग्रहस्थान की प्रसक्ति हो जायेगी। अतः तूष्णींभाव ही अप्रतिभा निग्रहस्थान है। प्रस्तुत भूषणमत को उद्धृत करते हुए तार्किकरक्षाकार ने कहा है—'भूषणकारादयस्तु श्लोकादिपाठे अर्थान्तरापार्थकादिप्रसंगात् तूष्णींभावमेवाप्रतिभानिग्रहस्थानमाहुः।'[7] मतानुज्ञा निग्रहस्थान के विषय में भी भूषणमत को उद्धृत किया है—'भूषणकारः पुनरेवं व्याख्यातवान् यस्तु स्वपक्षे दोषमनुद्धृत्य केवलं परपक्षे दोषं प्रसंजयति स तु परापादितदोषाभ्युपगमात् परमनुजानातीति मतानुज्ञया निगृह्यत इति।'[8] वरदराज ने तार्किकरक्षासारसंग्रह में मानसोल्लास से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं,

1. वैशेषिकदर्शन (मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९५७), पृ. ११
2. तात्पर्यपरिशुद्धि, १।१।३०
3. किरणावली प्रकाश, पृ. १९७
4. तार्किकरक्षा, पृ. ३३७
5. वही, पृ. ३४१
6. न्यायवार्तिक, ५।२।१८
7. तार्किकरक्षा, पृ. ३५१
8. वही, पृ. १५३

जिनमें भासर्वज्ञ तथा उनके मतानुयायी नैयायिकों को 'न्यायैकदेशी' संज्ञा से अभिहित किया गया है—

'प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतौ पुनः ॥७॥
अनुमानं च तच्चाथ सांख्याः शब्दं च ते अपि ।
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमनुमानं च केचन ॥८॥'[1]

न्यायैकदेशी के रूप में भासर्वज्ञ और उनके अनुयायी नैयायिक ही अभिप्रेत हैं, जैसाकि तार्किकरक्षानिष्कण्टका व्याख्या के प्रणेता मल्लिनाथ सूरि के 'न्यायैकदेशिनो भूषणीयाः—'[2] इस कथन से स्पष्ट है ।

जैन दार्शनिक वादिराज सूरि ने 'न्यायविनिश्चयविवरण' में अनेक स्थलों पर भासर्वज्ञमत उद्धृत किया है । उनके द्वारा उद्धृत सभी अंश प्रत्यक्ष से सम्बन्धित हैं । ज्ञान अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है, परन्तु वह स्वप्रकाशक नहीं होता । ज्ञान के स्वप्रकाशकत्व के विषय में संभावित आशंका का समाधान करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है कि जिस प्रकार अग्नि स्वयं को नहीं जलाती, भिन्न पदार्थ को जलाती है, दात्र (दांतरी) स्वयं को नहीं काटता, अपितु स्वभिन्न वस्तु को काटता है इसी प्रकार ज्ञान स्वयं को प्रकाशित न करने पर भी परप्रकाशकत्व रूप अपने स्वभाव से प्रच्युत नहीं होता । इस भासर्वज्ञमत को उद्धृत करते हुए वादिराज ने कहा है—'यदुक्तं भासर्वज्ञेन—स्वात्मावबोधकत्वाभावे कथमसौ बोधस्वभाव इति चेत् ?... स्वात्मदाहकत्वाभावेऽपि यथाऽग्निर्दहनस्वभावः, स्वात्मदारकत्वाभावेऽपि यथा दात्रादिकं दात्रादिस्वभावम् ।'[3] ज्ञान स्वप्रकाशक न होने पर अन्य वस्तुओं का प्रकाशन नहीं कर सकता—इस आपत्ति का भासर्वज्ञ ने समाधान किया है कि ज्ञान धूमादि लिंग की तरह अपने विषय को प्रकाशित नहीं करता, जिससे कि ज्ञान के ज्ञात न होने पर उससे विषय का ज्ञान न हो, अपितु ग्राह्यत्वेन उसको व्यवहारयोग्य बना देता है । अतः ज्ञान के अज्ञात होने से विषय में अज्ञाततापत्ति दोष नहीं । वादिराज ने भासर्वज्ञ के इस समाधान को उद्धृत किया है—'उक्तं तेनैव-तदप्रसिद्धौ विषयस्याप्यप्रसिद्धेरिति चेत् ?... किं कारणम् ? न हि तदुपलम्भ स्वविषयं लिंगवत् साधयति, येन तदप्रसिद्धौ विषयस्याप्यप्रसिद्धिः स्यात् । किं तर्हि ? तद्गृहीति (?) रूपतयोत्पादमात्रेण तं विषयं व्यवहारयोग्यं करोति । तदप्रसिद्धावपि विषयः प्रसिद्ध एवेत्युच्यत इति ।'[4]

भासर्वज्ञ का कथन है कि ज्ञान के उत्पन्न होने पर ही वस्तु का प्रत्यक्ष संभव है, पहिले नहीं । वादिराज सूरि ने भासर्वज्ञ के इस कथन को उद्धृत किया है—'यत् पुनरत्र तस्यैव वचनम्—उत्पादे हि सति पश्चादर्थदृष्टेः प्रत्यक्षत्वं युक्तम्, न पूर्वमेव ।'[5] प्रतिपक्ष की ओर से यह आपत्ति हो सकती है कि ज्ञान को स्वप्रकाश

1. तार्किकरक्षा, पृ. ५६
2. वही
3. न्यायविनिश्चयविवरण, प्रथम भाग, पृ. २१५
4. वही
5. वही

न मानने पर ईश्वरज्ञान की व्याख्या नहीं हो सकेगी। ईश्वर एक है और उसके ज्ञान के याथार्थ्य का अवधारण करने वाला दूसरा कोई नहीं है। ईश्वर को ज्ञान अज्ञात नहीं रह सकता। अज्ञात रहने पर उसकी सर्वज्ञता का हान हो जायेगा। इस आपत्ति से बचने के लिये भासर्वज्ञ ने तीन विकल्प दिये हैं। वादिराज सूरि ने उन तीनों विकल्पों को उद्धृत करते हुए कहा है—'भासर्वज्ञेन पक्षत्रयमुपन्यस्तम्-अनैकान्तिकत्वपरिहारार्थं परमेश्वरस्य ज्ञानद्वयमभ्युपगन्तव्यम्। तद्व्यतिरेकेण वा सर्वज्ञत्वम्। अनित्यत्वे सति इति वा हेतुविशेषणं कर्तव्यम्।[1] वादिराज ने इसे यों भी कहा है — अर्थ-ज्ञानं तदन्तरवेद्यम्, अनित्यत्वे सति वेद्यत्वात् कलशवत्। माहेश्वरे च ज्ञाने तद्विशिष्टस्य हेतोरभावात।'[2] नैयायिकों के अनुसार ज्ञान स्व-प्रकाश नहीं हैं, वह अर्थप्रकाशन में सहायता करता है। यहां प्रश्न होता है कि जब ज्ञान स्वयं ज्ञात नहीं है, तब यह कैसे निश्चय किया जाय कि इससे व्यवहार प्रवृत्त होता है। इस शंका के भासर्वज्ञोक्त समाधान को वादिराज ने उद्धृत किया है—'यदुक्तं भासर्वज्ञेन तदप्रवृत्तौ ततोऽमी व्यवहाराः प्रवृत्ता इति कुतोऽवगम इति चेत्-तद्व्यवहारदर्शनादेव अङ्कुरदुःखादिदर्शनाद् बीजाधर्मादिनिश्चयवत्।'[3] बौद्ध अवयवों से भिन्न अवयवी की सत्ता नहीं मानते। वादिदेव सूरि ने बौद्धमत के उपन्यास-रूप में धर्मकीर्ति के अवयविनिराकरणपरक—

'पाण्यादिकम्पे सर्वस्य कम्पप्राप्तेर्विरोधिनः।
एकस्मिन् कर्मणोऽयोगात् स्यात् पृथक्सिद्धिरन्यथा॥
एकस्य चावृत्तौ सर्वस्यावृत्तिः स्यादनावृत्तौ।
दृश्येत रक्ते चैकस्मिन् रागोऽरक्तस्य वाऽगतिः॥
नास्त्येकः समुदायोऽस्मादनेकत्वेऽपि पूर्ववत्।[4]

इन श्लोकों को उद्धृत कर बौद्धमत की स्थापना कर भासर्वज्ञ मतानुसार बौद्धमत का निराकरण करते हुए उसके मत का उल्लेख किया है—

'भासर्वज्ञस्य प्रत्यवस्थानम्-यत् तावन्नास्त्येकोऽवयवी, तस्य पाण्यादिकम्पे सर्वकम्पप्राप्तेरिति, तदयुक्तम्, व्याप्तेरप्रसिद्धत्वात, न हि यस्य पाण्यादिकम्पे सर्व-कम्पप्राप्तिस्तस्याभावः इत्येवं व्याप्तिः क्वचित् गृहीता। नापि यस्य सत्त्वं तस्य न पाण्यादिकम्पे सर्वकम्पप्राप्तिरित्येवं व्याप्तिः परेण दृष्टा। न च दृष्टान्ताभावे स्वपक्ष-सिद्धौ परपक्षनिराकरणे वा क्वचिद्धेतोः सामर्थ्यं दृष्टम्।'[5] इनसे अतिरिक्त अन्य दार्शनिकों ने भी भासर्वज्ञमत को उद्धृत किया है, परन्तु विस्तारभय से उनके उद्धरण यहां नहीं दिये जा रहे हैं।

1. न्यायविनिश्चयविवरण, प्रथम भाग, पृ. २२२
2. वही, पृ. २२१
3. वही, पृ. २२७
4. प्रमाणवार्तिक, का. ८६, ८७, ८८
5. न्यायविनिश्चयविवरण, प्रथम भाग, पृ. ३६८

परवर्ती दर्शनवाङ्मय पर भासर्वज्ञ के प्रभाव के परिज्ञानार्थ ये उद्धरण प्रबल प्रमाण हैं। तर्कभाषाप्रकाशिकाकार चिन्नंभट्ट आदि ग्रन्थकारों ने कतिपय विषयों के प्रतिपादन के पश्चात् भासर्वज्ञमत को प्रमाणत्वेन उपन्यस्त किया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे ग्रन्थकार भासर्वज्ञमत से प्रभावित हैं, उसे महत्त्वपूर्ण मानते हैं। जिन ग्रन्थकारों ने भासर्वज्ञमतों को केवल उद्धृत किया है, उससे भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भासर्वज्ञाचार्य एक प्रौढ़ दार्शनिक के रूप में उन्हें मान्य थे। इसीलिये भासर्वज्ञमत पर उन्होंने गम्भीरतापूर्वक विचार किया और अपने मतवादों की सुरक्षार्थ नये तर्कों की उद्भावना की। भासर्वज्ञकृत आलोचना से उन्हें अपने पूर्वपरीक्षित सिद्धान्तों पर पुनः अन्वीक्षण करने के लिये बाध्य होना पड़ा।

उपसंहार

भासर्वज्ञ न्यायदर्शन की प्राचीन तथा गंगेशोपाध्याय द्वारा प्रवर्तित नव्य इन दो धाराओं के मध्यकाल में हुए हैं। नव्यन्यायधारा का भासर्वज्ञ के समय तक प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। किन्तु न्यायदर्शन की प्राचीन धारा अर्थात् प्राचीन न्याय का भासर्वज्ञ के समय तक पर्याप्त विकास हो गया था। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन, वार्तिककार उद्योतकर, तात्पर्यटीकाकार दार्शनिक-सार्वभौम वाचस्पति मिश्र आदि ने अपनी वैदुष्यपूर्ण व सारगर्भित विवेचनाओं से इसका पर्याप्त विकास कर दिया था। किन्तु इन विद्वानों ने न्यायसूत्रकार गौतम के सूत्रों का क्रम अपनाकर तदनुसार ही न्यायदर्शन के पदार्थों का विवेचन किया. उनके विवेचन में न नवीन क्रम अपनाया और न उनके स्वरूप पर परम्परा से हटकर स्वतन्त्र समीक्षण किया। अर्थात् न्यायसूत्रकार गौतम ने प्रमाणप्रमेयादि पदार्थों का जो स्वरूप बतलाया था, उसी का व्याख्यान द्वारा विश्लेषण प्रस्तुत किया। इसका कारण यह भी हो सकता है कि वार्तिककार तथा तात्पर्य-टीकाकार व्याख्याकार होने के नाते न्यायभाष्य से बँधे हुए थे, अतः वे पदार्थों के विवेचन में वैज्ञानिक अभिनव क्रम नहीं अपना सकते थे और न पदार्थों पर स्वतन्त्रतया ऊहापोहात्मक विचार ही कर सकते थे। वे इतना ही कर सकते थे कि भाष्यकारीय सूत्रव्याख्यान में सूत्रार्थ का स्पष्टीकरण नहीं हुआ या कहीं अपव्याख्यान प्रतीत हुआ तो उसका संशोधन वे अपने व्याख्यान में प्रस्तुत कर दें। यद्यपि भासर्वज्ञ के पूर्ववर्ती न्यायमंजरीकार जयन्त भट्ट ने गौतमसूत्रों की व्याख्या करते हुए भी केवल सूत्रों की व्याख्या प्रस्तुत न कर स्वतन्त्र ऊहापोह भी किया, पर पूर्णतया नहीं।

इसी प्रकार समानतन्त्र वैशेषिक दर्शन के आवश्यक तत्त्वों का स्वीकार करना तो 'परमतप्रतिषिद्धमनुमतं भवति' इस न्याय के अनुसार आवश्यक था, क्योंकि उनका निरूपण न्यायदर्शन में नहीं किया गया है, तथा पे न्यायदर्शन पर वैशेषिकशास्त्र का इतना प्रभाव छा गया था कि वैशेषिक दर्शन के कतिपय तत्त्वों का ग्रहण उनके औचित्यानौचित्य पर कुछ भी विचार न कर अनावश्यक व असंगत होते हुए अन्धानुकरण के रूप में किया। भासर्वज्ञ ने सर्वप्रथम न्यायदर्शन के पदार्थों के विवेचन में सूत्रक्रम से भिन्न वैज्ञानिक क्रम अपनाया, उन तत्त्वों के स्वरूप पर स्वतन्त्र बुद्धि से विचार किया तथा आवश्यकतानुसार उनके स्वरूप में परिवर्तन भी। ऊह तथा अनध्यवसाय का संशय में अन्तर्भाव, प्रत्यक्षलक्षण में परिवर्तन, समवाय का यौक्तिक प्रत्यक्षता का प्रतिपादन, अनध्यवसित हेत्वाभास का स्वीकार, उपमान के पृथक् प्रामाण्य का निराकरण आदि इसके स्पष्ट निदर्शन हैं। इस प्रकार वैशेषिक दर्शन के अनुचित प्रभाव से न्यायदर्शन को मुक्त भी किया।

आनन्दसंवित्सहित दुःखात्यन्तनिवृत्तिरूप मोक्ष का स्वरूप-प्रतिपादन, कर्म का गुणान्तर्भाव, दिक् तथा काल के पृथक् द्रव्यत्व का अस्वीकार, अपरत्व, संख्या, वेग इन गुणों का अस्वीकार, स्नेह को घृतादि पृथिवी का गुण मानना आदि इसके उदाहरण हैं। न्यायदर्शन पर दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि बौद्धों के प्रहारों का प्रबल तर्कों से निराकरण भी भासर्वज्ञ ने किया। इस प्रकार न्यायदर्शन के शुद्ध स्वरूप को उन्होंने प्रतिष्ठित किया। प्रकृत शोधप्रबन्ध में प्रसंगतः भासर्वज्ञ की इन सभी विशेषताओं का विवेचन किया गया है। इस उपसंहार में उन्हीं विशेषताओं का संक्षेप से दिग्दर्शन कर इस शोधप्रबन्ध के निष्कर्ष तथा उपयोगिता को प्रस्तुत किया जा रहा है—

प्रमाणसामान्यलक्षणनिरूपणात्मक द्वितीय विमर्श में वैशेषिकों द्वारा पृथक्तया अविद्याभेदत्वेन स्वीकृत ऊह तथा अनध्यवसाय का अनवधारणात्मक ज्ञान होने से संशय में अन्तर्भाव बतलाया है। तर्कापरपर्यायत्वेन ऊह को नैयायिकों ने भी अप्रमा के संशय व विपर्यय भेदों से भिन्न माना है, किन्तु भासर्वज्ञ ने उसको संशय में अन्तर्भावित कर स्वतन्त्र विचारक होने का परिचय दिया है। इसी विमर्श में प्रमाणों के सम्प्लव व व्यवस्था दोनों का सोदाहरण प्रतिपादन करते हुए एकान्ततः व्यवस्थितप्रमाणवादी बौद्धों के मत का सयुक्तक निराकरण किया है और प्रमाणों की संख्या का निर्धारण करते हुए प्रमाणों की इयत्ता न मानने वाले चार्वाकसूत्रों के व्याख्याकार उद्भट के मत का भी सप्रमाण प्रत्याख्यान किया है। भासर्वज्ञ ने संशयनिरूपणपरक 'समानधर्मा...' इस सूत्र की भाष्यकार व वार्तिककारसम्मत व्याख्या में परिवर्तन कर उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की आवृत्ति मानकर उनको संशयविशेष का कारण माना और उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था को संशय का साधारण कारण मानकर पांचों प्रकार के संशय के लक्षण में उनका समावेश कर अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है।

वैशेषिकसम्मत स्वप्नज्ञान का भी विपर्यय, संशय, स्मृति तथा समीचीन ज्ञान में अन्तर्भाव कर पृथक्त्व निराकृत किया है। स्वप्नज्ञान का उपर्युक्त चारों में अन्तर्भाव इसलिये किया है कि कोई स्वप्नज्ञान विपर्ययात्मक, कोई संशयात्मक, कोई स्मरणात्मक तथा कोई अनुभवात्मक होता है। अतः स्वप्नज्ञान जिस प्रकार है, उसका उसी में अन्तर्भाव किया है। इसी विमर्श में भासर्वज्ञप्रतिपादित विभिन्न दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत अख्याति, असत्ख्याति आदि अष्टविध ख्यातियों के स्वरूप का भी स्पष्ट विश्लेषण हैं। यद्यपि ये अष्टविध ख्यातियाँ विभिन्न दार्शनिकों द्वारा अपने अपने शास्त्रों में प्रतिपादित थीं, किन्तु भासर्वज्ञ से पूर्व वाचस्पति आदि ने प्रायः पंचविध ख्यातियों का ही निरूपण किया है, सबका नहीं। भासर्वज्ञ ने ही अपने न्यायभूषण ग्रन्थ में सर्वप्रथम सब ख्यातियों का स्पष्ट विवेचन किया है।

'प्रत्यक्ष प्रमाण' नामक तृतीय विमर्श में भी भासर्वज्ञ द्वारा उद्भावित कितनी ही विशेषताओं का प्रतिपादन किया गया है। जैसे, सूत्रकारकृत 'इन्द्रियार्थ-

सन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्'[1] इस परम्पराप्राप्त प्रत्यक्ष लक्षण का निराकरण कर 'अपरोक्षत्वजातिमत्वम् प्रत्यक्षत्वम्' इस लक्षण का स्वीकार,[2] वार्तिककारमत का प्रत्याख्यान कर ज्ञानगत परोक्षत्व व अपरोक्षत्व जाति की स्थापना[3], वैशेषिकसम्मत आर्ष प्रत्यक्ष का प्रकृष्टधर्मजत्वरूप साधर्म्य के कारण योगिप्रत्यक्ष में अन्तर्भाव,[4] समवाय के परम्पराप्राप्त विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध से इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षत्व का निराकरण व उसके यौक्तिक प्रत्यक्ष की स्थापना[5], नामजात्यादि-सम्बन्ध के ग्राहक सविकल्पक प्रत्यक्षत्व-प्रतिपादन करते हुए भी नामजात्यादि के सम्बन्ध के इन्द्रियग्राह्य न होने से उसका अतीन्द्रियत्वप्रतिपादन। इसके अतिरिक्त नित्य आत्मा, आकाश आदि तथा अनित्य घटपटादि पदार्थों में अनुगत संयोग की परिभाषा का विवेचन, अज संयोग के विषय में भासर्वज्ञ से पूर्ववर्ती नैयायिकों की मान्यता का अनुसन्धान, शब्द का द्रव्यत्वनिराकरण, प्रत्यक्ष शब्द के व्युत्पत्तिविषयक बौद्धमत का निराकरण कर प्रत्यक्ष शब्द के व्युत्पत्त्यर्थ का प्रतिपादन आदि का भी इस विमर्श में समावेश किया गया है।

'अनुमान प्रमाण' नामक चतुर्थ विमर्श में 'अथ तत्पूर्वकमनुमानम्...,[6] इत्यादि सूत्र में भाष्यकार, वार्तिककार, जयन्त भट्टादि द्वारा प्रतिपादित 'तत्पूर्वकमनुमानम्' इस अनुमान-लक्षण का निराकरण कर सूत्र में 'अनुमानम्' पद ही 'अनुमीयतेऽनेनेति' व्युत्पत्ति द्वारा 'अनुमितिसाधनमनुमानम्' इस अनुमानलक्षण का प्रतिपादक है, इस भासर्वज्ञ-मत का प्रतिपादन कर भासर्वज्ञसम्मत 'सम्यगविनाभावेन परोक्षानुभवसाधनमनुमानम्'.[7] इस लक्षण का विवेचन, व्याप्तिस्वरूप, व्याप्तिग्राहक भूयोदर्शन का स्वरूप, अनुमान के दृष्ट, सामान्यतोदृष्ट तथा केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी, अन्वयव्यतिरेकी भेद, परार्थानुमान के प्रतिज्ञादि पांच अवयव, दृष्टान्ताभास तथा अनध्यवसितसहित असिद्धादि ६ हेत्वाभासों का स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस विमर्श में ही अनुमानलक्षण, व्याप्तिग्राहकभूयोदर्शन, षष्ठ अनध्यवसित हेत्वाभास, विरुद्धाव्यभिचारी हेत्वाभास आदि के विवेचन में भासर्वज्ञ की विशेषताओं का दिग्दर्शन है।

'कथानिरूपण तथा छल-जाति-निग्रहस्थाननिरूपण' नामक पंचम विमर्श में वाद, जल्प, वितण्डा कथाओं का निरूपण करते हुए यह बतलाया गया है कि भासर्वज्ञ ने परम्परा का परित्याग कर 'स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा' इस न्यायसूत्र में 'सः' पद से वाद और जल्प का ग्रहण कर वितण्डा कथा के वीतरागवितण्डा तथा विजिगीषु वितण्डा भेद से दो भेदों का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार वादकथारूप वीतराग कथा के भी सप्रतिपक्ष, अप्रतिपक्ष भेद से दो भेद बतलाये हैं और इन दो

1. न्यायसूत्र, १।१।४
2. द्रष्टव्य-शोधप्रबन्ध, पृ. ७४-७५
3. वही, पृ. ७३-७४
4. वही, पृ. १०१, १०२, १०३
5. वही, पृ. ९५-९८
6 न्यायसूत्र, १।१।५
7. न्यायसार, पृ. ५

भेदों में स्वकपोलकल्पितता का निराकरण करते हुए प्रमाण रूप में 'प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे'[1] इस न्यायसूत्र को उद्धृत किया है।

जातिनिरूपण में 'साधर्म्यं कार्यसमा इति' इस न्यायसूत्र में प्रतिपादित २४ जातिभेदों में प्रसगसम, प्रतिदृष्टान्तसम, संशयसम, प्रकरणसम, अर्थापत्तिसम, उपपत्तिसम, अनित्यसम, कार्यसम, इन आठ जाति-भेदों का न्यायसार में निरूपण नहीं किया, क्योंकि उनकी साधर्म्यसमादि के साथ समानता है तथा सभी जातिभेदों का निरूपण यहां अभीष्ट नहीं है। सूत्रकार ने दिग्दर्शनमात्र के लिये सूत्र में २४ भेदों का परिगणन किया है, सबका नहीं। और भी अनन्यसम, सम्प्रतिपत्तिसम, व्यवस्थासम आदि जातियां विद्यमान हैं जिनका सूत्र में परिगणन नहीं किया गया है, न उनका उदाहरण दिया गया है और न उसका निराकरण ही किया गया है।

निग्रहस्थानों के भी असंख्यात होने से सूत्रकार ने सूत्रों में तथा भासर्वज्ञ ने अपने न्यायसार में प्रतिज्ञाहीन आदि २२ निग्रहस्थानों का ही निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त असिद्ध, विरुद्ध आदि हेत्वाभासों का हेत्वाभासप्रकरण में प्रतिपादन कर ही दिया गया है। इनके निरूपण में धर्मकीर्ति की आशंकाओं के निराकरण को छोड़कर और किसी विशेषता का प्रतिपादन नहीं किया है।

'आगमप्रमाणनिरूपण' नामक षष्ठ विमर्श में सपदकृत्य आगमप्रमाण के लक्षण का निरूपण, दृष्टार्थ-अदृष्टार्थ भेद से आगम का द्वैविध्य, वेदों के प्रामाण्य में मीमांसकाभिमत अपौरुषेयत्व की कारणता का निराकरण कर ईश्वरप्रणीतत्व की कारणता का निरूपण, वर्णनित्यता का निराकरण, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव, ऐतिह्य व उपमान के पृथक् प्रामाण्य का निराकरण आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इस विमर्श में भी शब्दज्ञान तथा ज्ञायमान शब्द दोनों का शाब्द प्रमा का करण मानना,[2] उपमान के पृथक् प्रामाण्य का निराकरण, उपमान के पृथक् प्रमाण न होने पर भी उपमान-लक्षण का सूत्रकार द्वारा निरूपण शब्दप्रामाण्य की सिद्धि के लिये है. इस तथ्य का प्रतिपादन, उपमान प्रमाण के उद्देश, लक्षण तथा परीक्षाविषयक सूत्रों का अपने पक्ष में योजन आदि भासर्वज्ञ की विशेषताएं उल्लेखनीय हैं। इस विमर्श के अन्त में उपमान प्रमाण का निराकरण सूत्रसंगत नहीं है, इसका प्रदर्शनकर भासर्वज्ञमत की सप्रमाण समीक्षा भी की गयी है।

'प्रमेयनिरूपण' नामक सप्तम विमर्श में संक्षेप में प्रमेयविशेष का लक्षण, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ आदि द्वादश प्रमेयों का संक्षेप से निरूपण, अपवर्गोपयोगित्वेन द्वादश प्रमेयों का हेय, हेयहेतु, हान तथा हानोपाय इन चार भागों में विभाजन, आत्मसिद्धि, शरीर, इन्द्रिय आदि का आत्मत्वनिराकरण, आत्मविभुत्व, आत्मनित्यत्व का प्रतिपादन, परलोकोपयोगित्वेन अपरात्मा का स्वीकार तथा क्लेशनिवृत्ति द्वारा अपरात्मा की मोक्षांगता का प्रतिपादन, परमात्मा के अस्तित्व में प्रमाण तथा उपासनांगत्वेन उसकी मोक्षोपयोगिता का प्रतिपादन है।

1. न्यायसूत्र, ४।२।४९ 1. द्रष्टव्य-प्रस्तुत शोधप्रबन्ध, पृ. २६८

यहां भी न्यायसार में प्रमेयविशेष आत्मेन्द्रियादि का योगदर्शनरीति से हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय भेद से चातुर्विध्यविभाग तथा योगदर्शन और बौद्धदर्शन से भिन्न उनके स्वरूप का प्रतिपादन, अपरात्मा, परमात्मा दोनों को अपवर्गाङ्गता का प्रतिपादन, अपवर्गप्राप्ति के लिये योगदर्शनोक्त यमनियमादि अष्टांगों का उपाय रूप से प्रतिपादन तथा परमात्मा का शैव प्रत्यभिज्ञादर्शनानुकूल स्वरूपनिरूपण भासर्वज्ञ की विशेषताएँ हैं।

'अपवर्गनिरूपण' नामक अष्टम विमर्श में अपवर्ग का स्वरूपप्रतिपादन भासर्वज्ञ को सर्वोत्कृष्ट विशेषता है। प्राचीन समय में न्यायदर्शन आनन्दसंवित्विशिष्ट दुःखात्यन्ताभावरूप मुक्ति का मानने वाला था, न कि केवल दुःखात्यन्ताभावरूप मुक्ति को, जैसाकि उपलभ्यमान निम्न उक्तियों से सिद्ध है—

"दुःखहानाय नो युक्ता सुखदुःखात्मकं परम्।
न हि कश्चित् पदार्थज्ञो मोहासक्तौ प्रवर्तते॥
वरं वृन्दावनेऽरण्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम्।
न तु निर्विषयं मोक्षं गौतमो गन्तुमिच्छति॥
अत्यन्तनाशे गुणसंगतेर्या स्थितिर्नभावेत् कणभक्षपक्षे।
मुक्तिस्त्वदीये चरणाक्षपक्षे सानन्दसंवित्सहिता विमुक्तिः॥"

किन्तु उत्तरकाल में वैशेषिकशास्त्र के वर्धमान प्रभाव के कारण जैसे अन्य न्यायदर्शनाभिमत तत्त्वों का समावेश न्यायदर्शन में हो गया, उसी प्रकार आनन्दसंवित् का परित्याग कर केवल दुःखात्यन्ताभावरूप मुक्ति का ही प्रतिपादन किया। किन्तु भासर्वज्ञ ने सर्वप्रथम यह दुःखात्यन्ताभावरूप मुक्ति न्यायदर्शन को अभिमत है, इसका खण्डन कर आनन्दसंवित्सहित दुःखात्यन्ताभाव ही मुक्ति है, इस प्राचीन गौतमसमत सिद्धान्त का पुनरुज्जीवन व प्रतिष्ठापन किया। इस शोधप्रबन्ध में यह बतलाने का प्रयास किया गया है कि सूत्रकार ने वैशेषिकदर्शन की तरह कहीं भी मुक्ति में सकलात्मविशेषगुणोच्छेद का निरूपण नहीं किया, किन्तु 'बाधनालक्षणं दुःखम्'[1] इस सूत्र के द्वारा दुःख का स्वरूप बतलाकर 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः'[2] इस सूत्र के द्वारा उसके अत्यन्ताभाव को अपवर्ग बतलाया है, क्योंकि सम्यग् ज्ञान के द्वारा 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः'[3] इस सूत्र में प्रतिपादित मिथ्याज्ञानादि के अपाय के द्वारा दुःख का ही आत्यन्तिक उच्छेद होता है, आनन्द की प्राप्ति उससे नहीं होती। आनन्द स्वतःसिद्ध है, जो कि दुःखादिरूप प्रतिबन्धक के द्वारा संसारदशा में अभिव्यक्त नहीं रहा है, किन्तु सम्यग्ज्ञान द्वारा मिथ्याज्ञाननिवृत्तिक्रम से दुःखरूप प्रतिबन्धक का नाश होने पर उसकी अभिव्यक्ति मुक्तिदशा में हो जाती है। मुक्तिदशा में स्वतः सिद्ध आनन्द की ही अभिव्यक्ति होने से उसकी प्राप्ति सूत्र में निर्दिष्ट नहीं है।

1. न्यायसूत्र, १।१।२१ 1. न्यायसूत्र, १।१।२२ 2. १।१।२

'परवर्ती ग्रन्थकारों पर भासर्वज्ञ का प्रभाव' नामक नवम तथा अन्तिम विमर्श में यह बतलाया गया है कि उत्तरवर्ती दार्शनिकों ने भासर्वज्ञ के वैदुष्य तथा न्यायदर्शन की स्वतन्त्र समीक्षापद्धति से प्रभावित होकर अपने ग्रन्थों में अपने सिद्धान्तों के समर्थनार्थ या भासर्वज्ञ के सिद्धान्तों के प्रत्याख्यानार्थ तत्प्रतिपादित सामग्री को प्रचुरमात्रा में उद्धृत किया है। उन विद्वानों में न्याय, वैशेषिक तथा बौद्ध दर्शन सभी के विद्वान् हैं। इससे भासर्वज्ञ का प्रभावातिशय स्पष्ट प्रतीत होता है। चाहे खण्डनार्थ ही उल्लेख किया हो, तो भी वे उसकी उपेक्षा न कर सके।

उपलब्धि

इस शोधप्रबन्ध की प्रथम उपलब्धि यह है कि न्यायसार के समासतः सभी विषयों का विवेचनपूर्वक सम्यक् उपस्थापन है। ऐतिहासिक दृष्टि से भासर्वज्ञ के पूर्ववर्ती भाष्यकार, वार्तिककार, जयन्त भट्ट के तथा समानतन्त्रीय वैशेषिक विद्वान् प्रशस्तपादादि व बौद्ध दार्शनिकों के तत्तद्विषयसम्बन्धी विचार का प्रस्तवन द्वितीय उपलब्धि है। कितने ही स्थलों में भूषणसम्बन्धी समीक्षा का भी उल्लेख तथा स्पष्टीकरण इसकी तृतीय उपलब्धि है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं भासर्वज्ञमत की आलोचना जैसे, अनध्यवसित हेत्वाभास की पृथकता का निराकरण, उपमान-प्रमाणान्तर्भाव की सूत्रकारानभिमतता तथा आनन्दसंवित्सहित दुःखात्यन्तनिवृत्तिरूप भासर्वज्ञसम्मत मुक्ति न्यायदर्शन से विपरीत है इसका प्रतिपादन इस शोधप्रबन्ध की चतुर्थ उपलब्धि है।

न्यायदर्शन की अभिनव शैली से स्वतन्त्र विवेचना प्रस्तुत करने वाले इस ग्रन्थ पर, जहां तक कि मुझे विदित है, किसी ने भी समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया है। अतः यह शोधप्रबन्ध इस विषय पर भविष्य में समीक्षात्मक अध्ययन करने वालों के लिये किसी न किसी रूप में उपयोगी हो सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

इति शम्

सहायक ग्रन्थ-सूचि

	लेखक-नाम	पुस्तक-नाम	प्रकाशन-संस्था
१	अद्वैतब्रह्मसिद्धि	सदानन्द यति	परिमल पब्लिकेशन्स्, दिल्ही, अहमदाबाद, सन १९८१.
१अ	अमरकोश	अमरसिंह	श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सन् १९३०.
२	अर्थसङ्ग्रह	लौगाक्षि भास्कर	साहित्य-भण्डार, मेरठ, सन् २०२८.
३	ईशादिदशोपनिषत्संग्रह (श्वेताश्वतरोपनिषद् सहित)		निर्णयसागर मुद्रणालय, बम्बई, सन् १९३२.
४	ईशादिविंशोत्तरशतोपनिषद्		निर्णयसागर मुद्रणालय, बम्बई, सन् १९४८.
५	कात्यायनवार्तिक	कात्यायन	निर्णयसागर मुद्रणालय, बम्बई.
६	किरणावली	उदयनाचार्य	गायकवाद ओरियण्टल सीरीज, बडौदा, सन् १९७१.
७	किरणावली (किरणावलीप्रकाशसहित)	उदयनाचार्य	एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, सन् १९११.
७अ	कौलोपनिषद्		तान्त्रिक टेक्स्ट्स, कलकत्ता.
८	खण्डनखण्डखाद्य	श्री हर्ष	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सन् १९७०
९	गणकारिका (रत्नटीका सहित)	भासर्वज्ञ	गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बडौदा, सन् १९६६.
१०	गादाधरी	गदाधर भट्टाचार्य	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सन् १९२२
११	जैमिनिसूत्र	महर्षि जैमिनि	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, पूना, सन् १८९२.
१२	ज्ञानश्रीनिबन्धावलि	ज्ञानश्रीमित्र	काशीप्रसाद जायसवाल, रिसर्च इन्स्टीटयुट, पटना, सन् १९५९.
१३	तत्त्वचिन्तामणि	गंगेशोपाध्याय	केन्द्रीय संस्कृत-विद्यापीठ, तिरुपति, सन् १९७३
१३अ	तत्त्वचिन्तामणि	गंगेशोपाध्याय	एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता.
१४	तत्त्वप्रदीपिका चित्सुखी)	चित्सुखाचार्य	षड्दर्शन-प्रकाशन-प्रतिष्ठान, उदासीन संस्कृत विद्यालय, वाराणसी, सन् १९५६.
१५	तत्त्वमुक्ताकलाप	वेङ्कटनाथ देशिक	मेडिकल हाल, वाराणसी, १९००.

	लेखक-नाम	पुस्तक-नाम	प्रकाशन-संस्था
१६	तत्त्वसंग्रह	शान्तरक्षित	बौद्ध भारती ग्रन्थमाला, वाराणसी, सन् १९६८.
१७	तर्कभाषा	केशव मिश्र सम्पादक– प्रो. बदरीनाथ शुक्ल	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ही, सन् १९६८.
१८	तर्कभाषा	केशव मिश्र सम्पा. आचार्य विश्वेश्वर	काशी संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी, सन १९६३.
१९	तर्कभाषा	केशव मिश्र (सं. गजेन्द्रगडकर और करमरकर)	सर परशुरामभाउ कालेज, पूना, सन् १९३४.
२०	तर्कभाषा तर्कभाषा–प्रकाशिका सहित)	केशव मिश्र	बोम्बे संस्कृत खण्ड प्राकृत सीरीज नं. LXXXV सन् १९३७.
२१	तर्कसंग्रह	अन्नंभट्ट	मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली, सन् १९२४.
२२	तर्कामृत	जगदीश तर्कालङ्कार	गुजराती न्यूज मुद्रणयन्त्रालय, बम्बई, सन् १९२५
२३	तार्किकरक्षा	वरदराज	मेडिकल हाल, वाराणसी, सन् १९ ३.
२४	द्रव्यसंग्रह	आचार्य नेमिचन्द्र	श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, सन् ११६६.
२५	धर्मोत्तरप्रदीप (न्यायबिन्दु तथा न्यायबिन्दुटीकासहित)	दुर्वेक मिश्र सं.–पण्डित दलसुख भाई मालवणिया	काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीटयूट, पटना, सन् १९७१.
२६	नैषधीयचरित	श्रीहर्ष	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी सन् १९६७.
२७	न्यायकन्दली	श्रीधराचार्य	वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् १९६३.
२८	न्यायकुसुमाञ्जलि	उदयनाचार्य	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सन् १९५७.
२९	न्यायकोश	भीमाचार्य	पूना, १९२८.
३०	न्यायदर्शन		चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सन् १९७०.
३१	न्यायदर्शन (प्रथम भाग) (न्यायचतुर्ग्रन्थिका–समलङ्कृत)		मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, सन् १९६७.
३२	न्यायदर्शन (खद्योत, भाष्यचन्द्र सहित)		चौखम्बा संस्कत सीरीज, वाराणसी, सन् १९२५.
३३	न्यायदर्शन (२ भाग)		कलिकाता संस्कृत ग्रन्थमाला, कलकत्ता, सन् १९४४

	लेखक–नाम	पुस्तक–नाम	प्रकाशन–संस्था
३४	न्यायपरिचय	म.म.फणिभूषण तर्कवागीश । हिन्दी रूपान्तरकार–डो. किशोरनाथ झा	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९६८.
३५	न्यायपरिशुद्धि (प्रथम भाग)	वेङ्कटनाथ देशिक	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सन् १९१८.
३६	न्यायप्रवेश (भाग १)	दिङ्नाग	गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बडौदा, सन् १९६८
३७	न्यायबिन्दु- (धर्मोत्तरप्रणीत न्याय-बिन्दुटीका सहित)	धर्मकीर्ति	नूतन संस्कृत सीरीज, अकोला, सन् १९५२.
३८	न्यायभूषण	भासर्वज्ञ (सं. स्वामी योगीन्द्रानन्द)	षड्दर्शन–प्रकाशन–प्रतिष्ठान, उदासीन संस्कृत विद्यालय, वाराणसी, सन् १९६८.
३९	न्यायमञ्जरी	जयन्त भट्ट	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सन् १९६८.
३९अ	न्यायमञ्जरी-ग्रन्थिभङ्ग	चक्रधर	लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद, १९७२.
४०	न्यायरत्नद्युतिमालिका	नृसिंह्यज्वन्	मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियण्टल सीरीज, मद्रास, सन् १९५३.
४१	न्यायलीलावती	श्रीवल्लभाचार्य	निर्णयसागर मुद्रणालय, बम्बई, सन् १९२३.
४२	न्यायवार्तिक	उद्द्योतकर	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सन् १९१६.
४३	न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका	वाचस्पति मिश्र	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी सन् १९२५.
४४	न्यायविनिश्चयविवरण (दो भाग)	वादिराज सूरि	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९५४.
४५	न्यायसार	भासर्वज्ञ (सं. वी.पी.वैद्य)	निर्णयसागर मुद्रणयन्त्रालय, बम्बई, शक संवत् १८३२
४६	न्यायसार (न्यायसार-पदपञ्चिका सहित)	भासर्वज्ञ (सं. प्रो. देवधर)	ओरियण्टल बुक सप्लाइंग एजन्सी, पूना, सन् १९२२.
४७	न्यायसार (न्यायसार-पदपञ्चिकासहित)	भासर्वज्ञ (सं. साम्बशिव शास्त्री)	त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज, नं. CIX, सन् १९३१.

	लेखक-नाम	पुस्तक-नाम	प्रकाशन-संस्था
४८	न्यायसार (न्यायतात्पर्यदीपिका	भासर्वज्ञ (सं. प्रो. विद्याभूषण)	एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता, सन् १९१०.
४९	न्यायसार (न्यायमुक्तावली तथा न्यायकलानिधि सहित	भासर्वज्ञ	मद्रास गवर्नमेन्ट ओरियण्टल सीरीज, मद्रास, सन् १९६१.
५०	न्यायसारविचार	भट्ट राघव	श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत-विद्यापीठ, जम्मू, सन् १९७६.
५१	न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली	विश्वनाथ पंचानन	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, सन् १९७२.
५२	प्रकरणपञ्चिका	शालिकनाथ	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सन् १९०३.
५३	प्रमाणमीमांसा (स्वोपज्ञवृत्तिसहित)	हेमचन्द्र	तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, सन् १९७०.
५४	प्रमाणवार्तिक	धर्मकीर्ति	बौद्ध भारती ग्रन्थमाला, वाराणसी, सन १९६८.
५५	प्रमाणवार्तिकालङ्कार	प्रज्ञाकर गुप्त (सं. पण्डित दलसुख मालवणिया)	के. पी. जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना, सन् १९५३.
५६	प्रमाणसमुच्चय	दिङ्नाग	मैसुर युनिवर्सिटी, सन् १९३०.
५६अ	प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (परीक्षामुखसूत्रटीका)	प्रभाचन्द्र (सं. पं. महेन्द्र-कुमार शास्त्री)	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९४१.
५७	प्रशस्तपादभाष्य	प्रशस्तपाद	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सन् १९६६.
५८	प्रशस्तपादभाष्य (सूक्ति आदि टीका सहित)	प्रशस्तपाद	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सन् १९२४.
५९	पाणिनीय अष्टाध्यायी सूत्रपाठ		श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट ग्रन्थमाला सं. १३, अमृतसर, सन् १९५७.
६०	पातञ्जल योगदर्शन		श्री मदनलाल लक्ष्मीनिवास चण्डक, अजमेर, सन् १९६१.
६१	बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्यवार्तिक	सुरेश्वराचार्य	आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, पूना, सन् १८९४.

	लेचक-नाम	पुस्तक-नाम	प्रकाशन-संस्था
६२	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य		गोविन्दमठ, वाराणसी, वि. सं. २०२८.
६३	ब्रह्मसिद्धि	मण्डन मिश्र	मद्रास गवर्नमेन्ट ओरियण्टल मेन्युस्क्रिप्ट सीरीज नं. ४, सन् १९३७.
६४	भारती	सं. सूर्यनारायण शास्त्री और कुन्हन राजा	थियासोफिकल पब्लिशिंग हाउस, अड्यार, सन् १९३३.
६५	भारतीय दर्शन	बलदेव उपाध्याय	शारदा मन्दिर, वाराणसी, सन् १९६६
६६	भारतीय दर्शन परिचय (प्रथम और द्वितीय खण्ड)	प्रो. हरिमोहन झा	पुस्तकभण्डार, पटना, सन् १९६४.
६७	भारतीय दर्शन में अनुमान	डॉ. ब्रजनारायण शर्मा	मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, सन् १९७३.
६८	भारतीय दर्शनशास्त्र न्यायवैशेषिक	प्रो. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री	मोतीलाल बनारसीदास, सन् १९५३.
६९	भावनाविवेकटीका (प्रथम भाग)	भट्ट उम्बेक	सरस्वती भवन टेक्स्ट्स, वाराणसी, सन् १९२२.
७०	मनुस्मृति		श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, संवत् १९६७.
७१	महाभारत		श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई.
७२	माध्यमिककारिका	नागार्जुन	के. एल. मुखोपाध्याय, कलकत्ता, सन १९६२
७३	मानमनोहर	वादिवागीश्वर	षड्दर्शन-प्रकाशन-प्रतिष्ठान, वाराणसी, सन १९७३.
७४	मानमेयोदय	नारायण भट्ट	षड्दर्शन-प्रकाशन-प्रतिष्ठान, वाराणसी, सन १९७८.
७५	मीमांसादर्शन (शाबरभाष्यसहित)		चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सन १९१०.
७६	मीमांसाश्लोक-वार्तिक	कुमारिल	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सन १८९८.
७७	रत्नकीर्तिनिबन्धावलि	रत्नकीर्ति	के. पी. जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना, सन् १९७५.
७८	रसगंगाधर	पण्डितराज जगन्नाथ	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन १९१६.
७९	रससार	भट्ट वादीन्द्र	सरस्वती भवन टेक्स्ट्स, वाराणसी, सन १९२२.
८०	लक्षणावली	उदयनाचार्य	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, वि. सं. १९५५.

	लेखक-नाम	पुस्तक-नाम	प्रकाशन-संस्था
८१	वाक्यपदीय	भर्तृहरि	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सन १९३७
८२	वैशेषिक-दर्शन		चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सन १९६६.
८३	वैशेषिक-दर्शन (अज्ञातकर्तृकव्याख्या-संवलित)		मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, सन १९५७.
८३अ	वैशेषिकसूत्रोपस्कार	शंकरमिश्र	चौखम्बा, वाराणसी.
८४	शंकरदिग्विजय	विद्यारण्य	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, सन १९१५.
८५	श्लोकवार्तिक-व्याख्या (तात्पर्यटीका)	भट्ट उम्बेक	मद्रास विश्वविद्यालय, सन १९७१.
८६	षड्दर्शनसमुच्चय	मलधारी राजशेखर	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, बनारस.
८७	षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति	गुणरत्न	एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, सन १९०५.
८८	सप्तपदार्थी	शिवादित्य	एल. डी. इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद, सन १९६३.
८९	सर्वदर्शनसंग्रह	माधवाचार्य	आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, पूना, सन १९६६.
९०	स्याद्वादमञ्जरी	मल्लिषेणसूरि	भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, सन १९३३.
९१	सांख्यकारिका (सांख्यतत्त्वकौमुदी सहित)	ईश्वरकृष्ण	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन १९४०

ENGLISH BOOKS and ARTICLES

1. Bhattacharya, D. C. : History of Navya–Nyāya in Mithila, Mithila Research Institute, Darbhanga, 1958.
2. Chattopadhyay, D. P., Gangopadhyaya, M. K. : Nyāya Philosophy (5 parts), Indian Studies, Past & Present, Calcutta.
3. Dasgupta, S. N. : A History of Indian Philosophy (Vols. I–II), The Cambridge University Press, 1969.
4. Gaur, J. P. : History of Indian Epistemology, Minshiram Manoharlal, Delhi, 1956.
5. Kaviraj, Gopinath : Gleanings from the History and Bibliography of the Nyāya–Vaisesika Literature, Indian Studies, Past & Present, Calcatta, 1961.

6. Potter, Karl H. : The Encyclopedia of Indian Philosophies, Vol. II, Motilal Banarsidass, Delhi, 1977.

7. Radhakrishnan, S. : Indian Philosophy (Vol I & II), George Allen & Udwin, London.

8. Sanghavi, Sukhlal : Advanced Studies in Indian Logic & Metaphysics, Indian Studies, Past & Present. Calcutta, 1961.

9. Satkari, Mookerjee : The Buddhist Philosophy of Universal Flux, Motilal Banarasidass. Delhi, 1975.

10. Seal, B. N. : The Positive Sciences of the Ancient Hindus, Motilal Banarasidass, Varanasi, 1958.

11. Shastri, D. N. : Critique of Indian Realism, Bhartiya Vidya Prakashan, Delhi, 1976.

12. Thakur, A. L. ; Nyāyabhūṣaṇa – A lost work on Medieval Indian Logic. Article in the Journal of the Bihar Research Society. Volume XLV, January-December, 1959.

13. —— : Peep in the less-known Nyāya Authors and Works, Article in A. D. Pusalker Commemoration, Volume, 1975.

14. Thakur, A. L. : Uddyotakar as a Vaiśeṣika, Paper pub. in Proceedings and Transactions of A.I.O.C., Fifteenth Session, 1949.

15. —— : Perception in Nyāya Philosophy, Bharat Manisha Quarterly, Vol. I, 1975.

16. —— : Viśvarūpa the Naiyāyika. The Journal of Oriental Research, Vol. XXVIII, 1958-59, Madras.

17. Vidyabhusana, S. C. : A History of Indian Logic, Motilal Banarasidass, Varanasi, 1971.

शुद्धिपत्रक

पन्ना	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२	कल	काल
६	१२	आः	अतः
८	१५	भासर्वज्ञनने	भासर्वज्ञने
१२	११	मैं	में
१६	३	गणकारिक	गणकारिका
१६	१३	न्थांयवार्तिक	न्यायवार्तिक
२१	८	प्रभाणम्	प्रमाणम्
२१	१८	सयोजन	संयोजन
२४	२२	असाधा ण	असाधारण
२७	९	वि द्ध	विरुद्ध
२९	२३	अनुपलब्मिात्र	अनुपलब्धिमात्र
३१	६	ए्क	एक
३६	१३	दुखजन्म	दुःखजन्म
४३	१५	मे·	में
४७	१४	समीचीन	समीचीन
५१	१९	किय	किया
६७	९	नहाँ	नहीं
६८	२	इत्यायारक	इत्याकारक
७३	१२	प्रमाणसमुच्य	प्रमाणसमुच्चय
७८	२४	सविक पक	सविकल्पक
७९	१	श दार्थ	शब्दार्थ
८०	५	ताद त्म्य	तादात्म्य
८५	१	अतिरिक्ति	अतिरिक्त
८५	१५	दृष्ठ	दृष्ट
९४	७	केवलान्वया	केवलान्वयी
१००	९	ब्राह्यणत्व	ब्राह्मणत्व
१०२	५	ि श्व	विश्व
१०८	४	सामान्यक्त्वे	सामान्यवत्वे

पन्ना	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११३	१५	पक्षत्रयैकदेवृत्ति	पक्षत्रयैकदेशवृत्ति
११७	२२	‹क्षविपक्ष	पक्षत्रिपक्ष
१२६	१३	दिङ्नाग	दिङ्नाग
१२७	२२	शंङ्का	शङ्का
१२८	२	है	है,
१३०	८	परिष्कार	परिष्कार
१३९	८	धर्मतोपदर्शनं	धर्मतोपदर्शनं
१४२	४	है	हैं
१५०	१६	–पपन्नश्यछ	–पपन्नछल
१५१	११	निगृह्णीयात	निगृह्णीयात्
१६७	२५	त्रैकाल्यासिद्धे	त्रैकाल्यासिद्धेः
१७०	१७	धर्मापपत्तरवि	धर्मोपपत्तेरबि
१७४	१०	प्र षेधाभावः	प्रतिषेधाभावः
१८९	२३	ि थते	स्थिते
१९२	१६	चक्षुरिन्द्रय	चक्षुरिन्द्रिय
२०२	१६	कर्योक	कर्योकि
	१७	दसरे	दूसरे
२०३	२३	।क	कि
२२०	७	समप्रवर्तते	सप्रवर्तते
२३३	२५	पक्ष सद्धावपि	पक्षसिद्धावपि
२३४	२३	बैशेपिक	वैशेषिक
२३३	२	चातिप्रसग:	चातिप्रसंग:
	११	पचीसबां	पचीसवां
२३७	२४	का	की
		धमो की	धर्मों की